उभरते भारतीय समाज में
शिक्षक और शिक्षा

प्रारंभिक शिक्षक-प्रशिक्षण पाठ्यपुस्तक माला

उभरते भारतीय समाज में शिक्षक और शिक्षा

मूल लेखक

सलामतुल्ला — मनीति दत्त — एस आर एड्के

आर के गुप्ता — कमला अरोड़ा — एस आर चिलाना

रवि कान्ता चोपडा

सम्पादक

रवि कान्ता चोपडा

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

जनवरी 1991
माघ 1912

PD 5T–GR

प्रकाशन सहयोग

*सी.एन. राव, **अध्यक्ष, प्रकाशन विभाग***

*प्रभाकर द्विवेदी **मुख्य सम्पादक***	*यू. प्रभाकर राव **मुख्य उत्पादन अधिकारी***
*आर एस. सक्सेना **सम्पादक***	*सुरेन्द्रकान्त शर्मा **उत्पादन अधिकारी***
*गोबिन्द राम **सम्पादन सहायक***	*टी.टी. श्रीनिवासन **सहायक उत्पादन अधिकारी***

आवरण : शान्तो दत्त एवं सी पी टण्डन

मूल्य : रु० 24.00

प्रकाशन विभाग से सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित तथा न्यू एज प्रिंटिंग प्रेस, 5-ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली - 110055 में मुद्रित।

प्राक्कथन

राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् (एन.सी.टी.ई.) ने अपने ''अध्यापक शिक्षा पाठ्यक्रम-एक रूपरेखा'' नामक प्रकाशन में सिफारिश की थी कि ''उभरते भारतीय समाज में शिक्षक और शिक्षा'' को शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में एक सैद्धान्तिक विषय के रूप में पढ़ाया जाए। इस नये विषय पर मूलतः अंग्रेजी भाषा में ''टीचर एण्ड एजुकेशन इन दी एमरजिंग इण्डियन सोसाइटी'' नाम से पाठ्यपुस्तक तैयार की गई थी। तदोपरान्त यह आवश्यक समझा गया कि उक्त पुस्तक का हिंदी में भी अनुवाद किया जाए ताकि हिंदी-भाषी राज्यों की प्रारंभिक शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाएं, जिनमें शिक्षा का माध्यम हिंदी है, इसका उपयोग कर सकें। इस नई पुस्तक में उभरते भारतीय समाज की विशेषताओं और आवश्यकताओं की चर्चा की गई है। साथ ही इस संदर्भ में शिक्षकों की भूमिका का भी निरूपण किया गया है। शिक्षा के बुनियादी दार्शनिक एवं सामाजिक सिद्धांतों का संबंध उभरते समाज की अवस्थाओं के साथ जुड़ा होने के कारण इस विषय का प्रतिपादन कुछ अलग ढंग से किया गया है।

इस पुस्तक की रचना एक विशिष्ट परियोजना-दल के निम्नलिखित सदस्यों के सहयोग से हुई है :

1. प्रो. सलामतुल्ला, भूतपूर्व प्राचार्य, जामिया मिलिया इस्लामिया, दिल्ली।
2. प्रो. (कु.) सुनीति दत्त, भूतपूर्व प्राचार्या, केन्द्रीय शिक्षा संस्थान, दिल्ली।
3. डा. (श्रीमती) एम.आर. एडके, प्रवक्ता, आदर्श बहुपाठ्यक्रम शिक्षा महाविद्यालय, पुणे।
4. श्री आर.के. गुप्ता, **प्रवाचक, एन.सी.ई.आर.टी.।**
5. डा. एम.आर. चिलाना, प्रवाचक, एन.सी.ई.आर.टी.।
6. डा. (श्रीमती) कमला अरोड़ा, प्रवाचक, एन.सी.ई.आर.टी.।
7. डा. (श्रीमती) रवि कान्ता चोपड़ा, प्रवाचक, एन.सी.ई.आर.टी.।

पुस्तक की रचना में सक्रिय सहयोग प्रदान करने वाले इन सभी विषय-विशेषज्ञों के प्रति मैं विशेष रूप से आभारी हूँ।

प्रो. सुनीति दत्त ने इस पुस्तक की अंग्रेजी पाण्डुलिपि की समीक्षा करके इसका संपादन किया है।

इस पुस्तक का हिंदी अनुवाद श्री हरीश्वर प्रसाद सिन्हा, अनुसंधान सहायक, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग (मानव संसाधन विकास मंत्रालय) ने तथा पुनरीक्षण श्री शरदेन्दु, भूतपूर्व सहायक सम्पादक 'हिन्दुस्तान दैनिक' ने किया है। इसके लिए हम इनके आभारी हैं।

डा. (श्रीमती) रविकान्ता चोपड़ा, प्रवाचक, अध्यापक शिक्षा, विशेष शिक्षा एवं विस्तार सेवा विभाग ने बड़े मनोयोग से पुस्तक के हिंदी अनुवाद के संपादन तथा संयोजन का कार्य किया है। जिस समय इस पुस्तक को प्रकाशन के लिए भेजा जा रहा था उस समय राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) एवं

कार्यक्रम के क्रियान्वयन (प्रोग्राम ऑफ ऐक्शन) हेतु दस्तावेज प्रकाशित हो चुके थे। अत: प्रारंभिक शिक्षा संबंधी नीति के निहितार्थों को उन्होंने विभिन्न अध्यायों में उचित ढग से समाविष्ट कर लिया है। इसके लिए वे प्रशंसा की विशेष अधिकारी है।

प्रो. अशोक कुमार शर्मा, अध्यक्ष, अध्यापक शिक्षा, विशेष शिक्षा एवं विस्तार सेवा विभाग ने इस कार्य को पूरा करने में महत्वपूर्ण अकादमिक भूमिका निभाई है। उनके प्रति मैं आभार ज्ञापित करता हूँ।

आशा है कि यह पाठ्यपुस्तक प्रारंभिक शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओ के प्रशिक्षको एवं प्रशिक्षार्थियों के लिए लाभकारी सिद्ध होगी। पुस्तक का उपयोग करने वाले शिक्षक प्रशिक्षकों के सुधार सबंधी सुझावो का परिषद् स्वागत करेगी।

डा. के. गोपालन
निदेशक
**राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्**

नई दिल्ली

प्रस्तावना

इस पुस्तक की रचना राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद (एन.सी.टी.ई.) की सिफारिशों के आधार पर की गई है। यह पुस्तक अपनी विषय वस्तु और प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से शिक्षा-शास्त्र के दार्शनिक पक्ष, इसके समाज-शास्त्रीय पक्ष तथा भारतीय शिक्षा की समस्याओं पर उपलब्ध वर्तमान साहित्य से अलग हट कर है। साथ ही इस पुस्तक में भारतीय समाज की वर्तमान और भावी स्थितियों के संदर्भ में इस विषय से संबंधित क्षेत्रों के प्रासंगिक पहलुओं पर भी चर्चा की गई है।

पुस्तक के प्रारंभ में उभरते भारतीय समाज के राष्ट्रीय ध्येयों तथा मूल्यों और भारतीय सामाजिक परिप्रेक्ष्य में शिक्षा के लक्ष्यों का वर्णन किया गया है। इसमें भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक परंपरा, उसकी दुर्बलताओं और असमानताओं का विश्लेषण किया गया है। इसमें सामाजिक परिवर्तन की संकल्पना और दिशाओं के साथ-साथ सामाजिक परिवर्तन के एक साधन के रूप में शिक्षा की भूमिका पर भी चर्चा की गई है। प्रारंभिक शिक्षा की संवृद्धि और विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए और समाज की आवश्यकताओं और मांगों की पूर्ति में शिक्षक और शिक्षा की भूमिका पर बल दिया गया है। इसमें विद्यालय और समुदाय के बीच के विभिन्न संबंधों और उन संबंधों को दृढ़ करने में शिक्षक की भूमिका पर भी प्रकाश डाला गया है।

इस पुस्तक के विभिन्न अध्यायों में राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) एवं कार्यक्रम के क्रियान्वयन (प्रोग्राम ऑफ ऐक्शन) से संबंधित उपलब्ध दस्तावेजों में उल्लिखित प्रारंभिक शिक्षा से जुड़े हुए पहलुओं व आयामों का समुचित ढंग से समावेश किया गया है।

इस पुस्तक के हिन्दी अनुवाद के संपादन एवं संयोजन का कार्य हमारे विभाग की डा. (श्रीमती) रविकान्ता चोपड़ा, प्रवाचक ने अथक उत्साह, परिश्रम एवं लगन से किया है। संपादन के कार्य में उन्हें परिषद के सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग के डा. सुरेश पाण्डेय, प्रवाचक से बहुमूल्य सुझाव मिले हैं।

आशा है कि यह पुस्तक शिक्षक प्रशिक्षकों और शिक्षक प्रशिक्षार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। जिन शिक्षक प्रशिक्षकों और शिक्षक प्रशिक्षार्थियों ने इस पुस्तक का पठन-पाठन किया है उनके सुधार संबंधी सुझावों का हम स्वागत करेंगे।

अशोक कुमार शर्मा
विभागाध्यक्ष
अध्यापक शिक्षा, विशेष
शिक्षा एवं विस्तार सेवा विभाग

नई दिल्ली,
दिसंबर 1988

गांधी जी का जन्तर

तुम्हें एक जन्तर देता हूं। जब भी तुम्हें सन्देह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आजमाओ:

जो सबसे गरीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुंचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा? यानि क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा जिनके पेट भूखे है और आत्मा अतृप्त है?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा सन्देह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

विषय-सूची

भूमिका

इस पुस्तक के लेखक होने के नाते हमारी यह अभिलाषा रही है कि *उभरते भारतीय समाज मे शिक्षक और शिक्षा* विषय पर हम आपसे आमने-सामने बातचीत करते क्योंकि सीखने और सिखाने का और एक दूसरे को समझने-समझाने का यही एक सर्वोत्तम उपाय है। अध्यापन-अधिगम एक दुतरफा प्रक्रिया होती है। किंतु इस समय हमारे लिए आपसे आमने-सामने बैठकर संपर्क कर पाना व्यावहारिक दृष्टि से संभव नहीं है, अतः इस पुस्तक में हम उन संभावनाओं को आधार बनाकर एक परिचर्चा कर रहे हैं जो आपसे आमने-सामने होने की स्थिति में हमें आपकी प्रतिक्रिया-स्वरूप प्राप्त हुई होतीं।

प्रारंभ में ही आपके मन मे ये प्रश्न उठ सकते हैं. मुझे इस चर्चा से क्या लाभ होगा? किसी शिक्षक को इस विषय मे रुचि क्यो हो? हम समझते है कि आपका इन सुसंगत प्रश्नों को पूछना एकदम उचित है। प्रथम तो हर बात को *क्यो, क्या, कब, कहाँ* और *कैसे* समझने के लिए शिक्षक मे एक जिज्ञासु मन और प्रश्न करनेवाली मनोवृत्ति होनी चाहिए तथा पर्याप्त छानबीन के बिना किसी बात को स्वीकार करके संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए; और दूसरे, ये प्रश्न स्वयं मे जटिल जान पडते है।

फिर भी यदि इन व्यापक किंतु जटिल प्रश्नो को निम्नलिखित छोटे-छोटे प्रश्नो में बांट दिया जाए तो इसका उत्तर सरलता से दिया जा सकता है। जैसे—

कोई व्यक्ति उभरते भारतीय समाज को किस दृष्टिकोण से देख सकता है?

यह समाज किस प्रकार है?

क्या एसे समाज के निर्माण मे शिक्षा सहायक हो सकती है?

यदि सहायक हो सकती है तो उसे इसकी पूर्ति के लिए किस प्रकार प्रयास करना चाहिए? इस संबंध मे शिक्षक क्या कुछ कर सकता है?

शिक्षक होने के नाते आप उन कुछ संकेतको का पता अवश्य लगा सकते है जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भविष्य मे उभरने वाले भारतीय समाज का स्वरूप कैसा होगा। इसके अतिरिक्त इसके लिए आप समय-समय पर राष्ट्र मे घटने वाली घटनाओं का अध्ययन करने वाले विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विश्वसनीय प्रमाणों पर भी ध्यान दे सकते हैं। हो सकता है, आप यह सोचे कि उभरते समाज के खास-खास लक्षणों के बारे मे सभी एकमत न भी हों। पर इस बात पर अधिक सहमति हो सकती है कि उभरते समाज को भारतीय जनता की आकांक्षाओ और हितो को प्रतिबिंबित करने वाला होना चाहिए। इस प्रकार के समाज का संकेत भारतीय संविधान की प्रस्तावना मे किया गया है, जिसके अनुसार हमारे समाज को एक लोकतांत्रिक, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष समाज बनना है। इससे उस दिशा का भी पता चलता है जिस दिशा मे आगे बढ़ने के लिए राज्य वचनबद्ध है। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह इस प्रकार के अपेक्षित समाज की स्थापना के लिए प्रयास करे।

शिक्षक, भावी शिक्षक अथवा भारत के एक साधारण नागरिक होने के नाते आप देश की

वर्तमान दशा से तो परिचित है ही। सभव है कि देश की जैसी स्थिति है उससे आप पूरी तरह से सतुष्ट हों। संभव है, राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में भारत ने जो प्रगति की है उसे देख-देख कर आपका मन उछाले लेने लगता हो। या यह भी सभव है कि आप वर्तमान स्थिति से असतुष्ट हो जिसमें कहीं-न-कहीं आपको कुछ खटकता हो। ऐसी स्थिति में आप स्वयं एक विशेष ढंग से स्थिति में परिवर्तन लाना चाहेगे। हो सकता है, आप यह अनुभव करे कि राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक अथवा शैक्षिक व्यवस्थाएँ ठीक नहीं हैं और कोई एक या सभी व्यवस्थाएँ सभी लोगो के लिए विकास के समान अवसर प्रदान नही करतीं। सभव है कि आप स्वय वर्तमान दशा के सताए हुए हों। हर स्थिति में आपसे यह आशा की जाती है कि आप अपने आसपास के विशेष रूप से आर्थिक एव सामाजिक क्षेत्रों में रह रहे लोगो के दुःख-दर्दो से अवश्य परिचित होंगे। हो सकता है, आपके आसपास कुछ ऐसे लोग भी रहते हो जिन्हे एक जून पेटभर खाना भी नसीब न होता हो। आप हरिजनों अथवा अस्पृश्यो से भी परिचित होंगे जिन्हे उच्च जाति के कुछ लोग हेय दृष्टि से देखते हैं और उनके साथ निर्मम व्यवहार भी करते हैं। आप इस बात से भी परिचित होगे कि अधिकाश बच्चो को स्कूली शिक्षा का लाभ उठाने का अवसर नहीं मिलता। इनमे से अधिकाश बच्चो का नाम स्कूल में नहीं लिखाया जाता, कुछ अनियमित रूप से विद्यालय में जाते है और शेष बच्चे बहुत शीघ्र बीच में ही पढाई छोड देते है और पुन. निरक्षर हो जाते है।

अभी तो हम यह मान लेते है कि आप इन सभी स्थितियों से परिचित है और इनमे सुधार लाना चाहते है। ऐसी स्थिति मे हम सोचते है कि 'उभरते भारतीय समाज का क्या स्वरूप है' – इस प्रश्न पर चर्चा में आपको दिलचस्पी होगी।

लोकतत्र, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता के भिन्न-भिन्न अर्थ मिलते हैं और उसके बारे में परस्पर-विरोधी विचार भी प्रकट किए जाते रहे है। फिर भी इस बात पर एक आम राय यह है कि भारत को लोकतात्रिक, समाजवादी एवं धर्म-निरपेक्ष समाज की स्थापना के लक्ष्य की ओर आगे बढना है। अत: एक राष्ट्र के रूप में हमे वर्तमान भारतीय समाज की सरचना मे ऐसे परिवर्तन लाने के लिए पूरी शक्ति लगानी है जिससे कि सभी लोगो को सामाजिक न्याय, अवसर-समता, स्वतंत्रता और खुशहाली मिले। ये ही उसकी मूल आवश्यकताएँ है।

प्रथम प्रश्न के उत्तर से अन्य प्रश्न उठ सकते हैं। जैसे, क्या इस समाज के विकास मे शिक्षा को कोई भूमिका निभानी है? यदि इसका उत्तर 'हाँ' मे हो तो वह कौन-सी भूमिका है? शिक्षा इस भूमिका को किस प्रकार निभा सकती है? आइए, अब हम एक-एक करके इन प्रश्नों के उत्तर मालूम करने का प्रयास करे।

जैसा कि आप अच्छी तरह से जानते है, शिक्षा राज्य की राजनैतिक शक्ति से नियत्रित होती है। यह राजनैतिक शक्ति वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का दर्पण है जिसकी सुरक्षा, देख-रेख और जिसे प्रबल बनाने का काम शिक्षा करती है। इस तरह शिक्षा और सामाजिक व्यवस्था एक-दूसरे पर निर्भर है और एक-दूसरे को सुदृढ बनाती है। तथापि शिक्षा की अपनी सीमाएँ हैं और वह कुछ ही कार्य कर सकती है। उदाहरणार्थ, शिक्षा वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की प्रमुख दुर्बलताओ का निदान कर सकती है, अपेक्षित समाज की एक संकल्पना प्रस्तुत कर सकती है, वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से अपेक्षित सामाजिक व्यवस्था में किए जाने वाले परिवर्तनों की सभावित प्रक्रिया बता सकती है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह उन सामाजिक शक्तियों के हाथो को और मजबूत बना

सकती है जो समाज के अपेक्षित रूपातरण के लिए संघर्षशील है।

भारतीय संविधान में भी वर्तमान समाज को लोकतांत्रिक, समाजवादी एवं धर्मनिरपेक्ष समाज मे रूपांतरित करने की भावना सन्निहित होने के कारण हमारे देश मे शिक्षा के लिए अपनी पर्वोल्लिखित भूमिका निभाना अपक्षाकृत सरल है। भले ही शिक्षा स्वयं पहल करने और सामाजिक रूपातरण लाने की स्थिति में न हो, फिर भी वह निश्चय ही उन सामाजिक और राजनैतिक शक्तियों के हाथ मजबूत कर सकती है जो अपेक्षित परिवर्तन लाने के लिए प्रयत्नशील है।

अत समाज का अभिन्न अग होने के नाते विद्यालय को एक ओर तो अपेक्षित परिवर्तन लाने के लिए कार्य कर रही शक्तियो का पता लगाना है, दूसरी ओर उसे इस कार्य की पूर्ति के मार्ग मे बाधक तत्वों का भी विश्लेषण करना है। इस प्रकार प्राप्त जानकारी और अतर्दृष्टि के प्रकाश मे विद्यालय छात्रों की वर्तमान पीढी को सामाजिक रूपातरण हेतु आवश्यक सामाजिक संघर्ष के लिए तैयार कर सकता है। विद्यालय के लिए यह क्षम्य नही है कि वह तटस्थता की आड लेकर एक ओर बैठ जाए और अपनी उदासीनता और निष्क्रियता को उचित ठहराए। साथ ही दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि सामाजिक सरचना मे क्रातिकारी परिवर्तन लाने मे उसे अपनी शक्ति को बहुत अधिक नहीं आँकना चाहिए। विद्यालय के लिए उचित यही होगा कि वह रूपातरण के कार्य मे लगी अन्य सामाजिक शक्तियों का साथ दे।

साराश मे, शिक्षा नई पीढी मे सामाजिक रूपांतरण की आवश्यकता और उसे प्राप्त करने के ढग के प्रति चेतना बढ़ाने मे उपयोगी भूमिका निभा सकती है। हमने जिस सामाजिक परिवर्तन का सकल्प लिया है और जिसे हमने राजनैतिक साधनो द्वारा लागू किया है उसे पूरा करने और सुदृढ करने मे भी शिक्षा को अपनी भूमिका निभानी है। यहाँ राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 से एक उद्धरण देना प्रासगिक होगा

मानव इतिहास के आदिकाल से ही शिक्षा का विविध भाँति सतत विकास तथा विस्तार होता रहा है। प्रत्येक देश अपनी अनूठी सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान की अभिव्यक्ति तथा सवृद्धि के लिए और समय की चुनौतियों का सामना करने के लिए अपनी विशिष्ट शिक्षा प्रणाली विकसित करता है।

समाज के अपेक्षित रूपातरण मे शिक्षक की क्या भूमिका होनी चाहिए, इस अतिम प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए शिक्षा के कार्य क्षेत्र और उसकी सीमाओं के बारे मे जो कुछ भी कहा जा चुका है, उससे आप स्वय अपने निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

एक प्रबुद्ध नागरिक होने के नाते शिक्षक वर्तमान समाज की सरचना का खुलकर छिद्रान्वेषण कर सकता है। शोषक वर्गों का प्रभुत्व, शोषित वर्गों के लिए रहन-सहन की दशा में सुधार के अवसरो का अभाव, सपत्ति के वास्तविक उत्पादकों (जैसे खेत तथा कारखानों में काम करने वाले मजदूर) और सपत्ति के हर्त्ताओ (जैसे खेत तथा कारखानों के मालिक)के बीच अमानवीय सबध आदि मुद्दो पर वह खुलकर अपने विचार व्यक्त कर सकता है। यदि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रतिबद्ध है तो शिक्षक विद्यालय में जो कुछ भी करता है, उसके अतिरिक्त अपने आसपास के लोगों में सामाजिक चेतना जगाकर अपने प्रभाव-क्षेत्र मे उसे आगे बढाने का प्रयास कर सकता है। व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से शिक्षकों का यह न्यायसगत अधिकार है कि वे अपेक्षित सामाजिक परिवर्तन लाने के सबंध में जनमत तैयार कर सरकारी

नीतियों को प्रभावित करें। देश के नागरिक होने के नाते इसके लिए वे प्रेस तथा प्रचार-प्रसार के अन्य उपलब्ध माध्यमो का उपयोग कर सकते है।

इस कार्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षकों के संगठन, किसान सभा, ट्रेड यूनियन आदि जैसे जन-सगठनों और ग्राम पचायत, सहकारी एवं कल्याण समितियो जैसी लोकाभिमुखी संस्थाओं से सक्रिय सहयोग प्राप्त करने की कोशिश करे।

व्यक्तिगत रूप से भी शिक्षक औपचारिक शिक्षा व्यवस्था के द्वारा युवा-पीढ़ी को और अनौपचारिक शिक्षा के माध्यम से प्रौढों को बर्तमान भारतीय समाज की सरचना मे आवश्यक परिवर्तनो के बारे में अपने विचारो से अवगत कराकर उन्हें प्रभावित कर सकते है।

प्रस्तुत पुस्तक में हमने पूर्व अनुच्छेदों मे उल्लिखित विषयों पर व्यापक दृष्टि से विचार करने का प्रयास किया है।

यह पाठ्यपुस्तक उन लोगो के लिए लिखी गई है जो बच्चो के शिक्षण के लिए प्रारंभिक विद्यालय में काम करने के लिए उत्सुक है। इस पुस्तक में भारत में आज की शिक्षा को प्रभावित करने वाली सामाजिक शक्तियों के विवेचन पर विशेष रूप से चर्चा की गई है। इस में गतिशील भारतीय समाज में शिक्षा के मूल उद्देश्यो तथा उन परिवर्तनों का विवेचन किया गया है जिनके शिक्षा में आमतौर से और प्रारम्भिक शिक्षा में विशेष रूप से घटने की सम्भावना है। इस प्रकार जब शैक्षिक कार्यक्रम सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हो तभी शिक्षा को समाज की उपलब्धि माना जा सकता है। किन्तु उसे एक और कठिन भूमिका भी निभानी है। यह आशा की जाती है कि वर्तमान समाज की दशा में सुधार और परिवर्तन लाने में शिक्षा को एक कारक के रूप मे काम करना चाहिए। समाज के प्रति शिक्षा की यह दुहरी भूमिका है। इन दोनों भूमिकाओं का समान महत्व है, अत: समाज की वृद्धि और विकास मे दोनो की ही महत्वपूर्ण सार्थकता है।

इस पुस्तक के शुरू के अध्यायों मे जिन विषयो पर सक्षेप मे चर्चा की गई है उन विषयों पर बाद वाले अध्यायो में फिर अधिक विस्तार से चर्चा की गई है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि एक ही बात को दोहराया जा रहा है। वस्तुत: यह विधि जानबूझकर यह दर्शाने के लिए अपनाई गई है कि सामाजिक विषयों और शैक्षिक समस्याओ पर की जाने वाली चर्चाओं का विश्लेषण और जाच-परख यदि विस्तृत ढग से की जाए तो ये बातें बढ़ती उम्र के बच्चों को अच्छी तरह से समझ मे आ सकती हैं।

इस पूरी पुस्तक में निम्नलिखित बातों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है.

- भारत के गांवो और शहरों मे व्याप्त गरीबी जिससे शिक्षा में पिछडापन आता है और सामाजिक-आर्थिक हानि होती है।
- भारतीय जनता के कुछ वर्गों मे व्याप्त पूर्वाग्रह जिनसे राष्ट्रीय एकता में फूट और दुर्बलता की प्रवृत्ति पैदा होती है।
- बच्चो एव युवाओ के एक बडे भाग द्वारा शैक्षिक अवसरो का लाभ उठाने का प्रतिरोध जिससे हमारी शिक्षा-सुविधाएँ अधिक बरबाद होती है।

इन तीनो बातो का पुस्तक मे निरंतर उल्लेख है। ऐसा इसलिए किया गया है क्योंकि शिक्षकों और आप जैसे भावी शिक्षको का ध्यान निम्नलिखित बातों की ओर खींचना आवश्यक है

- अपनी विविध किन्तु नई एव परिवर्तनशील भूमिकाओं को समझना,
- समाज द्वारा आपको सौंपे गए इस महान सामाजिक दायित्व को अनुभव करना,
- शिक्षक होने के नाते और शिक्षक समुदाय का सदस्य होने के नाते भी आपको समाज

द्वारा अपेक्षित आशाओ की जानकारी होना, और

— शिक्षक के रूप में दृढ़ विश्वास के साथ अपने कार्य की दिशा का निश्चय करना।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 मे इस तथ्य पर गभीरता से प्रकाश डाला गया है : "*किसी समाज में अध्यापक का दर्जा उसके सामाजिक—सांस्कृतिक लोकाचार को प्रतिबिम्बित करता है। कहा गया है कि कोई भी राष्ट्र अपने अध्यापकों के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता है।*"

इस पुस्तक को तीन खंडों मे बाँटा गया है—प्रथम खंड, द्वितीय खंड और तृतीय खंड। इन खंडों में क्रमशः "भारतीय समाज", "शिक्षा के सम्मुख चुनौतियाँ" और "प्रारंभिक विद्यालयी व्यवस्था में शिक्षक" के बारे में चर्चा की गई है। प्रत्येक खड मे दो या तीन अध्याय है और प्रत्येक अध्याय में एक व्यापक शैक्षिक विषय पर विशेष चर्चा की गई है। अध्याय को इकाइयो के रूप में बाँटकर प्रत्येक विषय के विभिन्न पहलुओ पर विस्तृत चर्चा की गई है। यदि आवश्यक समझे तो आप इन खंडों के क्रम में फेर-बदल कर सकते हैं क्योंकि आपमें से कुछ लोग दूसरे खड को पहले पढना चाहेगे जबकि अन्य लोग इस खंड को बाद में पढ़ना पसन्द करेंगे। इस पुस्तक के अध्ययन मे खडो मे फेर-बदल करना संभव है और ऐसा करने से इन खडो में उल्लिखित तथ्यों की प्रभाव-क्षमता में कोई कमी नहीं आएगी।

प्रत्येक इकाई मे उल्लिखित मुख्य बातो को अलग से एक सक्षिप्त विवरण के रूप में अंत मे दिया गया है। आप इन विषयों को कितना समझ पाए है, इसकी जॉच करने के लिए प्रत्येक इकाई के अत मे दत्तकार्य के रूप में विचिंतन प्रश्न दिए गए है।

हमें आशा है कि इस पुस्तक में प्रतिपादित तथा प्रस्तुत विचार आपको उभरते भारतीय समाज के विभिन्न पहलुओं की दिलचस्प अन्तर्दृष्टि प्रदान करेंगे। इससे आपमें कक्षा में बहतर काय करन के लिए आवश्यक शैक्षिक विचार तो परिपक्व होंगे ही, साथ ही सामाजिक रूपानरण के एजेण्ट के रूप मे अपनी भमिका को भी अधिक भली प्रकार से समझ सकेंगे।

प्रथम खंड

भारतीय समाज

समाज प्राय: उन व्यक्तियों के समूह को कहते हैं जो एक सरकारी व्यवस्था से जुडे होते है, जो एक क्षेत्र विशेष में रहते है और जो आपसी सबंधों में भागीदार होते है। कुछ आदर्शो से निर्देशित होने के कारण प्रत्येक समाज की अपनी कुछ विचारधाराएँ और मूल्य होते है। अपने विचारो को अभिव्यक्त करने और इन मूल्यो को अपने सदस्यो के मन मे बैठाने के लिए समाज को क्रियात्मक एव सरचनात्मक दोनो ही काम करने होते हैं। सामाजिक कार्य परिवार, धार्मिक सस्थाओ, विद्यालय, अन्य सामाजिक एजेन्सियों और विभिन्न सामाजिक संगठनो द्वारा, जो उसकी संरचना के घटक होते है, चेतनापूर्वक निर्देशित होते हैं। भारतीय समाज को अधिक अच्छी तरह से समझने के लिए उसकी आदर्श सामाजिक आवश्यकताओं और वास्तविक आवश्यकताओ का अध्ययन करना अनिवार्य है।

इस पुस्तक के प्रथम खंड को, जिसमे भारतीय समाज के बारे मे चर्चा की गयी है, दो अध्यायो मे बाँट दिया गया है। पहले अध्याय में संविधान की प्रस्तावना मे निहित सामाजिक दर्शन के अनुरूप **स्वातंत्र्योत्तर** *भारतीय समाज के राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक सिद्धांतों के संदर्भ मे उभरते भारतीय समाज की चर्चा की गई है। दूसरे अध्याय मे आर्थिक, सामाजिक तथा शैक्षिक क्षेत्रो में महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों के संदर्भ मे भारतीय समाज के समकालीन परिदृश्य की दो दृष्टिकोणों से चर्चा की गई है: एक ओर आधुनिक काल की वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक (टैक्नोलॉजीकल) प्रगति की अपेक्षाएँ और दूसरी ओर सांस्कृतिक अतीत से उत्तराधिकार में मिली परम्पराओ का उस पर प्रभाव।*

पहला अध्याय

स्वतंत्र भारत : उभरता भारतीय समाज

पहले अध्याय को चार इकाइयों में बाँटा गया है जिससे कि उभरते भारतीय समाज के सभी पक्षों पर विस्तृत चर्चा की जा सके। इकाई 1.1 में स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय भारत की राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था के दयनीय चित्र को दर्शाया गया है जिससे जीवन के सभी संभव क्षेत्रों में भविष्य को बेहतर बनाने का संकल्प लिया गया है। इकाई 1.2 में जिसके अंतर्गत उपइकाइयाँ 1.2.1, 1.2.2 और 1.2.3 भी हैं, संविधान में प्रस्तुत लोकतांत्रिक, समाजवादी एवं धर्मनिरपेक्ष आदर्शों के रूप में राष्ट्रीय लक्ष्यों का उल्लेख है। इन आदर्शों को ध्यान में रखकर उपइकाई 1.2.4 में संविधान में निर्धारित नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों का पुनरीक्षण किया गया है। इकाई 1.3 में सामाजिक दर्शन के अनुरूप समाज द्वारा पोषित मूल्यों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। इकाई 1.4 में उभरते भारतीय समाज पर गांधीवादी मूल्यों के प्रभाव की चर्चा की गई है।

इकाई 1.1 स्वतंत्र भारत और उसकी आकांक्षाएँ

15 अगस्त 1947 को भारत ने राष्ट्र-समूह में एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अपना स्थान ग्रहण किया। 14 अगस्त की मध्य-रात्रि को भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड माउन्टबेटन ने भारत की स्वतंत्रता की घोषणा की। यह दिन 1857 (महान भारतीय सैनिक क्रांति के समय) से चली आ रही स्वाधीनता की लंबी लड़ाई के बाद आया। इस अवधि में भारत के अनेक महान देशभक्तों ने अपने देश को विदेशी शासन से मुक्त कराने में घोर यातनाएँ सहीं तथा हँसते-हँसते फाँसी का फंदा चूम लिया। ऐसा उन्होंने इसलिए किया ताकि देश की जनता वर्तमान सामाजिक परिवेश तथा अतीत की सांस्कृतिक परम्परा में सन्निहित अपने जीवन के ध्येयों एवं पोषित मूल्यों के अनुरूप अपने भविष्य के बारे में निर्णय ले सके तथा तदनुसार उसे ढाल सके।

आपको इसकी सुखद स्मृति होगी कि भारत की स्वतंत्रता के कुछ पूर्व 1944 में द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद अफ्रीका और एशिया के सभी दुर्बल राष्ट्रों में राष्ट्रीयता की प्रबल भावना भी जागृत हुई। परिणामस्वरूप अनेक नए एवं स्वतंत्र राष्ट्रों ने जन्म लिया जिससे वे आत्मसम्मान एवं प्रतिष्ठा के साथ जी सकें। आप सभी इस बात से परिचित हैं कि आज भी विश्व के अनेक भागों में स्वतंत्रता की लड़ाई जारी है।

यद्यपि भारत अगस्त 1947 में स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उभरकर सामने आया तथापि इसका इतिहास पाँच हजार वर्ष से अधिक पुराना है। भारत विश्व की एक प्राचीन सभ्यता का केन्द्र रहा है। इसका 2500 वर्षों का ज्ञात इतिहास इसके महान अतीत का प्रमाण है। बाद में विदेशी आक्रमणों से इसे आघात लगते गए। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में इस युगांतरकारी घटना को, अर्थात 1947 के वर्ष की घटना को, जो पूर्व-स्वाधीनता युग से एक नए, गुंजायमान और स्पन्दनशील स्वतंत्र भारत को अलग करती है, किस प्रकार चित्रित किया जाए!

जिस वर्ष भारत ने एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में जन्म लिया, द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण यह विश्व काफी हद तक बुरी तरह से क्षत-विक्षत हो चुका था। भारत ने स्वयं अपने देश में ही गरीबी से जूझते तथा मानव-निर्मित भयंकर अकाल से तड़पते लोगों को देखा। फिर उसने भारत और पाकिस्तान के विभाजन से जन्मी हिंसा, विद्रोह एवं लाखों विस्थापित परिवारों की पीड़ा के रूप में घोर निराशा का अनुभव किया।

निराशा की इस घड़ी मे भारत ने काम के लिए कमर कसी और दो सौ वर्ष के विदेशी शासन से पद्दलित और दरिद्र हुई अपनी जनता के बेहतर और अधिक समृद्ध भविष्य के निर्माण के लिए अपने सपनों और आकांक्षाओं को रूप देना प्रारम्भ कर दिया। इस विशाल कार्य में उसने अपना वही दृढ़ संकल्प प्रदर्शित किया जो उसने अंग्रेजी दासता से मुक्ति के लिए संघर्ष में प्रदर्शित किया था।

स्वतंत्रता हमारे लिए एक बहुत बड़ी चुनौती बनकर सामने आई। अलग-थलग बसे गाँव तथा अवरूद्ध ग्रामीण अर्थव्यवस्था स्वतंत्र भारत के लिए एक बहुत बड़ा संकट थी। गाँवों एवं शहरों के जीवन-स्तर में आकाश-पाताल का अंतर था। देश छोटे-छोटे अनेक संघों और रजवाडों में बँटा हुआ था जिनसे वास्तविक एकता लाना बिल्कुल असंभव था।

पुनर्निर्माण के विशाल कार्य को हाथ में लेने के लिए देश में प्रशिक्षित तकनीकी एवं वैज्ञानिक कार्यकर्ताओं की भारी कमी थी। संक्षेप में, स्वतंत्र भारत की दरिद्र और अवरूद्ध अर्थ-व्यवस्था न तो बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती थी और न शहरों में बटती हुई बेरोजगारी के अप्रत्याशित दबाव को ही संभाल सकती थी। उसे असमानता, गरीबी, रोग और अज्ञान समाप्त करने जैसी चुनौतियों का सामना करना था जिससे एक ऐसे नए समाज का निर्माण हो जिसमें उसकी जनता के सभी वर्गों को स्वतंत्रता तथा सामाजिक न्याय के लाभों का आश्वासन मिले।

1947 मे स्वतंत्र राष्ट्र बनने पर देश की जनता के सामने सबसे बड़ा काम आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में सुधार लाने के लिए कठोर परिश्रम करना था। अत: तात्कालिक आवश्यकता न केवल अपने सीमित साधनों को बढ़ाने की थी बल्कि नई और अधिक सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए नई उत्पादक क्षमता विकसित करके नए-नए साधन जुटाने की भी थी। इस कार्य को पूरा करने के लिए देश के संविधान का निर्माण किया गया ताकि शासन व्यवस्था ठीक प्रकार चल सके।

सारांश

1. 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ। 1947 का वर्ष स्वतंत्रता-पूर्व युग और स्वतंत्र भारत के प्रगति-युग की विभाजन-रेखा था।
2. देश की स्वतंत्रता ने उभरते भारतीय समाज के लिए एक आकाशदीप का काम किया।
3. स्वतंत्रता के समय भारत को दरिद्र तथा अवरूद्ध अर्थव्यवस्था का सामना करना पड़ा।
4. उसने गरीबी, असमानता, अज्ञान आदि को समाप्त करने का संकल्प लिया जिससे **स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय के सिद्धांत पर आधारित नई सामाजिक व्यवस्था का** निर्माण किया जा सके।
5. देश की शासन व्यवस्था को ठीक प्रकार से चलाने के लिए संविधान का निर्माण किया गया।

विचिंतन प्रश्न

1. भारत में स्वाधीनता की लड़ाई कब और कैसे शुरू हुई? इसका वर्णन कीजिए।
2. भारतीय सैनिक क्रांति के कारणों का वर्णन कीजिए।
3. कुछ उन स्वाधीनता सेनानियों के नाम बताइए जो भारत की स्वतत्रता के लिए शहीद हुए।
4. उन महान् देशभक्तों के नाम बताइए जिन्होंने स्वतंत्र भारत के भाग्य-निर्माण में योगदान दिया।
5. 1947 मे स्वतंत्र होने के समय की भारत की राजनैतिक,सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियों का वर्णन कीजिए।
6. स्वतत्र भारत को उभरता भारतीय समाज क्यो कहना चाहिए?
7. उभरते भारतीय समाज की कौन-कौन-सी आकाक्षाएँ थीं?
8. अपनी आकांक्षाओ की पूर्ति के लिए उसने कैसे प्रयास किए?

इकाई 1.2 संविधान में सन्निहित राष्ट्रीय ध्येय

किसी राष्ट्र के सामाजिक दर्शन को मार्गदर्शक के रूप में निर्धारित करने के लिए उस राष्ट्र का अपना संविधान होना अति आवश्यक एवं अनिवार्य है। यह संविधान ही देश की जनता के अधिकारों और हितों की रक्षा करने तथा जीवन के सभी क्षेत्रों में उसके कल्याण के लिए काम करने में सरकार को मार्गदर्शन एवं दिशा प्रदान करना है। संविधान से ही यह पता चलता है कि सरकार के प्रति नागरिकों के क्या कर्तव्य और दायित्व हैं। यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि संविधान एक आवश्यकता है और प्रत्येक राज्य का अपना संविधान होना चाहिए चाहे उसका सरकारी तंत्र किसी प्रकार का भी क्यों न हो। ऐसा होता भी है। अत: संविधान के बिना किसी राज्य का होना सभव नहीं है। संविधान के अभाव में उस राज्य में एक संगठित राजनैतिक तंत्र के स्थान पर अस्तव्यस्तता और अराजकता व्यापत रहेगी।

संविधान सभा में हमारी जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों ने काफी विचार-विमर्श के बाद 26 नवम्बर 1949 को अपना एक संविधान तैयार किया जिसे 26 जनवरी 1950 को लागू किया गया। 26 जनवरी को हर साल गणराज्य दिवस के रूप में एक राष्ट्रीय त्यौहार मानकर हम काफी हर्ष-उल्लास से मनाते हैं।

अनेक अन्य संविधानों की तरह भारत के संविधान के प्रारंभ में भी एक प्रस्तावना दी गई है। प्रस्तावना, जो एक भूमिका के रूप में है, संविधान का एक महत्वपूर्ण अंग है क्योंकि यह भारत में रहने वाले लोगों के विचारों और आदर्शों की रूपरेखा अंकित करती है। दूसरे शब्दों में, यह देश के सामाजिक दर्शन को प्रस्तुत करती है।

प्रस्तावना से अनेक उपयोगी कार्य सिद्ध होते हैं। यह न केवल प्रलेख के सूत्र और समय को बताती है बल्कि प्रलेख तैयार करने के समय की स्थिति, प्रलेख के उद्देश्य एवं प्रयोजन और प्रलेख में अंतर्निहित नीति को भी बताती है।

यह बात बहुत महत्वपूर्ण है कि न केवल एक सच्चे नागरिक के रूप में बल्कि निष्ठावान एवं समर्पित शिक्षक के रूप में आप भारत के संविधान की प्रस्तावना के शब्दों को उनके यथारूप में जानें।

प्रस्तावना निम्नलिखित है :

"**हम, भारत के लोग,** भारत को एक **संपूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक **न्याय**, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की **स्वतंत्रता**, प्रतिष्ठा और अवसर की **समता** प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली **बन्धुता** बढ़ाने के लिए दृढ़संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर 1949 ई० (मिती मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत दो हजार छह विक्रमी) को **एतदद्वारा इस संविधान को अंगीकृत अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"**

संविधान में भारत को संसदीय प्रणाली वाला एक प्रभुसत्ता-संपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य घोषित किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि अंतिम अधिकार जनता के हाथ में हैं और देश की सरकार को जनता की इच्छाओं के अनुरूप अपने को निभाना है। हमारे संविधान की प्रस्तावना में सन्निहित चार संकेत शब्द हैं—न्याय, स्वतंत्रता समता और बंधुता। सविधान सभी भारतीय नागरिकों को इन्हें प्राप्त कराने के लिए संकल्पबद्ध है। आइए, हम इन संकल्पों पर एक-एक कर विचार करें। प्रथम, वयस्क मताधिकार, अर्थात् प्रत्येक वयस्क (पुरुष अथवा महिला) को मतदान का अधिकार होगा। दूसरे, लोगों को अपने विचारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति का अधिकार होगा। तीसरे, किसी वर्ग विशेष को विशेष सुविधा की अनुमति नहीं होगी अर्थात संपदा के लिए सामाजिक वर्ग, जाति, मत, वर्ण, भाषा अथवा धर्म के आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति के बीच कोई भेदभाव नहीं बरता जाएगा। चौथे, कानून की दृष्टि में सभी व्यक्ति समान माने जाएँगे। पाँचवें, व्यक्तिगत स्वतंत्रता का आश्वासन रहेगा जो व्यक्तित्व को निखारने और उसका सर्वांगीण विकास करने के लिए अत्यावश्यक है। छठे, लोगों में देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना प्रोत्साहित की जाएगी जिससे वे नागरिक के दायित्व को निभाने में 'देश' **को पहले स्थान पर, 'समुदाय' को दूसरे स्थान पर** तथा 'स्वयं' को अंतिम स्थान पर रखें।

दिसंबर 1954 में लोकसभा ने भारत की आर्थिक एवं सामाजिक नीतियों के ध्येय के रूप में समाजवाद अपनाने का प्रस्ताव पारित किया। लोकसभा द्वारा दिए गए इस निर्देश के अनुसार 1956 की द्वितीय पंचवर्षीय योजना में 'राष्ट्रीय उद्देश्य के रूप में समाज का समाजवादी ढाँचा' स्वीकार किया गया।

यह घोषित किया गया कि 'जातिनिरपेक्ष और वर्गनिरपेक्ष समाज की स्थापना के लिए लोकतांत्रिक समाजवाद को राष्ट्रीय लक्ष्य स्वीकार किया जाए जो लोकतंत्र, व्यक्ति की प्रतिष्ठा और सामाजिक न्याय पर आधारित हो तथा जिसे लोकतांत्रिक साधनों द्वारा प्राप्त किया जाए।

संविधान में संशोधन के प्रश्न पर विचार करने के लिए 26 फरवरी 1976 को सरदार स्वर्णसिंह की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई। इस समिति की सिफारिशों को सितंबर 1976 में 42वें संशोधन विधेयक के रूप में लोकसभा में प्रस्तुत किया गया जो बाद में 42वाँ संशोधन अधिनियम बन गया। इस अधिनियम के अनुसार धर्मनिरपेक्षता को भारत का एक विधि सम्मत लक्ष्य माना गया। अतः इस संशोधन से प्रस्तावना में समाजवाद एवं धर्मनिरपेक्षता की संकल्पना जुड़ गयी और लोकतंत्र, समाजवाद तथा धर्मनिरपेक्षता के पक्ष में आत्मार्पित कर भारत एक कल्याणकारी राज्य बन गया।

सारांश

1. 26 जनवरी 1950 को लागू हुए भारतीय संविधान में भारत को एक प्रभुसत्ता-संपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य घोषित किया गया।
2. स्वतंत्र भारत के सामाजिक दर्शन को संविधान की प्रस्तावना में चार संकेत शब्दों--न्याय, समता, स्वतंत्रता और बंधुता से व्यक्त किया गया है।
3. दिसंबर 1954 में लोकसभा ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें समाजवाद को भारत की आर्थिक एवं सामाजिक नीतियों का ध्येय माना गया।
4. 1976 के 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा धर्मनिरपेक्षता भारत का एक संवैधानिक उद्देश्य बन गया और इस संशोधन को समाजवाद एवं धर्मनिरपेक्षता की संकल्पना के साथ प्रस्तावना में जोड़ देने पर भारत एक प्रभुसत्ता-संपन्न, समाजवादी, **धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक गणराज्य बन गया।**

विचिंतन प्रश्न

1. किसी राज्य के लिए संविधान का होना क्यो आवश्यक है?
2. संविधान मे प्रस्तावना को किस उद्देश्य से सम्मिलित किया जाता है?
3. भारत के संविधान की प्रस्तावना का वर्णन कीजिए।
4. प्रस्तावना में उल्लिखित चार संकेत शब्दों के अर्थ क्या है? प्रत्येक संकेत शब्द के महत्व की व्याख्या कीजिए।
5. 'प्रभुसत्ता संपन्न लोकतात्रिक गणराज्य' की व्याख्या अपने शब्दों में कीजिए।
6. राजनैतिक स्वतंत्रता की संकल्पना में गणराज्य और राजतंत्र में क्या भेद है?
7. स्वतंत्र भारत के सामाजिक दर्शन का वर्णन कीजिए।

इकाई 1.2.1 स्वतंत्र भारत के लोकतांत्रिक आदर्श

आगे के पृष्ठों में हम लोकतंत्र, समाजवाद एवं धर्मनिरपेक्षता की संकल्पना की बारी-बारी से चर्चा कर उपर्युक्त ध्येयों पर विचार करेंगे जिससे शिक्षा के लिए निहित आदर्शों का तात्पर्य आप अच्छी तरह से समझ सकें। इस उप-इकाई 1.2.1 में हम आपके साथ लोकतंत्र और उसके आदर्शों पर विचार-विमर्श करेंगे।

लोकतंत्र के लिए अंग्रेजी शब्द 'डेमोक्रेसी' की व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द 'डेमोस' से हुई है जिसका अर्थ है 'जन' और 'क्रेटोस' से अर्थ है 'शक्ति'। इस तरह 'डेमोक्रेसी' का अर्थ है **जनता की शक्ति।** लोकतंत्र एक सामाजिक संगठन है और सामाजिक, आर्थिक तथा वैधानिक समता के सिद्धांतों पर आधारित है। लोकतंत्र के इन तीन आयामों का और भी विश्लेषण किया जा सकता है। अमरीका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने सभवत लोकतंत्र के राजनैतिक पक्ष की सबसे अच्छे ढग से परिभाषा

की है। उन्होंने कहा : 'लोकतंत्र जनता की, जनता के लिए और जनता द्वारा बनाई गई सरकार है।' इसका आशय व्यस्को से है जिन्हे मतदान का अधिकार है और इस प्रकार जिन्हें देश के शासन मे सहभागी माना जा सकता है। लोकतंत्र के आर्थिक पक्ष का आशय उस आर्थिक शक्ति से है जो पूरी तरह जनता के हाथों में रहे और आर्थिक संसाधनों पर कुछ 'पूंजीपतियों अथवा किसी विशेष वर्ग का' एकाधिकार नही हो। इसके अतिरिक्त आर्थिक संगठन सहकारी होने चाहिए न कि प्रतिस्पर्धा वाले, और आर्थिक परियोजनाएँ ऐसी होनी चाहिएं जिनसे पूरे समुदाय को लाभ प्राप्त हो। इस तंत्र में लोगों को उनकी दक्षता और योग्यता के अनुसार कार्य दिया जाता है। लोकतंत्र के सामाजिक पक्ष का आशय समाज में व्यक्तियों की समान स्थिति से है जिसमें सामाजिक वर्ग, जन्म अथवा धन के आधार पर कोई भेदभाव नहीं हो। लोकतंत्र में सामाजिक एवं आर्थिक समता को मान्यता मिलनी चाहिए, तभी वास्तविक अर्थ में लोकतन्त्र को जीवन की एक ऐसी विधा माना जा सकता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण जीवन जीने का समान अवसर प्राप्त हो तथा अपनी गति से आगे बढ़ने, सोचने, अभिव्यक्त करने और कार्य करने में सहायता मिले। लोकतंत्र के ये तीनों आयाम दो दार्शनिक स्वीकृतियों यानि (क) व्यक्ति के लिए सम्मान की भावना और (ख) अवसर की समानता पर आधारित हैं। कुछ लोग लोकतंत्र को एक कल्याणकारी राज्य के रूप में भी परिभाषित करते हैं जिसमें राज्य का आस्तित्व व्यक्ति के कल्याण के लिए माना जाता है। लोकतंत्र मे मानव की प्रतिष्ठा को मूल्यावन समझा जाता है एवं उसके व्यक्तित्व को सम्मानित किया जाता है। लोकतंत्र में जाति, वर्ण और लिंग का भेदभाव नहीं किया जाता इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर प्रदान करना आवश्यक है जिससे मानव-मानव के बीच विद्यमान भेदो के बावजूद वह अपनी क्षमताओं को अधिक-से-अधिक विकसित कर सके।

लोकतंत्र की शक्ति अथवा उसके गुणो को केवल इस बात से आँका जा सकता है कि उसमे लोकतांत्रिक उद्देश्यों की पूर्ति किस कुशलता के साथ की जा रही है और उसमें लोग किस सीमा तक सतुष्ट है। इसकी कुशलता जनता के प्रति उत्तरदायित्व की भावना में है। लोकतंत्र के गुणों के बारे में यह कहा जाता है कि यही एक ऐसा शासन-तंत्र है जो उन लोगो को उत्तरदायित्व सौंपता है जो शासित लोगों पर शासन करते हैं। लोकतत्र में इस उत्तरदायित्व का पालन कराया जा सकता है क्योंकि इसमें विधानमंडल द्वारा, निर्वाचनों के द्वारा और जनमत की अभिव्यक्ति द्वारा कार्यपालिका पर लोकप्रिय नियंत्रण की विधि विद्यमान है। स्वभावत इससे लोगों को यह अवसर मिलता है कि वे अपने अधिकारों पर बल दें और यदि आवश्यकता हो तो अपने अधिकारों के लिए लड़ें भी। इस प्रकार इस शासन-तंत्र में ही लोगों के हितों और अधिकारों की सबसे अच्छे ढंग से रक्षा होती है। लोकतंत्र की यह विशेषता उसे सर्वाधिकारवादी राज्य से भिन्न करती है जिसमे शासन एक व्यक्ति अथवा कुछ थोड़े से व्यक्तियों अथवा एक विशेष वर्ग के ही लोगों के हाथों में होता है। उन देशों में भी, जहाँ केवल एक राजनैतिक पार्टी को ही मान्यता प्राप्त होती है, सभी सरकारी कार्यकलापों का निर्धारण उस पार्टी द्वारा किया जाता है। ऐसी स्थिति में जो लोग पार्टी की विचारधारा से सहमत नहीं होते उन्हें शासन के किसी भी मामले में बोलने की वस्तुत: कुछ भी स्वतंत्रता नहीं होती।

पर इस प्रकार के शासन-तंत्र में प्रशासन संबंधी निर्णय काफी तेजी से ले लिए जाते हैं।

फलस्वरूप अभीष्ट परिणाम बहुत ही थोड़े समय में प्राप्त किए जा सकते हैं क्योंकि जहाँ किसी निर्णय तक पहुँचने के लिए लोकतांत्रिक शासन से लंबे समय तक वाद-विवाद एवं विचार-विमर्श करना होता है वहाँ इस प्रकार के शासन-तंत्र में ऐसी औपचारिकताओं को निभाने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

लोकतत्र की सफलता के लिए कुछ शर्तों को अनिवार्य माना जाता है। पहले, लोकतंत्र की सफलता के लिए लोगों का लोकतांत्रिक आदर्शों में विश्वास होना चाहिए अन्यथा लोकतंत्र सफल नहीं हो पाएगा। दूसरे, लोगों में नागरिक उत्तरदायित्व, राजनैतिक चेतना और अल्पसख्यको के अधिकारो के प्रति सम्मान की भावना होनी चाहिए। तीसरे, अशिक्षित तथा अनभिज्ञ लोगो से लोकतंत्र सफल नहीं हो सकेगा। लोकतंत्र के सामाजिक आदर्शों को प्राप्त करने के लिए शिक्षा का सर्वाधिक महत्व है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिक्षा का उपयोग एक पूँजी निवेश के रूप मे किया जाना चाहिए। अततः, सभी लोगो को आर्थिक सुरक्षा प्राप्त होनी चाहिए। यह लोकतंत्र की सफलता का एक अन्य अनिवार्य प्रतिबंध है।

लोकतंत्र के आदर्श किससे प्रभावित होते हैं, इस विषय में चर्चा को सक्षेप में निम्नलिखित पंक्तियों में सर्वोत्तम ढंग से दिया जा सकता है

"लोकतत्र का नारा उत्तरदायित्व है, स्वायत्तता नही। इसका उद्देश्य अधिक से अधिक संतोष प्रदान करना नही, बल्कि जो उत्कृष्ट है, उसे प्रतिष्ठापित करना और उसमें वृद्धि करना है। लोकतत्र मे समता का आशय सुविधाओ से नही दायित्वो तथा अवसरों से है ताकि सबको न्याय मिल सके। इस दृष्टि से लोकतात्रिक मार्ग प्रत्येक व्यक्ति की आकाक्षाओं की अधिकतम सम्भव पूर्ति का साधन नहीं, बल्कि स्वार्थ-जनित अन्याय को न्यूनतम करने का साधन है।"

लोकतंत्र के आदर्शों को ध्यान में रखकर उसकी शैक्षिक आवश्यकताओं एवं माँगों की जाँच की जा सकती है। लोकतंत्र की माँग प्रबुद्ध नागरिक की माँग है। अतः शिक्षा की पहुँच जन-जन तक होनी चाहिए। शिक्षा का सार्वजनीकरण लोकतंत्र की पुकार है। लोकतंत्र व्यक्ति-व्यक्ति के बीच भेदों को भी स्वीकार करता है। इन भेदों को स्वीकार करते हुए व्यक्तित्व के अधिकतम विकास के लिए विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रम तैयार किए जाने की आवश्यकता है। विभिन्न प्रकार के विकलांग बच्चों, मनोविकार से पीडित बच्चो और अलग-अलग उपसंस्कृतियों से आनेवाले बच्चों को उनकी विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा देने की आवश्यकता है। उन्हें दो प्रकार से शिक्षा दी जाती है—औपचारिक सस्थाओं में भेजकर तथा पत्राचार के माध्यम से। इस तरह शिक्षा जीवन-भर चलने वाली प्रक्रिया हो जाती है।

लोकतंत्र मे यह आवश्यक और अपरिहार्य है कि विकास का स्तर चाहे कुछ भी क्यों न हो, उसके शैक्षिक कार्यक्रम ऐसे होने चाहिए कि प्राथमिक स्तर की शिक्षा में वह बच्चों की बुनियादी अथवा सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति करे। माध्यमिक स्तर की शिक्षा मे बच्चों की विशेष आवश्यकताओं और हितों की पूर्ति के लिए पाठ्यक्रम में विविधता लाने की आवश्यकता है। उच्चतर स्तर की औपचारिक शिक्षा में ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में विशेषज्ञ पैदा करने के लिए विशेष-अध्ययन की व्यवस्था करनी है।

इस प्रकार की शिक्षा प्रणाली से लोकतंत्र के लिए विभिन्न प्रकार के आवश्यक मानव-संसाधन उपलब्ध होगे। यह भी कहा जाता है कि सामान्यतः शिक्षा को कार्य, उत्पादकता और

रोजगार से जोड़ देना चाहिए। लोकतंत्र में प्रत्येक वयस्क अपने देश के शासन मे भागीदार होता है, अत. शिक्षा के द्वारा ऐसे व्यक्तियों का निर्माण होना चाहिए जो सार्वजनिक मामलों में बुद्धिमत्ता से भाग ले सकें। लोकतंत्र के सफल सचालन के लिए चरित्र-निर्माण करने वाली और नागरिकता का ज्ञान देनेवाली शिक्षा महत्वपूर्ण है। व्यक्ति को प्रभावी तथा लोकतांत्रिक समाज में कुशलतापूर्वक योगदान के योग्य बनाने के लिए स्कूलों और कालेजों की शिक्षा के प्रशासन और संगठन में लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं से काम लिया जाता है। सभी विद्यार्थियों को कक्षा के कार्य एवं संचालन में उत्तरदायित्वपूर्ण योगदान करने के लिए प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। योजनाएँ तैयार करने में, उन पर अमल करने में और कुछ अन्य उत्तरदायित्व ग्रहण करने में भी उन्हें उनकी सामाजिक परिपक्वता के अनुसार सम्मिलित किया जाना चाहिए।

सारांश

1. लोकतंत्र तीन निम्नलिखित सिद्धांतों पर आधारित हैं :
   (क) व्यक्ति के मूल्य को स्वीकार करना। उसे राजनैतिक स्वतत्रता, आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक न्याय प्रदान करना।
   (ख) व्यक्ति-व्यक्ति के बीच के भेद को पहचानना और सभी को समान अवसर उपलब्ध कराना।
   (ग) यह स्वीकार करना कि राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के कल्याण के लिए है। यह व्यक्ति और समाज के बीच के संबंध को दर्शाता है। अत: लोकतंत्र को जीवन की एक विधा के रूप में माना जा सकता है।
2. लोकतंत्र में विकसित किए जाने वाले चार आधारभूत मूल्य हैं : नागरिक उत्तरदायित्व, सामाजिक दायित्व, सामाजिक निष्ठा और सामाजिक न्याय। लोकतंत्र की शैक्षिक मांगें हैं : जन-शिक्षा, समान शैक्षिक सुअवसर प्रदान करने की व्यवस्था, निरंतर शिक्षा और शिक्षा के औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों साधनों को कार्य, उत्पादकता और रोजगार उन्मुख करना।
3. लोकतंत्र की शैक्षिक आवश्यकताएँ मूलत: दो हैं: चरित्र निर्माण की शिक्षा और नागरिकता की शिक्षा।

विचिंतन प्रश्न

1. सच्चे लोकतत्र के कौन-कौन से लक्षण है?
2. भारत ने लोकतत्र को क्यो अपनाया है?

3 लोकतंत्र की सफलता के लिए किन-किन शर्तो को अनिवार्य माना जाता है?
4 लोकतत्र मे जिन चार आधारभूत मूल्यों को विकसित किया जाता है, उनका विवरण दीजिए। शिक्षा द्वारा इन्हे किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है?
5. लोकतत्र की शैक्षिक माँगें और आवश्यकताएँ कौन-कौन सी हैं?
6. भारत मे प्रौढ़ शिक्षा का इतना महत्व क्यो है?
7. निरतर शिक्षा प्रदान करने की भिन्न-भिन्न विधियाँ कौन-सी है?
8. बच्चों को समान शैक्षिक सुअवसर उपलब्ध कराने के साधन कौन-कौन से है?
9. शिक्षा-सस्थाओ मे लोकतांत्रिक प्रक्रिया पर किस प्रकार अमल किया जा सकता है?

इकाई 1.2.2 स्वतंत्र भारत के समाजवादी आदर्श

आइए, अब हम दूसरे राष्ट्रीय ध्येय यानि समाजवाद पर विचार करें। इस बात पर बार-बार जोर दिया गया है कि यदि लोकतंत्र को वास्तविक अर्थों में जनता की सरकार बनाना है तो इसे एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था पर आधारित होना चाहिए जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को एक निम्नतम निर्वाह-स्तर पर जीने की गारंटी हो और जो गरीब और अमीर के बीच की खाई को पाटे। दूसरे शब्दों में समाजवाद के बिना राजनैतिक लोकतंत्र का कोई अर्थ नहीं होता। लोग अपने अधिकारों के लिए तभी लड़ सकते हैं जबकि वे न केवल राजनैतिक रूप से बल्कि आर्थिक रूप से भी स्वतंत्र हों। लोकतंत्र की संकल्पना प्राथमिक रूप से राज्य में रहने वाले सभी व्यक्तियों के लिए सामाजिक न्याय पर आधारित है और समाजवाद की संकल्पना व्यक्ति के लिए सामाजिक- आर्थिक न्याय के सिद्धान्त पर आधारित है। इस तरह यह माना जा सकता है कि लोकतंत्र और समाजवाद एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। लोकतंत्र सभी को प्रतिनिधित्व का समान अधिकार प्रदान करता है और समाजवाद राज्य के सभी व्यक्तियों को इस अर्थ में समान आर्थिक अवसर प्रदान करता है कि भूमि, श्रम, पूँजी और संगठन जैसे उत्पादन के सभी साधनों पर राज्य का स्वामित्व होता है और इन कारकों के उपयोग से किसी भी व्यक्ति द्वारा निजी लाभ अर्जित करने का प्रश्न ही नही उठता। इसलिए यह तर्क दिया जाता है कि क्योंकि लोकतंत्र का उद्देश्य वर्ग अथवा धर्म या मत के भेदभाव के बिना सभी व्यक्तियों को प्रशासन में भागीदार बनाकर अधिक से अधिक संख्या में उन्हें अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कराना है, इसलिए व्यक्यिों की आर्थिक स्थिति में सुधार लाना भी इस प्रकार के शासनतंत्र का एक मूलभूत लक्ष्य होता है। आर्थिक स्थायित्व के बिना लोकतंत्र स्थाई नहीं हो सकता और आर्थिक स्थायित्व व्यक्ति की आर्थिक संपन्नता पर निर्भर है। समाजवाद पर आधारित लोकतंत्र से 'जनता के लिए और जनता की सरकार' का वास्तविक उद्देश्य प्राप्त हो जाता है। यही कारण है कि हम लोकतत्र और समाजवाद को जुड़वाँ मानते हैं।

समाजवाद का जन्म मध्य युग के अंत में यूरोप में हुए दो ऐतिहासिक आंदोलनों—पुनर्जागरण और सुधार आंदोलन के फलस्वरूप हुआ। पुनर्जागरण आंदोलन का सूत्रपात इटली में हुआ। इसे प्राच्य शिक्षा का नव जागरण माना जाता है। सुधार आंदोलन को रोमन कैथोलिक चर्च की सत्ता के

विरुद्ध विद्रोह कहा जा सकता है। पुनर्जागरण ने लोगों के मन में कला, विज्ञान और विवेचनात्मक चिन्तन के प्रति संवेदनशीलता जागृत की । ऐसा माना जाता है कि पुनर्जागरण ने चिंतन की आगमिक (इनडक्टिव) विधि को लोकप्रिय बनाया। इस विधि में तर्क तथा प्रणालीबद्ध ढग से एक भाग का मूल्यांकन करके उसे संपूर्ण पर लागु किया जाता है, विशेष को व्यापक और वैयक्तिक को सार्वजनिक रूप प्रदान किया जाता है। चिन्तन की यह विधि, जिसकी ओर पुनर्जागरण काल के पहले बहुत कम ध्यान दिया गया था, जिज्ञासा, अवलोकन, जॉच-पडताल और व्यापक निष्कर्षों पर पहुँचने में बहुत सहायक रही है। मानवीय प्रयोजनों, आवश्यकताओं, आकांक्षाओं और आशाओं के इस परस्पर मिलन ने आधुनिक युग मे विज्ञान की प्रगति एवं प्रौद्योगिकी को फलने-फूलने का विशेष अवसर दिया। इस विधि ने सत्य की खोज में एक नई चिन्तन प्रणाली की नींव डाली। अब समस्याओं को हल करने के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया जाता है। प्रौद्योगिकी के विकास ने मध्य युग के अंत मे सामती युग के सामाजिक एवं आर्थिक सगठनों के पूरे ढाँचे को ही रूपांतरित कर दिया। अतीत के इतिहास में झाँकने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सामंती समाज में जमीदारों का एक ऐसा अभिजात वर्ग था जिस पर व्यापारी वर्ग ने कुठाराघात किया। परिणामस्वरूप आधुनिक पूँजीवादी समाज का जन्म हुआ। अब इसका विरोध वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए श्रमिक वर्ग कर रहा है। इस प्रकार की समानता और सामाजिक न्याय की उत्कंठा ही समाजवाद के मूल में है। आज समाजवाद को समाज का ऐसा रूप समझा जा रहा है जिसमें पुरूषों और स्त्रियों को सामाजिक एवं आर्थिक समानता हो और वे समाज-कल्याण के लिए अपने-अपने साधनों का भरपूर उपयोग करें। यह भाईचारा सामाजिक एवं आर्थिक--दोनो ही प्रकार की नीतियों में समाजवाद के उद्देश्यो को समान रूप से प्रेरित करता है।

भारतीय दृष्टिकोण से समाजवाद का अर्थ मानव व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा एव स्वतंत्रता है। इस तरह यह व्यक्ति और उसके समाज के बीच अपेक्षित सम्बन्ध का न केवल आर्थिक असमानताओ के उन्मूलन के सिद्धांत पर बल्कि मानवीय आधारो पर भी मार्ग प्रदर्शित करता है।

अत: हम यह कह सकते है कि समाजवाद की विचारधारा की व्युत्पत्ति दो सूत्रों से हुई है मानव की प्रतिष्ठा और आपसी भाई चारे मे विश्वास तथा सामाजिक न्याय की स्वीकृति। पर भारत का दृष्टिकोण प्रधानत: प्रथम सूत्र पर आधारित है, और बाद मे दूसरे सूत्र पर, हालॉकि दोनो सूत्र एक दूसरे से सम्बद्ध तथा एक दूसरे पर निर्भर है। हमारे जैसे विकासशील समाज मे मानवीय आवश्यकताओं और आधुनिक विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की चुनौतियों को पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि समाजवाद को एक राष्ट्रीय ध्येय माना जाए। यदि राष्ट्रीय ध्येयो को ध्यान में रखते हुए पूरे समाज की अधिकतम भलाई के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी को पोषित और विकसित किया जाए और इसके लिए यदि हम विज्ञान के नए-नए क्षेत्रों को अपनाएँ तो सामाजिक संरचना मे परिवर्तन होना अनिवार्य हो जाएगा। स्पष्ट है कि यह परिवर्तन नियोजित ढंग से होना चाहिए। अत: सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक नियंत्रण के लिए शिक्षा को एक साधन के रूप में काम मे लेना है। इसकी कार्यविधि के प्रमाण-चिह्न का पता लगाना कठिन नहीं है। यह सामूहिक स्थिति मे एक साथ काम करने की तथा सामूहिक क्रिया पर नियंत्रण रखने की विधि है। संबध बनाए रखने के अन्य वैकल्पिक उपाय--बल प्रयोग, प्रभुत्व और अहस्तक्षेप हैं। परन्तु ये लोकतांत्रिक प्रक्रिया के अंग नहीं हैं।

सारांश

1. आर्थिक सुरक्षा के बिना लोकतत्र स्थाई नहीं हो सकता।
2. ममाजवाद की संकल्पना व्यक्तियो के लिए सामाजिक्-आर्थिक न्याय के सिद्धांत पर आधारित है।
3. ममाजवाद का जन्म पश्चिमी विश्व मे पुनर्जागरण और सुधार आदोलन के परिणामस्वरूप हुआ।
4. मानवीय आवश्यकताओं और विकासशील समाज मे आधुनिक विज्ञान एव प्रौद्योगिकी की चुनौतियों को पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि समाजवाद को एक राष्ट्रीय ध्येय माना जाए।
5. अत: सामाजिक पविर्तन और समाजिक नियंत्रण के लिए शिक्षा का उपयोग हमें एक पूजी निवेश के रूप में करना है।

विचिंतन प्रश्न

1. किन-किन कारणो से समाजवाद का जन्म हुआ?
2. मानवता से आप क्या समझते हैं?
3. इटली मे हुए पुनर्जागरण मे क्या-क्या परिणाम निकले?
4. भारत मे तथा अन्य देशों मे समाजवाद को दिए गए अर्थ को स्पष्ट कीजिए।
5. ममाजवाद के बिना राजनैतिक लोकतत्र का कोई अर्थ क्यो नहीं होता, इसकी व्याख्या कीजिए।
6. ममाजवाद के आदर्शो को परिपुष्ट करने वाले शैक्षिक कार्यक्रम सुझाइए।

इकाई 1.2.3 स्वतंत्र भारत के धर्मनिरपेक्ष आदर्श

लोकतंत्र और समाजवाद की संकल्पनाओं को स्पष्ट कर लेने के बाद अब हम धर्मनिरपेक्षता पर विचार करेंगे जो भारत का तीसरा राष्ट्रीय एवं अभीष्ट ध्येय है।

'धर्मनिरपेक्षता' शब्द का प्रचलन उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ। इसका अर्थ था 'विद्यमान धार्मिक विचारधारा का विरोधी जीवन सिद्धात'। वास्तव में इसमे धर्म से संबद्ध हर बात के विरूद्ध विद्वेष की भावना निहित थी। यह नई विचारधारा लोगों के मन में अज्ञेयवाद (ईश्वर में न तो विश्वास रखना और न ही अविश्वास) के विचारों से उत्पन्न हुई इस विचारधारा को मानने वाले लोगों का तर्क था कि जीवन में सदव्यवहार का धर्म से कोई संबंध नहीं है। इसी विचारधारा ने पश्चिम में जनता को शिक्षित करने के धर्म के अधिकार पर अंकुश लगाया। बाद में इसने सीमारेखा खींचकर पादरियों की भूमिका केवल धार्मिक शिक्षा प्रदान करने तक सीमित कर दी और जनता को शिक्षा प्रदान करने का दायित्व राज्य को सौंपा।

भारत में धर्मनिरपेक्षता को किस अर्थ में लिया जाता है, यह हमारे दार्शनिक राष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन के निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट हो जाता है:

'मैं अधिकारपूर्वक कहना चाहता हूँ कि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ नास्तिकवाद नहीं है। इसका अर्थ है कि हम सभी मतों और धर्मों का आदर करते हैं। हमारा राज्य किसी एक विशेष धर्म से जुड़ा नहीं है।'' गांधी जी ने भी एक बार इसी स्वर में कहा था: 'मैं अन्य धर्मों का उतना ही आदर करता हूँ जितना अपने धर्म का करता हूँ।'' फिर, निराश होकर उन्होने यह भी लिखा : ''भारत मे तथा अन्यत्र तथाकथित धर्म अथवा संगठित धर्म के आडम्बर ने मुझे दहला दिया है। मैंने इसकी बारबार भर्त्सना की है और मैं इस सब पर झाड़ू फेर देना चाहता हूँ। धर्म प्राय सदा ही अंधविश्वास और प्रतिगामिता, हठधर्मिता और कट्टरता, शोषण और निहित स्वार्थों के संरक्षण का समर्थन करता दिखाई देता है।''

प्रत्येक धर्म के तीन घटक होते हैं: आध्यात्मिक आधार (परमतत्व का सिद्धांत), अनुष्ठानिक संस्कार और एक नीति-संहिता। प्रत्येक संगठित धर्म के आध्यात्मिक आधार और अनुष्ठानिक संस्कार भिन्न- भिन्न हैं पर नैतिक अवधारणाओं में सभी धर्म एक हैं। संगठित धर्म का संकीर्ण रूप उसमें व्याप्त अंधविश्वासों, आस्थाओं और धर्मान्धता में देखा जा सकता है। व्यापक रूप में धर्म को एक जीवन पद्धति कहा जा सकता है। हमारा देश बहुभाषी और बहुरूपी उपसंस्कृतियों वाला देश है जिसमें अनेक धर्म फल-फूल रहे हैं। अत: यहाँ धर्म को जीवन पद्धति के रूप में स्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं है। भारत के लिए यह एक बड़ा वरदान है कि उसने किसी धर्म को राज्य धर्म के रूप में नहीं अपनाया है। इससे न केवल अल्पसंख्यकों के मन में भय व्यापत होता बल्कि उसके लोकतांत्रिक आदर्शों और समाज की लोकतांत्रिक संरचना को भी आघात पहुँच सकता था।

अपने को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित कर भारत ने सभी नागरिकों को दूसरे धर्मों का आनादर किए बिना किसी भी धर्म को मानने और उसका प्रचार-प्रसार करने की स्वतंत्रता और अधिकार प्रदान किये हैं बशर्ते कि वे सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य बनाए रखें। तदनुसार प्रत्येक नागरिक को स्वधर्म का पालन करने की पूरी स्वतंत्रता है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह किसी भी धर्म को मानने वाला क्यों न हो, आगे बढ़ने के समान अधिकार और अवसर प्राप्त हैं। धर्मनिरपेक्ष राज्य के लक्षण निम्नलिखित हैं:

1. राज्य का कोई अपना धर्म नहीं होगा।
2. राज्य किसी धर्म विशेष के अनुयायी को वरीयता नहीं देगा।
3. राज्य धर्म के आधार पर किसी व्यक्ति से भेदभाव नहीं करेगा।
4. धार्मिक भेदभाव के बिना सभी नागरिक सरकारी सेवा में प्रवेश कर सकेंगे।

फिर भी, भारत का एक धर्मनिरपेक्ष राज्य होने का यह अर्थ नहीं है कि वह ईश्वर-विहीन अथवा नास्तिक या धर्म-विरोधी राज्य है। भारतीय संविधान के मुख्य निर्माता बी.आर. अम्बेडकर ने कहा था, ''धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ यह नहीं है कि हम लोगों की धार्मिक भावनाओं को ध्यान में नहीं रखेंगे। धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ केवल यही है कि संसद् लोगों पर कोई भी विशेष धर्म थोपने के लिए सक्षम नहीं होगी। संविधान में केवल यहीं अंकुश स्वीकार किया गया है।''

अत: धर्मनिरपेक्ष राज्य में नैतिक शिक्षा सभी शैक्षिक कार्यक्रमों का अभिन्न अग होती है और

धार्मिक शिक्षा देना (अर्थात् अपने धर्म का अध्ययन) परिवार और धार्मिक संस्थाओं के अधिकार क्षेत्र में है। यदि भारत को धार्मिक जीवन पद्धति पर चलना है तो शिक्षा को धर्मनिरपेक्षता के कम-से-कम पाँच सर्वमान्य गुणों के प्रसार के लिए प्रयास करना होगा जैसे प्रेम की शिक्षा, सहिष्णुता की शिक्षा, सत्य की शिक्षा, शांति की शिक्षा और श्रद्धा की शिक्षा। तभी यह माना जा सकता है कि धार्मिक (नैतिक) शिक्षा औपचारिक शिक्षण संस्थाओं में अनिवार्य है न कि धर्म की शिक्षा।

सारांश

1. भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है और वह किसी धर्म को राज्य-धर्म के रूप मे स्वीकार नहीं करता।
2. भारतीय दृष्टि से धर्मनिरपेक्षता का अर्थ है—सभी धर्मों का आदर करना। इसका अर्थ नास्तिकवाद नही है।
3. धर्मनिरपेक्षता में शिक्षा के लिए कुछ मार्ग-निर्देश दिए गए है.
   (क) धर्म की शिक्षा देना परिवार और धार्मिक संस्थाओं का कार्य,
   (ख) धार्मिक (नैतिक) शिक्षा देना औपचारिक शिक्षण संस्थाओ का कार्य,
   (ग) शैक्षिक कार्यक्रमों का उपयोग वर्गों के परस्पर समन्वय एवम् राष्ट्रीय एकता के लिए करना।

विचिंतन प्रश्न

1 धर्मनिरपेक्षता की भारत द्वारा की गई व्याख्या मे और अन्यत्र की गई व्याख्याओं में अंतर बताइए।
2 धर्म की शिक्षा प्रदान करने में परिवार की भूमिका के बारे मे अपने विचार स्पष्ट कीजिए।
3 धर्मनिरपेक्षता का भाव पोषित करने मे विद्यालय विद्यार्थियों के मन पर किस प्रकार छाप डाल सकते है? विद्यालयों मे आयोजित किए जाने वाले कुछ अभ्यासों/कार्यक्रमों का सुझाव दीजिए।

इकाई 1.2.4 स्वतंत्र भारत में नागरिकों के अधिकार और कर्तव्य

स्वतंत्र भारत ने राष्ट्रीय उद्देश्यों के रूप में लोकतांत्रिक, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष आदर्शो की केवल अभिव्यक्ति ही नही की, बल्कि इन आदर्शों को व्यावहारिक रूप देने के लिए संविधान में नागरिकों के मूल अधिकारों तथा कर्तव्यों का और साथ ही राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तो का निर्धारण भी किया, जिससे एक ओर शासित जनो के आचरण का मार्ग-दर्शन हो सके और दूसरी ओर उनके कल्याण की सुरक्षा के लिए सरकार के व्यवहार पर नियंत्रण रखा जा सके। इन विषयों पर यहाँ चर्चा की गई है।

पहले हम 'नागरिक' शब्द पर विचार करें। 'नागरिक' का शाब्दिक अर्थ है 'नगर मे वास करनेवाला व्यक्ति'। समाज-शास्त्रों के अध्येता के लिए इस शब्द का अर्थ 'राजनैतिक समुदाय के उस सदस्य से है जो अपने राज्य के प्रति निष्ठावान है और नागरिक एव राजनैतिक अधिकारो का

उपभोग करता है।'' ये अधिकार तीन प्रकार के होते हैं नागरिक अधिकार, राजनैतिक अधिकार और नैतिक अधिकार। नागरिक एव राजनैतिक अधिकार राज्य द्वारा आश्वस्त तथा संरक्षित होते हैं किन्तु नैतिक अधिकार ऐसे नही होते। ऐसे अधिकारो की रूपरेखा समाज के सामाजिक एवं सास्कृतिक लोकाचार से बनाई गई आचार-संहिता से मिलती है।

भारत के संविधान मे सात मूल अधिकारों की सूची दी गई है। अधिकार सामाजिक जीवन के वे अनुबंध है जो मानव व्यक्तित्व के विकास के लिए अत्यावश्यक और महत्वपूर्ण होते है। ये अनुबंध मनुष्य के सामाजिक स्वभाव से जन्म लेते हैं तथा समाज में अच्छा जीवन क्या है 'है' और कैसा 'होना चाहिए'—इसके संकेत है। सभी अधिकारों मे कुछ अधिकार अधिक महत्वपूर्ण और मूलभूत होते है, अतः उन्हें संविधान में समाविष्ट कर दिया गया है। मूल विधि, अर्थात् संविधान का अंग होने के नाते इन अधिकारो की एक विशेष स्थिति है। जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, सविधान व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से सभी नागरिकों को मूल अधिकारों के रूप में सात व्यापक स्वतंत्रताएँ प्रदान करता है, जिनके उल्लघन पर न्यायालय की शरण ली जा सकती है। ये स्वतत्रताएँ निम्न लिखित है:

> समता का अधिकार, स्वतत्रता का अधिकार, शोषण के विरूद्ध अधिकार, धार्मिक स्वतत्रता का अधिकार, संस्कृति तथा शिक्षा संबंधी अधिकार, संपत्ति का अधिकार और सवैधानिक उपचारों का अधिकार।

इन अधिकारो का मूल अधिकारो के रूप में स्पष्ट उल्लेख होने के बाद अब न्यायालय का कर्तव्य है कि वह उनकी मर्यादा की रक्षा करे और उनके अभिभावक की भूमिका निभाए। संक्षेप मे मूल अधिकार राज्य द्वारा की गई किसी काररवाई के प्रति संरक्षण प्रदान करते हैं। व्यक्ति को इन मूल स्वतत्रताओ के सवैधानिक आश्वासन के दो तात्पर्य हैं। पहला, कानून की सीमा के अंदर स्वतत्रता का अधिकार और दूसरा, स्वतंत्रता का वह अधिकार जो व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व के सर्वागीण विकास में सहायक हो।

कानून की दृष्टि में समानता और हमारे मूल भूत अधिकारो का संरक्षण संविधान मे समाविष्ट मूल अधिकारों से सुनिश्चित किया गया है। उनमे कहा गया है कि ''राज्य किसी व्यक्ति को विधि की दृष्टि मे समता के अधिकार मे वचित नही करेगा और राज्य, धर्म, वर्ण, जाति, लिंग अथवा जन्म स्थान के आधार पर किसी नागरिक से भेद भाव नहीं बरतेगा। ये मूल अधिकार रोजगार, सपत्ति, सस्कृति और शिक्षा के सबंध मे भी स्वतत्रता एव समता का आश्वासन देते है।''

इन सभी बातो का लक्ष्य स्वतंत्र भारत को एक समतावादी समाज बनाना है। इस प्रकार का समाज, जो समतावाद (समता के आदर्श) में विश्वास करता है, अपने सभी सदस्यों के लिए सभी मामलों मे समता की कल्पना करता है।

फिर सविधान ने विभिन्न सस्थाओ (अर्थात ससद, राज्य सरकारें और सभी स्थानीय प्रशासनिक निकायो) के द्वारा इन विचारो को मूर्त रूप देने के लिए राज्य की नीति के कुछ निदेशक सिद्धात भी निर्धारित किए है। इन सिद्धातो के विषय में कहा गया है कि ''यद्यपि न्यायालय शासन को इन पर अमल के लिए बाध्य नही कर सकता, तथापि देश के शासन के लिए वे मूलभूत समझे जाते है। संघीय तथा राज्य सरकारें, कार्यपालिका और विधायिका को इन निदेशक सिद्धांतों में निर्धारित आदर्शों का पालन करना है जिससे राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण और संरक्षण में अपनी पूरी शक्ति लगा सके जहाँ सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय

जीवन की सभी संस्थाओ में उपलब्ध हो। इस प्रकार संविधान जनता के कल्याण के कार्य को आगे बढाने का प्रयास करे।''

राज्य की नीति के निदेशक तत्वो मे सरकारों को आदेश दिया गया है कि राज्य अपनी नीति का सुनिश्चित रूप से ऐसे संचालन करेगा कि – (क) समान रूप से नर और नारी–सभी नागरिको को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो; (ख) समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियत्रण इस प्रकार बॅटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप मे साधन हो; (ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो; और (घ) पुरूषो और स्त्रियो–दोनों का समान कार्य के लिए समान वेतन हो। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि

''राज्य की नीति के निदेशक सिद्धात हमारे संविधान के एक विशेष तत्व है जो जन कल्याण की वृद्धि के लिए राज्य को एक नई समाज व्यवस्था स्थापित करने का आदेश देते है और राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक न्याय पर आधारित समाज मे फलने-फूलने के लिए मार्ग-दर्शन करते है।''

सभी सरकारी कार्यकलापो की सावधानी से जॉच करने पर आप पायेंगे कि सरकार ने अपनी पंचवर्षीय योजनाओ के द्वारा राज्य की इन नीतियो को कार्यान्वित करने का प्रयास किया है। पहली पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य सभी को समान सुअवसर प्रदान करना था, दूसरी योजना में आय एव संपति की असमताओ को कम करने और आर्थिक स्रोतो के अधिक सम वितरण का प्रयास किया गया, तीसरी योजना में समानता के उत्तरोत्तर अधिक सुअवसर प्रदान करने और आय तथा संपति की असमताओ को कम करने का प्रयास था; चौथी योजना मे आर्थिक स्थायित्व के साथ वृद्धि की अपेक्षा की गई; पाँचवी योजना में वृद्धि और सामाजिक न्याय–दोनो प्राप्त करने का प्रयास रहा और छठी योजना का लक्ष्य जनता की न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति करना था। वर्तमान सातवी पंचवर्षीय योजना में सभी को भोजन, कार्य और रोजगार देने का प्रस्ताव है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय और राज्य सरकारे योजना लागू करने की प्रक्रिया का विकेन्द्रीकरण एव लोकतंत्रीकरण करके जन समर्थन प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न कर रही हैं। अधिकांश राज्यों मे 'पंचायती राज' है, उनके विधान-मडल हैं और जनपद-स्तर पर स्थानीय निकायों को अधिक अधिकार दिए जा रहे है।

इस स्थिति मे हमारे लिए यह जानना उपयुक्त होगा कि संविधान में उल्लिखित मूल अधिकारो और राज्य की नीति के निदेशक सिद्धातो के बीच क्या सम्बन्ध है। 1976 के 42 वें सशोधन अधिनियम के पहले राज्य की नीति के निदेशक सिद्धातो की स्थिति ऐसी थी कि वे मूल अधिकारो की किंचित अवहेलना नहीं कर सकते थे। वस्तुत: इन सिद्धातो को मूल अधिकारों का अनुमोदन ही करना होता था और ये हमेशा उनके अनुपूरक ही बने रहते थे। इस संबध मे यह बात भी लागू होती थी कि मूल अधिकारों का क्षेत्र निर्धारित करते समय न्यायालयों को निदेशक सिद्धांतों की पूरी तरह से उपेक्षा नहीं करनी है बल्कि 'सुसामंजस्य' का सिद्धांत अपनाकर यथा-सम्भव दोनो को लागू करने का प्रयास करना है। मूल अधिकारों और राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तो के बीच असमाधानकारी टकराव की दशा में ही मूल अधिकारो को निदेशक सिद्धातो पर वरीयता मिलती है। राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तों की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि न्यायालय द्वारा उन्हे लागू नही कराया जा सकता। फिर भी

सविधान ने यह व्यवस्था की है कि देश के शासन में राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तो को मूल के रूप में समझा जाएगा और राज्य का यह कर्तव्य होगा कि विधि बनाते समय वह इन सिद्धान्तो को लागू करे।

अनेक देशों के सविधानों मे मूल अधिकारों और कर्तव्यों को साथ-साथ एक ही सूची में रखा गया है। भारतीय सविधान में प्रारम्भ मे मूल कर्तव्यों को एक अलग सूची में नहीं रखा गया था। कर्तव्यों का अनुमान केवल साधारण कानूनो से अथवा मूल अधिकारों में लगाए गए अकुशो से ही मिल सकता था। इस बात को अस्वीकार नही किया जा सकता कि अधिकार कर्तव्यो में निहित हैं और कर्तव्य अधिकारो मे। दूसरे शब्दो मे इसका अर्थ यह है कि कोई व्यक्ति ऐसे निरंकुश अधिकारो का उपभोग नही कर सकता जो दूसरो के अधिकारों का अतिक्रमण करते हो। अत राज्य की भूमिका इन दोनो के बीच संतुलन बनाए रखने की है। राज्य यह कार्य कानून बनाकर तथा उन्हें लागू करके करता है।

पूर्वोल्लिखित 42 वे संशोधन अधिनियम से संविधान मे कुछ महत्वपूर्ण बाते जोड़ी गई। इनमे सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात भारतीय नागरिको के कुछ कर्तव्यो को उसमे समाविष्ट करना है। भारतीय नागरिकों के इन दस मूल कर्तव्यों को जानना रूचिकर होगा। ये कर्तव्य निम्नलिखित हैं

1 संविधान को स्वीकार करना और उसके आदर्शों तथा संस्थाओं, रास्ट्रीय ध्वज और राष्ट्रीय गान का सम्मान करना;
2. उन महान आदर्शो का अनुसरण तथा पालन करना जो राष्ट्रीय स्वतत्रता सग्राम के प्रेरक थे;
3. भारत की प्रभुसत्ता, सुरक्षा और अखंडता का समर्थन एव सरक्षण करना;
4. देश की रक्षा करना और आवश्यकता पडने पर राष्ट्रीय सेवा के लिए स्वयं को अर्पित करना;
5 धर्म, भाषा, जाति और क्षेत्रीयता आदि से परे रहकर भारत के सभी लोगों मे भाईचारे और मित्रता की भावना को बढावा देना। महिलाओ की प्रतिष्ठा के लिए अपमानजनक रीतियों को त्यागना;
6. अपनी मिली-जुली संस्कृति की समृद्ध परंपरा का संरक्षण करना तथा उन्हें सम्मान देना;
7. राष्ट्रीय पर्यावरण, जिसमे झील, नदियाँ और जगली जानवर सम्मिलित है, का सरक्षण एव सुधार करना और जीव-जन्तुओ के प्रति प्रेम भाव प्रदर्शित करना;
8. वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानवतावाद और जाँच एव सुधार करने की भावना विकसित करना;
9. जन-संपत्ति का संरक्षण करना और हिंसा त्यागना; और
10 व्यक्तित्व एवं सामूहिक क्रियाकलाप के सभी क्षेत्रो मे उत्कृष्टता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते रहना जिससे कि राष्ट्र निरंतर रूप मे उद्यम एवं सफलता के उच्च स्तर की ओर अग्रसर होता रहे।

फिर 42 वें संशोधन अधिनियम के द्वारा राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांतों को मूल अधिकारो पर वरीयता दे दी गई। इसका अर्थ यह हुआ कि "निदेशक सिद्धांतों को लागू करने के लिए पारित किए गए कानुनो का इस आधार पर विरोध नहीं किया जा सकता कि वे भारतीय नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लधन करते है।" स्वास्थ्य, समाज कल्याण, शिक्षा, श्रम, रोजगार, कृषि, ग्रामीण विकास, उद्योग और वाणिज्य आदि के

लिए योजना बनाते और कार्यक्रम तैयार करते समय इन लक्ष्यों को दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिए, वरन् प्रगति के मार्ग पर बढ़ने के लिए इन्हें मार्गदर्शक समझना चाहिए।

अब प्रश्न उठता है कि शिक्षक के रूप में हमारी भूमिका क्या होनी चाहिए? शिक्षक होने के नाते हमें शिक्षा के लिए इन नागरिक अधिकारों और कर्तव्यों के निहितार्थों को समझना चाहिए। हमें इस बात का पता लगाना चाहिए कि किस प्रकार अकेले और एक साथ मिलकर ये सामाजिक शक्तियाँ साधारणत : शिक्षा द्वारा पूरे किए जाने वाले कार्य को प्रभावित करती हैं और विशेषकर अध्यापन-अधिगम की प्रक्रिया पर इन सामाजिक शक्तियों का क्या प्रभाव पड़ता है।

सारांश

1. संविधान के मूल अधिकारों में व्यक्ति की प्रतिष्ठता और उसके व्यक्तित्व के आत्मसम्मान को स्वीकार किया गया है।
2. राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांतों के रूप में विभिन्न संस्थाओं को मार्ग-निर्देश दिए गए हैं कि वे इन अधिकारों और जनता के हितों के लिए काम करें और उनका सम्मान करें।
3. 1976 के 42 वें संशोधन अधिनियम के द्वारा संविधान में दस मूल कर्तव्य समाविष्ट किए गए हैं। राज्य से लाभ उठाने वाले लोगों से अपना कर्तव्य पालन करने की भी अपेक्षा की जाती है, अर्थात् अधिकार, विशेषाधिकार और कर्तव्य साथ-साथ चलते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कर्तव्यों के बिना अधिकार नहीं हो सकते।
4. राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांतों को मूल अधिकारों पर वरीयता दी गई है।

विचिंतन प्रश्न

1. भारतीय नागरिकों के आर्थिक एवं सामाजिक अधिकार, जो मूल अधिकारो मे सम्मिलित हैं, क्या-क्या हैं?
2. भारतीय नागरिकों के मूल कर्तव्य जिन्हें 42 वें संशोधन अधिनियम के द्वारा संविधान मे सम्मिलित कर लिया गया है, क्या-क्या हैं?
3. लोकतंत्र में नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों के बीच संबंधों की व्याख्या कीजिए।
4. राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांतों से आप क्या समझते हैं? क्या उन्हें न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है? इस संबध में 42 वें संशोधन अधिनियम से क्या कोई अंतर आया है? यदि हाँ, तो वह अंतर क्या है?

इकाई 1.3 स्वतंत्र भारत के पोषित मूल्य

भारतीय समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक गणराज्य के नागरिकों के लिए कुछ मूल्यों को स्थापित करना आवश्यक है जिससे वे अपने निर्धारित आदर्शों के अनुसार उत्कृष्ट जीवन जी सकें। इन मूल्यों का उल्लेख पिछली इकाइयों में हो चुका है जिनसे अब तक आप अच्छी तरह परिचित हो चुके होंगे। इस इकाई में इन मूल्यो पर अधिक विस्तार से चर्चा की गई है कि ये मूल्य क्या हैं, इनके वर्गीकरण और विशेषताओं को किस प्रकार दर्शाया जा सकता है, उनके संबंध और सूत्र की व्याख्या किस प्रकार की जानी चाहिए तथा इनकी शिक्षण-विधि क्या हो?

मूल्यों को मनुष्य की वरीयताएँ (प्रैफरैनसिज) समझा जाता है। एक ओर उन पर इच्छा की छाप हो सकती है और दूसरी ओर वे न्याय और सत्य के प्रति प्रतिबद्धता पर आधारित हो सकते है। प्रत्येक मानव के लिए कुछ ध्येय और मूल्य चाहिए जिनसे वह अपनी दैनिक जीवन-चर्या के मार्ग-दर्शन के लिए आचार संहिता बना सके। इसी प्रकार सभी सामाजिक समूहो को भी अपने सामूहिक जीवन के मार्गदर्शन के लिए तथा अपने समवेत जीवन को भ्राति और विसंगति की बेडिया से मुक्त करने के लिए ध्येयों तथा मूल्यों की आवश्यकता होती है।

मूल्यो को विभिन्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है। इनका सबंध व्यक्ति अथवा समुदाय के भौतिक, सामाजिक, बौद्धिक, भावनात्मक, आर्थिक, सौन्दर्यपरक, नैतिक और अध्यात्मिक जीवन से है। अलग-अलग प्रकार के इन मूल्यो की अपनी निजी विशेषताएँ है जिनकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है:

भौतिक मूल्यों का संबध अच्छे स्वास्थ्य से होता है; आर्थिक मूल्य व्यक्ति एव समूहों को भोजन, कपडा और आश्रय प्रदान कर उनके भौतिक आस्तित्व को बढ़ाते हैं; सामाजिक मूल्य व्यक्ति और समूहों के बीच संतोषजनक आपसी संबंधों से जन्म लेते है; सत्य मूल्यो का निर्माण बौध्दिक खोज के क्षेत्र में होता है; सौन्दर्यपरक मूल्य सत्य, सौन्दर्य और अच्छाई के क्षेत्र में पैदा होते हैं; नैतिक मूल्यों का सबध ठीक चुनाव अथवा निर्णय करने की कसौटी से हैं; और आध्यात्मिक मूल्य व्यापक जीवन-पद्धति को प्रतिबिंबित करते हैं।

अभी तक आपको विभिन्न प्रकार के मूल्यों के बारे में बताया गया है। अब हम इस दृष्टिकोण से विचार करे कि यद्यपि प्रत्येक प्रकार के मूल्यो की अपनी निजी विशेषताएँ हैं तथापि ये सभी मूल्य एक-दूसरे से संबंधित और एक-दूसरे पर निर्भर है जिससे उनमें कुछ परिवर्तन लाना सम्भव है। इस प्रक्रिया में व्यक्तियों या समूहो के अदर मूल्यों की एक प्रणाली या मूल्यो का प्रतिमान विकसित होता है। यहाँ मूल्यो के अत: सबंधो के उदाहरण दिए जा सकते हैं। व्यक्तियों अथवा समूहो के भौतिक व दैहिक मूल्यो को उनके बौद्धिक, नैतिक, सौन्दर्यपरक, भावनात्मक और आध्यात्मिक मूल्यों के संदर्भ में समझा जा सकता है। फिर यह भी देखा जा सकता है कि भावनात्मक मूल्य व्यक्ति के भौतिक स्वास्थ्य पर निर्भर करते हैं, साथ ही भौतिक मूल्यों के लिए व्यक्ति की भावनात्मक शक्ति की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार यह भी देखा जा सकता है कि व्यक्ति का अच्छा आचरण उसकी बुद्धि का और विवेकपूर्ण निर्णय उसके नैतिक मूल्यों का सूचक है।

इन मूल्यों के अनुरूप विभिन्न प्रकार की कुरीतियाँ या अपमूल्य होते हैं। उदाहरणार्थ कुछ ऐसी भौतिक कुरीतियाँ हैं जो भौतिक भलाई के मार्ग में बाधा डालती है। कुरीतियाँ अच्छे मानवीय सम्बन्धों के अभाव में कलह का रूप ले लेती हैं।

अपने आस-पास की वस्तुओं का भली-भाँति ज्ञान न होने पर बौद्धिक कुरीतियों से बेईमानी और अविश्वास पैदा होता है।

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि इन मूल्यों के सूत्र क्या है? इन सूत्रों का पता लगाना कठिन नहीं है। पहले, हमारे मूल्य उन सभी संस्थाओं में, जो समाज और संस्कृति की मूल उपलब्धियाँ हैं, सन्निहित हैं। अत: मूल्य कोई ऐसी चीज नहीं हैं जो असम्भव और दुर्लभ हो। फिर इन मूल्यों को हमारी आकांक्षाओं और प्रयासों की अभिव्यक्ति में और हमारी उपलब्धियों में पहचाना जा सकता है। दूसरे, ये मूल्य व्यक्ति में उसके अनुभवजनित विश्वासों के रूप में विद्यमान रहते हैं। तीसरे, शाश्वत मूल्य सम्पूर्ण मानव जाति के शाशवत आदर्शों की अभिव्यक्ति होते हैं। यही कारण है कि जितनी सामाजिक संस्थाएँ है, उतनी ही मूल्य प्रणालियाँ पैदा हो जाती है और विद्यमान रहती हैं।

अब आप इस बात को समझ सकते हैं कि शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण करने की समस्या वरीयताओं और दिशा के चयन की समस्या है। इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए यह कहा जा सकता है कि पाठ्यचर्या तैयार करना, शैक्षिक सामग्री को नियोजित करना तथा उसे क्रमबद्ध करना, शैक्षिक परिणामों का पता लगाना और शैक्षिक कार्यक्रमों का मूल्यांकन करना तथा छात्रों की संख्या में वृद्धि और उनका विकास करना—ये सभी मूल्यों से संबद्ध शैक्षिक समस्याएँ हैं। यदि शिक्षा मानवीय उद्यम है, तो आप और हम जैसे शिक्षा-व्यवसायियों को मूल्य विकसित करने में शिक्षा की प्रक्रिया को समझने का प्रयास करना चाहिए। अब तक की चर्चाओं से पुष्ट होता है कि मूल्यों के विकास को व्यक्तित्व और आजीवन चलती रहने वाली प्रक्रिया समझा जाता है। यदि यह बात सही है तो मूल्यों का शिक्षण शिक्षा का एक अभिन्न अंग बन जाता है। अत: शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण मानवीय विकास को दिशा-निर्देश देने एवं मार्ग-दर्शन करने वाले सर्वाधिक महत्वपूर्ण मूल्यो पर निर्भर है। इन मूल्यों की प्राप्ति के अतिरिक्त शिक्षा का एक और दायित्व भी है। शिक्षा का उपयोग अपमूल्यों को दूर करने के लिए साधन के रूप मे भी किया जाता है। मूल्यों के संबंध में शिक्षा की दोहरी भूमिका है, मूल्यों की प्राप्ति की तथा साथ ही अपमूल्यो को दूर करने की।

यह बात दुहराई जा सकती है कि यदि शिक्षा का संबंध मानव-कल्याण से है तो शिक्षक को मूल्यों का शिक्षण करना ही होगा। तभी हमारे बच्चों में किसी व्यक्ति की भलाई और समाज के कल्याण के लिए मूल्यों का निर्माण हो सकेगा।

सारांश

1. मूल्य वरीयताएँ ही हैं।
2. मूल्यों की आवश्यकता लोकतंत्र, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता के आदर्शों के अनुसार उत्कृष्ट जीवन जीने के लिए है।
3. मूल्य या तो इच्छामूलक हो सकते हैं या न्याय और सत्य के प्रति प्रतिबद्ध हो सकते हैं।
4. किसी भी समाज के मूल्यों को भौतिक, सामाजिक, आर्थिक, भावनात्मक, सौन्दर्यपरक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों में वर्गीकृत किया जा सकता है। इन

मूल्यों की विसंगति मे अपमूल्य अथवा कुरीतियाँ होती हैं, जैसे-भौतिक कुरीतियाँ, सामाजिक कुरीतियाँ आर्थिक कुरीतियाँ, भावनात्मक कुरीतियाँ, सौन्दर्यपरक कुरीतियाँ, नैतिक कुरीतियाँ और आध्यात्मिक कुरीतियाँ।

5. मूल्यों के सूत्र सांस्कृतिक उपलब्धियों, सामाजिक संस्थाओं और व्यक्तियों मे सन्निहित होते हैं। अतः जितने व्यक्ति, संस्थाएँ और सामाजिक प्रणालियाँ होगीं, उतनी ही मूल्य प्रणालियाँ भी होंगी।
6. प्रत्येक मूल्य की अपनी निजी विशेषता होती है किन्तु अन्य मूल्यों के साथ अंतःसंबंधों से उसकी मान्यता में परिवर्तन आ सकता है।
7. इन सभी मूल्यों को लोकतांत्रिक, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष समाज में विकसित करना चाहिए और अपमूल्यों का उन्मूलन कर देना चाहिए।

विचिंतन प्रश्न

1. मूल्य क्या हैं?
2. मूल्य कितने प्रकार के होते है और इन मूल्यों का वर्गीकरण हम किस प्रकार कर सकते है? उदाहरण दीजिए।
3. मूल्यो के सूत्र कौन-कौन से हैं?
4. क्या आप यह कह सकते है कि यद्यपि मूल्य एक दूसरे से संबंधित होते है फिर भी प्रत्येक मूल्य की अपनी निजी विशेषता होती है? इसके उदाहरण दीजिए।
5. मूल्यों के शिक्षण में और अपमूल्यों को दूर करने में शिक्षक की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
6. एक शिक्षक के रूप में आप बच्चो मे मूल्य पैदा करने में तथा परिवर्धित करने में किस प्रकार सहायक हो सकते हैं?

इकाई 1.4 गांधीवादी मूल्यों का उभरते भारतीय समाज पर प्रभाव

महात्मा गांधी की विचारधारा तीन मुख्य स्रोतों अर्थात् सत्य, अहिंसा और प्रेम से जीवन-रस ग्रहण करती है। ये स्रोत स्वतंत्र भारत के भी आधारभूत सिद्धांत रहे हैं। महात्मा गांधी ने एक बार इस प्रसंग में लिखा था :

"हमारे सभी क्रियाकलाप सत्य पर केंन्द्रित होने चाहिएँ। सत्य के बिना जीवन के किसी सिद्धान्त अथवा नियम का पालन कर पाना असम्भव है। अहिंसा के बिना सत्य की खोज सम्भव नहीं है.... अहिंसा हमें अपने धर्म की भाँति ही अन्य धर्मों का सम्मान करने की शिक्षा देती है। इससे हम स्वीकार करते हैं कि हमारा धर्म पूर्ण नहीं है। यह बात प्रेम के नियम का अनुसरण करनेवाले सत्य के जिज्ञासु सरलता से मान जाएँगे। अस्पृश्यता हटाने का अर्थ है— पूरे विश्व की सेवा से प्रेम होना और अहिंसा का पालन करना। अस्पृश्यता का हटाना मनुष्य- मनुष्य के बीच की दीवार तोड़ना है।..... नैतिकता विश्व के सभी धर्मों का एक अनिवार्य अंग है किन्तु धर्म के अतिरिक्त भी हमारी सहज बुद्धि नैतिक नियम का पालन करने की आवश्यकता बताती है।"

गाधीजी साध्य से साधन को अधिक महत्त्व देते थे। उनका कहना था कि यदि साध्य सही भी हो पर साधन गलत हो तो यह साध्य को दूषित कर देगा और उसे गलत दिशा में मोड देगा। गांधी जी के अनुसार साधन और साध्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वे लोकतांत्रिक मूल्यों को स्वीकार करते थे।

वे अधिकारों से अधिक कर्तव्यों को प्रमुखता देते थे। उनका कहना था कि "यदि सभी लोग केवल अपने अधिकारों पर ही बल दे, कर्तव्यों पर नही तो चारो ओर भ्रांति तथा अराजकता व्याप्त हो जाएगी। यदि हर व्यक्ति अधिकारो पर बल देने के स्थान पर अपना कर्तव्य निभाए तो मानव-मानव के बीच तत्काल व्यवस्था का शासन स्थापित हो जाएगा।"

गाधीजी के इस आग्रह के बावजूद यह देखकर आश्चर्य होता है कि 1950 में भारतीय सविधान मे नागरिको के कर्तव्य समाविष्ट नहीं किए गए, किन्तु इस भूल को 1976 के 42 वे सशोधन अधिनियम द्वारा सुधार लिया गया।

इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए गाधीजी ने साम्प्रदायिक सौहार्द स्थापित करने, वर्ग-भेद समाप्त करने, मद्यपान पर रोक लगाने, कुटीर उद्योगों को बढावा देने, गाँवो की सफाई में सुधार लाने, पुरूषों और महिलाओ—दोनों को समान पद और अधिकार दिलाने के लिए कार्य करने, कृषि का विकास करने, कुष्ठ रोगियो की सेवा करने, आर्थिक असमानता दूर करने और श्रमिक कल्याण कार्य आयोजित करने आदि जैसे रचनात्मक कार्यक्रमों का सुझाव दिया था।

राजनीति के क्षेत्र में वे शासक और शासित के बीच मधुर संबंधों के पक्ष मे थे। देश की स्वाधीनता के लिए वे रक्तपात वाली क्रांति नही चाहते थे। उन्होंने सत्याग्रह से ही देश को स्वतंत्रता दिलाई। अग्रेजी शासन से भारतीय जनता को सत्ता हस्तान्तरण करने मे सघर्ष टालने के लिए उन्होंने बातचीत और समझौते का मार्ग अपनाया। इस प्रकार स्वतत्र भारत का जन्म इस बातचीत और राजनैतिक समझौते के फलस्वरूप हुआ न कि रक्तपात वाली क्राति से। इस प्रसग मे हुमायूँ कबीर ने लिखा है-- "भारत के राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम मे अहिंसा की विशेष भूमिका रही है। यही सम्भवत भारत को और विश्व को गाधीजी की सबसे बडी देन है।" समाज शास्त्र के क्षेत्र मे वे जाति-धर्म के कारण समाज में विद्यमान गुटबंदी के विरोधी थे। वे इन्हे समाप्त करने के लिए कटिबद्ध थे। सांप्रदायिकता के सकीर्ण विचारों के लिए उत्तरदायी अनेक लोगो के मन से पूर्वाग्रह और अधविश्वास का पर्दा हटाकर उन्होंने समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच मेलजोल के द्वार खोल दिए। अपने सभी सहयोगियो के प्रति गांधीजी के इस बुनियादी रवैये ने स्वतंत्रता मिलने से पूर्व तथा उसके तुरन्त बाद स्वतंत्र भारत की नियति का मार्गदर्शन करने मे और उसे रूप प्रदान करने मे प्रेरणा का काम किया। स्वतत्र भारत ने धर्म-निरपेक्षता को अपना एक राष्ट्रीय लक्ष्य स्वीकार कर उचित ही किया है। आर्थिक धरातल पर उन्होने सभी परिवारों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए कार्य किया जिससे वे आर्थिक शोषण की लपेट में न आएँ। इसे ध्यान मे रखकर उन्होंने कुटीर उद्योग और ग्रामोद्योग का विचार सामने रखा। स्वतत्र भारत अपनी आर्थिक नीति के मार्गदर्शन के लिए समाजवाद के अतिरिक्त कुछ और सोच भी नहीं सकता था।

इसी पृष्ठभूमि मे हमे शिक्षा मे गांधीवादी मूल्यों को परखना और विश्लेषण करना है। गांधीजी का विश्वास था कि शिक्षा के द्वारा सामुदायिक जीवन के सभी क्षेत्रो मे सुधार के लिए एक मौन सामाजिक क्राति लाई जा सकती है। उन्होने शिक्षा की सामाजिक महत्ता को ठीक

अर्थो में समझा। क्योंकि इसका व्यक्तियो के मन एव चरित्र पर प्रभाव पड़ता है। महात्मा गांधी पेशेवर शिक्षाविद् नहीं थे। वे वकील थे। आदर्शवादी और मानवतावादी होने के नाते वे मनुष्य के आदर्शों की प्राप्ति में, उसकी बुद्धि, सृजनशक्ति और सामाजिक तथा नैतिक मूल्यो के विकास में तथा उसके भौतिक तथा सामाजिक कल्याण मे वृद्धि के लिए मानव को सबसे अधिक महत्व प्रदान करते थे। इसलिए उन्होने उद्घोषित किया कि "शिक्षा से मेरा आशय सर्वागीण विकास से है— यानि मस्तिष्क, हृदय और हाथ की शिक्षा के लिए बच्चे और मनुष्य के शरीर, मन तथा आत्मा का सर्वोत्तम विकास।"

ज्ञानात्मक, भावनात्मक और मनो-प्रेरणात्मक क्षेत्रो की इस समन्वित शिक्षा का उद्देश्य बच्चो के चरित्र के विकास से है। दूसरे शब्दो मे इस शिक्षा का आशय बुद्धि की शिक्षा, इच्छा अथवा भावना की शिक्षा और शारीरिक दक्षता की शिक्षा से है जो व्यक्ति को सही अर्थो मे मनुष्य बनाने के लिए साथ-साथ दी जानी चाहिये।

शिक्षा के सबध मे गाधीजी का दूसरा बल 'विद्वता' के बजाय 'सेवा' पर था जिससे शिक्षार्थी आत्मनिर्भर बनना और शारीरिक श्रम का सम्मान करना सीखे। वे व्यक्ति को महान विद्वान बनाने की अपेक्षा मानवीय गुणो से युक्त बनाने के पक्ष में थे। ऐसा नही था कि उनमें बौद्धिकता के लिए आदरभाव नहीं था, किन्तु वह उसका आदर वही तक करते थे जहाँ तक व्यक्ति उसका उपयोग अपने सहजनों और पूरे समाज के कल्याण में करे।

शिक्षा के सबंध मे उनका तीसरा बल इस बात पर था कि उसकी जड़ें जनता की संस्कृति मे होनी चाहिएँ। इसके लिए उन्होने बुनियादी शिक्षा पर बल दिया जिसे वे व्यवहार में भी लाए। उन्होने उसे जीवन के लिए अनिवार्य शिक्षा माना। उनके अनुसार— "ऐसी शिक्षा से एक ऐसे समाज की व्यवस्था की जा सकती है जो शोषण और हिंसा से मुक्त हो।"

बुनियादी शिक्षा मे

(क) अवलोकन, कार्यकलाप और व्यावहारिक अनुभव से ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

(ख) विद्यालय और समुदाय मे घनिष्ठ सबध रहता है जिससे शिक्षा समाज-मूलक और बच्चे सामाजिक रूप से सहयोगी बनते हैं।

(ग) उत्पादक कार्यों और शिल्प पर बल देने का अर्थ यह नही है कि पुस्तकीय अध्ययन की उपेक्षा की जाए।

(घ) बुनियादी शिल्प का प्रभावपूर्ण शिक्षण शिक्षा का अनिवार्य अग बन जाता है।

(ङ) शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से दी जाती है।

इस प्रकार उन्होंने ऐसी शिक्षा-पद्धति को अधिक महत्व दिया है जो सभी बच्चों को बुनियादी शिक्षा पाने के लिए विद्यालय जाने को प्रोत्साहित करे तथा जिसके द्वारा उनकी बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी हों।

भारत की सामाजिक एवं सांस्कृतिक विविधता को अतीत की विरासत मानकर उन्होंने बुनियादी शिक्षा के कार्यक्रम में विभिन्न सांस्कृतिक योजनाओं का समावेश कर वर्तमान और भविष्य की माँगों की पूर्ति के लिए हल निकालने का प्रयास किया।

यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि आधुनिक भारतीय विचारकों में गांधी ही अकेले ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने आधुनिक प्रौद्योगिक सभ्यता के विरूद्ध चेतावनी दी क्योंकि उसमें मनुष्य को मशीन बनाने की क्षमता और सामर्थ्य है। प्रौद्योगिक सभ्यता मनुष्य को यंत्रवत जीवन

जीने को विवश करती है। व्यक्ति रचनात्मक चिंतन-शक्ति खो बैठता है और उसके व्यक्तित्व की वृद्धि और विकास रूक जाते है।

गाधीजी का छात्रो और शिक्षकों के आचार के बारे में एक निश्चित मत था। वे छात्रों और शिक्षकों—दोनों के लिए एक आचार संहिता बनाने के पक्ष में थे। उनका सुझाव था कि छात्र अपने अंदर राष्ट्रीय एकता और धर्मनिरपेक्षता की सही भावना के विकास के लिए गाँवो मे जाएँ और रचनात्मक कार्य कर निरक्षरता तथा अस्पृश्यता दूर करे और विभिन्न धर्मों, भाषाओं, जातियों और समुदायो के लोगो के साथ मित्रता बढ़ाएँ। उन्होंने यह मत भी प्रकट किया कि सच्चा लोकतंत्र तब तक नही पनप सकता जब तक उसके नागरिकों को चरित्र विकास की शिक्षा न मिले।

गांधीजी समाज में शिक्षण-व्यवसाय को कम प्रतिष्ठा मिलने से दुखी थे। उनका कहना था कि समाज में शिक्षकों की प्रतिष्ठा उनके वेतन के आधार पर नही, बल्कि उनके कार्य के रूप से आँकनी चाहिए। शिक्षकों को 'राष्ट्र निर्माता' कहा करते थे। अध्यापकों को ही बच्चो के चरित्र का निर्माण इस ढग से करना है कि वयस्क होने पर वे सामाजिक पुनर्निर्माण करने मे अच्छे और उपयोगी नागरिकों की भूमिका निभा सकें। उन्होंने राज्य को चेतावनी देते हुए यह भी कहा—"असंतुष्ट शिक्षक लोकतांत्रिक एव समाजवादी समाज के लिए संकट पैदा कर सकते हैं।"

सारांश

1. गांधीजी के जीवन दर्शन का स्वतंत्र भारत के राष्ट्रीय ध्येयों के निर्धारण पर बहुत प्रभाव है।
2. राजनैतिक क्षेत्र में वे शासक और शासित के बीच मधुर संबंध बनाए रखने के पक्ष में थे। इस साधन से ही उन्होंने भारत को स्वतंत्रता दिलाने में सहायता की।
3. समाज-शास्त्र के क्षेत्र में वे जाति-धर्म के कारण समाज मे विद्यमान गुटबन्दी के विरोधी थे।
4. आर्थिक क्षेत्र मे उन्होने सभी परिवारों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए कार्य किया जिससे वे आर्थिक शोषण के शिकार न हों।
5. शिक्षा-सबंधी गाधीवादी दर्शन की व्युत्पत्ति सत्य, अहिंसा और विश्वप्रेम पर आधारित गाधीवादी जीवन-दर्शन से हुई है।
6. गाधीजी के अनुसार शिक्षा का प्रथम उद्देश्य मनुष्य का चरित्र निर्माण है जिसकी अभिव्यक्ति हृदय के गुणो से होती है।
7. सर्जनात्मक एव उत्पादक कार्यकलापो द्वारा तथा उनमें आत्म-विश्वास और आत्म-सहायता की भावना जगाकर वे बच्चों को सर्वांगीण शिक्षा देने के पक्ष में थे।
8. उन्होने वर्तमान पाठ्यचर्या मे आमूलचूल परिवर्तन के लिए शख फूका जिससे छात्र अपने भौतिक एवं सामाजिक पर्यावरण के बारे मे और समाज की मिलीजुली क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय संस्कृति के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त कर सकें।

9. अति-राष्ट्रीयता अथवा संकीर्ण-राष्ट्रीयता में उनका विश्वास नहीं था। वे चाहते थे कि विद्यालयों मे शिक्षा इस प्रकार से दी जाए जिससे बच्चों का मानसिक दृष्टिकोण अधिक व्यापक हो, वे अन्य देशो की संस्कृतियों के सर्वोत्तम गुणों को ग्रहण कर सके और इस प्रकार बृहतर विश्व समुदाय मे अपनी भूमिका समझ सकें।

विचिंतन प्रश्न

1. स्वतन्त्र भारत के आधारभूत सिद्धातो का संबध गाँधीजी के सत्य, अहिसा और प्रेम की धारणाओं से किस प्रकार स्थापित कर सकते हैं?
2. लोकतांत्रिक प्रक्रिया मे साधन और साध्य—दोनो को किस प्रकार एक साथ लागू किया जा सकता है?
3. 'लोकतांत्रिक राज्य में अधिकार और कर्तव्य एक दूसरे पर निर्भर है', गाधीजी द्वारा बताए गए नागरिको के बुनियादी कार्यो के संदर्भ मे इसकी व्याख्या कीजिए।
4. सहकारी जीवन से गांधीजी का क्या अभिप्राय था?
5. बच्चे के व्यक्तित्व को विकसित करने मे कार्योन्मुख शिक्षा किस प्रकार सहायक हो सकती है?
6. शिक्षा के माध्यम के बारे मे गाधीजी के विचार क्या थे?
7. 'सर्वधर्म समभाव' की संकल्पना से क्या तात्पर्य है?
8. 'शिक्षा से साप्रदायिकता' हटाने के बारे मे गाधीजी के विचार क्या थे?
9. छात्रो को गाँधीजी 'राष्ट्र का नमक' क्यों मानते थे?
10. गाधीजी के निम्नलिखित शब्दो मे व्यक्त विचारो की व्याख्या कीजिए

"मै नहीं चाहता कि मेरे घर के चारो ओर दीवारों का घेरा हो और खिडकियाँ बंद हो। मै चाहता हू कि सभी देशो की सस्कृति की हवा पूरी शुद्धता से मेरे घर के चारो ओर बहे। किन्तु मै किसी झोके के साथ बह जाने को तैयार नहीं।"

दूसरा अध्याय

समकालीन भारतीय समाज

उभरते भारतीय समाज के स्वरूप का कुछ संकेत पिछले अध्याय मे किया जा चुका है। यह तो आप जानते ही हैं कि किसी भी समाज का उद्‌भव शून्य मे नहीं होता। समाज का विकास उसके विद्यमान रूप से ही होता है। अत: यदि हम विद्यमान समाज में परिवर्तन लाना चाहते है तो उसकी ठीक-ठीक जानकारी होना आवश्यक है।

इस अध्याय के प्रारम्भ मे इकाई 2.1 मे सामाजिक-सास्कृतिक परम्परा के सदर्भ मे वर्तमान भारतीय समाज का विश्लेषण किया गया है। इस इकाई मे यह बताया गया है कि अपने मूल्यों के लिए किन-किन परपराओ को सरक्षित रखा गया है और वे कौन-कौन सी परंपराएँ है जो समाज की अन्य मांगो के बावजूद अभी भी समाप्त होने मे नहीं आ रही। इकाई 2.2, 2.3 और 2.4 में वास्तविक आर्थिक, सामाजिक—राजनैतिक और शैक्षिक परिदृश्य का और उनके साथ ही सरकार के उन कार्यकलापों का उल्लेख किया गया है जो उसके आदर्शों को दिशा प्रदान करते हैं। कुल मिलाकर इस अध्याय में समकालीन भारतीय समाज की सामाजिक मागों की तुलना में उसकी वास्तविक सामाजिक प्रथाओं का एक चित्र प्रस्तुत किया गया है।

वर्तमान समाज के बारे में आपकी कुछ धारणाएँ होंगी। किन्तु आपकी ये धारणाएँ सम्भवत: अपर्याप्त ज्ञान पर आधारित होने के कारण आंशिक रूप से ही सत्य हो सकती है। हो सकता है कि आपकी जानकारी देश के एक क्षेत्र-विशेष या वर्ग-विशेष तक सीमित हो। ऐसी स्थिति में आपका दृष्टिकोण भारतीय समाज का व्यापक तथा प्रतिनिधि चित्र प्रस्तुत नही कर सकता। वस्तुत इतिहास की दृष्टि से भारत के अलग-अलग क्षेत्रो का विकास अलग-अलग परिस्थितियो मे अपने-अपने ढग से हुआ है। इसलिए आज हमे देश मे समाज के भिन्न-भिन्न स्वरूप देखने को मिलते है। फिर भी यह कहना गलत होगा कि उनमे समान तत्व नहीं है। हमारे देश के सामाजिक संगठन में युगो से कुछ समान लक्षण या विशेषताएँ विकसित होती रही हैं।

इकाई 2.1 भारतीय समाज की सामाजिक- सांस्कृतिक परंपराएँ

कहा जाता है कि भारतीय समाज में एक ऐसी अद्वितीय संस्कृति का विकास हुआ है जो विविधता में एकता का एक अनुपम उदाहरण है। भारतीय सस्कृति हजारों वर्षों के विकास का फल है। इसे विकास की निरंतर प्रक्रिया से गुजरना पड़ा है। इतिहास साक्षी है कि विश्व के अलग-अलग भागो से अनेक जन-समूह भारत मे आकर बसे और अपने साथ वे अपनी सांस्कृतिक परंपराएँ भी लाए। भारतीय संस्कृति के विकास में उनका भी योगदान रहा है। आपको स्मरण होगा कि भारत में सबसे पहले आने वाले आर्य लोग थे। वे मध्य एशिया से आए थे। इसके बाद विश्व के अन्य भागो से भी भारत में लोगों का आना प्रारम्भ हो गया और वे यहीं स्थायी रूप से बस गए।

संस्कृति संक्रमण की प्रक्रिया से इनकी सांस्कृतिक परम्पराएँ भारत की अपनी संस्कृति में घुल-मिल गई।

अन्य देशों से आने वाले लोगों के साथ न केवल वाणिज्य की वस्तुओं का लेन-देन हुआ बल्कि विचारों, आस्थाओं, अनुष्ठानों और रीति-रिवाजों जैसे सांस्कृतिक घटकों का भी आदान-प्रदान हुआ। इस प्रकार भारत में एक ऐसी मिली-जुली संस्कृति विकसित हुई जिसमें अनेक संस्कृतियों का वैभव एवं विविधता रच-खप गई है।

आप तो जानते है कि भारत एक उपमहाद्वीप जैसा विशाल देश है। इसमें अपना विशेष रूप लिए विविध प्रादेशिक संस्कृतियाँ हैं। आपने स्वयं यह अनुभव किया होगा कि भारत में हर प्रदेश की अपनी-अपनी अलग-अलग संस्कृतियां है। भारत के लोगों में भाषा, जाति, धर्म, आस्थाएँ, परंपराएँ जैसे सांस्कृतिक घटक इतने अलग-अलग हैं कि कभी-कभी ये खुले संघर्ष और हिंसा तक का कारण बन जाते है। फिर भी दीर्घकाल तक विविध संस्कृतियों में आदान-प्रदान होते रहने से तथाकथित भारतीय संस्कृति के उद्भव तथा विकास में सहायता मिली है।

भारत की प्राचीन संस्कृति इतनी लचीली रही है कि इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की परस्पर-विरोधी आस्थाएँ एवं परंपराएँ घुलती-मिलती रही हैं। साथ ही यह इतनी अनुमत रही है कि इसने संस्कृति की विविध लड़ियों का साथ-साथ विकास होने दिया है। भारतीय संस्कृति का एक विशेष गुण अन्य धर्मों का सम्मान करना तथा उनके प्रति सहिष्णुता बरतना रहा है। अशोक के राजादेश अन्य धर्मों के प्रति भारतीय संस्कृति के विश्वव्यापी दृष्टिकोण के प्रमाण हैं।

युगों से प्रचलित भारतीय भाषाओं और साहित्य, कला और शिल्प, दर्शन, विज्ञान और संगीत के विकास में हमें संश्लेषण का कुछ अंश मिलता है। बौद्ध धर्म ने पाली और मगधी जैसी प्राकृत भाषाएँ विकसित की। जिन क्षेत्रों में बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ, वहाँ ये भाषाएँ जनसाधारण की बोली रही हैं। ये भाषाएँ बाद में कुछ आधुनिक भारतीय भाषाओं का आधार बनी हैं। गुप्तकाल में संस्कृत साहित्य में उल्लेखनीय रचना कार्य हुआ। इसी युग में विश्व प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' जैसी महान साहित्यिक कृतियों की रचना हुई।

आपने गुरु नानक, ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती और कबीर के बारे में थोडा बहुत अवश्य पढ़ा होगा। ये महान पुरुष मध्य युग में भक्ति और सूफी आंदोलन से जुडे थे। उनकी शिक्षाओं ने भारत में विभिन्न धर्मावलम्बियों को जोडने में बड़ी भूमिका निभाई। ये आंदोलन भारत में तुर्कों के प्रवेश के बाद और मुगल काल में फले-फूले थे। नानक और कबीर ने धार्मिक कट्टरता और जाति-पाँति के भेद-भाव के विरुद्ध आवाज उठाई।

उन्होंने प्रेम और भाई-चारे का संदेश दिया। इसके पहले ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती और हज़रत निजामुद्दीन औलिया ने भाई-चारे और एकता के संदेश को फैलाया। विभिन्न धर्मों के लोग बड़ी संख्या में इनके संदेश से प्रभावित हुए।

मध्यकाल में भी प्रादेशिक भाषाओं और साहित्य, शिल्प, चित्रकला और संगीत का उल्लेखनीय विकास हुआ। शिल्प में भारत की प्राचीन परंपराओं के साथ फारस और मध्य एशिया की परंपराओं का मेल हुआ जिससे एक नई शैली को जन्म मिला। इसी प्रकार संगीत में सितार जैसे कुछ नए वाद्यों का विकास हुआ और साथ ही संगीत की कुछ नई विधाएँ भी सामने आईं।

मुगलो के समय में सांस्कृतिक संश्लेषण की प्रक्रिया पूरी हो चुकी थी। उस समय भारत-इस्लामी शिल्प अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा हुआ

था। भारत के लोगों में, विशेष रूप से शहर में रहने वाले लोगो मे सवाद के माध्यम के रूप में एक नई भाषा 'उर्दू' का विकास हुआ।

किन्तु ये सभी विकास अति प्रभुत्व संपन्न सामन्ती संरचना वाले मध्ययुगीन समाज के ढाँचे में हुए। इस बात के काफी प्रमाण है कि एक ओर जहाँ सामंती संरचना थी वहाँ उसके साथ ही कुछ क्षेत्रों में आदिम कबीलाई जनजातीय और दास प्रथा वाली सामाजिक संरचना के पूर्व रूप भी विद्यमान थे।

देश के कुछ क्षेत्रों में ये संबंध दीर्घकाल तक बने रहे। भोजन जैसी जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं को जुटाने के लिए लोग सामूहिक श्रम करते थे, जैसे शिकार करना, आदिम खेती करना आदि। फिर सभी आपस में मिलकर इन उत्पादनों का उपभोग करते थे। इसी को 'आदिम कबीलाई सामाजिक संबंध' कहा गया है जो मानव इतिहास में सामाजिक संगठन के आदि रूप को प्रकट करते हैं। संभवत: आज भारत का कोई भाग ऐसा नहीं है जहाँ इस प्रकार की सामाजिक संरचना मिलती हो। किन्तु अन्य रूपों अर्थात् सामन्ती, जनजातीय और दासप्रथा वाले उत्पादन-परक संबंधों के अवशेष अब भी मिल जाते हैं, यद्यपि बहुत छोटे स्तर पर। उदाहरणार्थ आपने कुछ ग्रामीण क्षेत्रों में मिलने वाले बन्धुआ मज़दूरी के रूप में दास प्रथा वाले सबंधों के बारे में सुना ही होगा।

मध्ययुगीन भारत में सामंतवाद के विभिन्न प्रकार और विभिन्न रूप प्रचलित थे। सामंतवाद भू-स्वामियों और कृषि-उत्पादको के बीच के संबंधों को प्रकट करता है। यह भी प्राय: निश्चित जान पड़ता है कि उस काल मे कुछ शहरी क्षेत्रों में, जहाँ शिल्प उद्योग पनप रहे थे, पूँजीवादी सबधो के प्रारंभिक लक्षण भी प्रकट होने लगे थे। उदाहरणार्थ कुछ नगरों में दस्तकार स्वय, और अपना सघ बनाकर भी, महीन सूती और रेशमी वस्त्र तैयार करते थे। कभी-कभी वे छोटे पैमाने पर वेतन-मजदूरों को भी अपने काम में लगा लेते तथा उनसे माल तैयार कराकर उसे मुनाफे से बेचते। इसे भारत में पूँजीवादी उद्योग की शुरूआत माना जा सकता है।

हम इस बात के महत्व से इकार नही कर सकते कि विविधता मे एकता वाली भारतीय संस्कृति के अनेक लाभ हैं, किन्तु उपर्युक्त समाज-व्यवस्था के नकारात्मक परिणामो की उपेक्षा करना भी गलत होगा। भारतीय समाज पर दीर्घकाल तक छाए रहे सामंतवाद ने जनता के एक विशाल बहुमत को अशिक्षित और गरीब बनाए रखा और उसे अमानवीय जीवन जीना पडा। उसे हर प्रकार के अध-विश्वास और भाग्यवाद का सहारा लेना पड़ा और उसकी अपनी सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति सुधारने की ललक मर गई। यहाँ तक कि ब्रिटिश शासन के दौरान परिवहन, संचार, उद्योग, आयुर्विज्ञान आदि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विज्ञान का प्रयोग होने के बावजूद भारतीय संस्कृति के इस पक्ष मेंअधिक परिवर्तन नही लाया जा सका।

पारंपरिक भारतीय समाज के दो स्पष्ट लक्षण हैं— जाति-प्रथा और संयुक्त परिवार प्रणाली। आइए, अब हम इनकी वर्तमान स्थिति पर दृष्टिपात करें।

पारंपरिक जाति-प्रथा बहुत ही कठोर और कष्टकारी रही है। स्वतंत्रता के बाद सामाजिक मामलों मे ऊँची जातियों और नीची जातियो के बीच के आपत्तिजनक भेद-भाव दूर करने के अनेक उपाय लागू किए गए हैं। अस्पृश्यता पर कानूनी रोक लगा दी गई है और इसका व्यवहार घोर अपराध माना गया है। इस संबंध में भारतीय संविधान मे स्वीकृत एक मूल अधिकार मे यह उल्लेख है कि "राज्याधीन नौकरियों या पदो पर

नियुक्ति के संबंध में सब नागरिकों के लिए अवसर की समता होगी। केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, उद्भव, जन्म स्थान, निवास अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर किसी नागरिक के लिए राज्याधीन किसी नौकरी या पद के विषय में न अपात्रता होगी और न विभेद किया जाएगा।"

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों को भारतीय समाज के अन्य वर्गों के समकक्ष लाने के लिए उन्हें व्यावसायिक एवं शैक्षिक संस्थाओं में दाखिला देने तथा सरकारी नौकरी देने के मामले में कुछ विशेष रियायतें दी गई हैं। इसके अलावा उन्हें निःशुल्क शिक्षा और छात्रवृत्तियाँ देने की व्यवस्था की गई है जिससे वे अपनी शिक्षा जारी रख सकें और अच्छी नौकरी पाने के अधिक अवसर पा सकें।

इन उपायों के बावजूद सामान्य रूप से छोटी जातियों का सामाजिक और आर्थिक स्तर अब भी साधारणतः संतोषजनक नहीं हो पाया है। उन्हें प्रायः सामाजिक भेदभाव का और कभी-कभी दमन का शिकार बनाया जाता है, कभी-कभी ऊँची जाति के लोग उनके साथ हिंसा भी बरतते हैं। इन सुधारक उपायों का लाभ अधिकांशतः अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के संपन्न और राजनैतिक दृष्टि से प्रभावशाली वर्ग हड़प जाते हैं और जिन्हें इन उपायों का वास्तव में लाभ मिलना चाहिए वे उससे वंचित रह जाते हैं।

निस्संदेह पिछले कुछ दशकों में जाति-प्रथा में कुछ कारणों से कुछ अंशों में हलचल पैदा हुई है, इसका अनुभव आपने स्वयं किया होगा। वयस्क मताधिकार और पंचायती राज के कारण गांव, जनपद और राज्य स्तर की राजनीति में बहुसंख्यावाली जातियों को अपना दबाव डालने के नए अवसर मिले हैं। कुछ क्षेत्रों में कई छोटी जातियाँ अब अपने राजनैतिक अथवा आर्थिक महत्त्व के कारण क्रम-परम्परा में ऊँची उठ गयी हैं।

यह आशा की गई थी कि नगरीकरण और औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया से जाति-प्रथा अपने आप समाप्त हो जाएगी, किन्तु अभी तक इस दिशा में मामूली सी सफलता ही मिल पाई है। शहरी जीवन की गुमनामी से जाति-प्रथा की पकड़ कुछ ढीली अवश्य पड़ गई है, फिर भी भारतीय समाज की जाति-संरचना अभी भी बरकरार है।

जैसी स्थिति है उसमें जाति और वर्ग साथ-साथ चलते रहे हैं। जाति जितनी ऊंची होगी, उसके उतने ही अधिक संपन्न होने की संभावना होती है। छोटी जातियाँ अधिकतर निचले आय वर्ग में होती हैं। अतः अधिक सम्भावना यही है कि जब ऊँची जातियों का प्रभुत्व बनाए रखने वाला पुराना आर्थिक ढाँचा ध्वस्त हो जाएगा तो जातीय भेदभाव भी मिट जाएगा।

जाति-प्रथा की ही भाँति पारंपरिक भारतीय समाज में आज तक विद्यमान एक अन्य विशेषता संयुक्त परिवार प्रणाली रही है। वस्तुतः स्मरणातीत काल से ही परम्परागत गैर यांत्रिक कृषि के संदर्भ में जो भारतीय जनता का मुख्य जीवनाधार रही, संयुक्त परिवार प्रणाली एक आवश्यकता थी, किन्तु कृषि की आधुनिक तकनीकें लागू होने, गाँवों में जीवन-यापन के मुख्य सूत्रों के रूप में अन्य व्यवसायों के पनपने और साथ ही शहरी क्षेत्रों में आधुनिक उद्योगों के विकास से संयुक्त परिवारों के रूपांतरण की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई पड़ रही है और उनका स्थान अब एकल परिवार ले रहे हैं, जिनमें केवल पति-पत्नी और उनके बच्चे ही होते हैं।

परिवार की संरचना में परिवर्तन आ जाने से परिवार के सदस्यों के आपसी संबंधों पर प्रभाव पड़ा है। परिवार-व्यवस्था गाँवों और जाति-प्रथा के पारंपरिक दबावों से धीरे-धीरे अधिक मुक्त

होती जा रही है। इसके साथ ही भारतीय समाज में अन्य परिवर्तन ला रही व्यावसायिक विविधता ने स्वयं पारिवारिक प्रणाली में घर करना प्रारम्भ कर दिया है। उदाहरणार्थ पारिवारिक व्यवसाय में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में बदलाव आने की अब अधिक सभावना है। न केवल परिवार की दो पीढियों के व्यवसाय में अधिक तेजी से परिवर्तन आ रहा है वरन् एक ही पीढी के सदस्य भी विभिन्न व्यवसाय अपना रहे हैं। भारतीय परिवार में इस प्रकार जो परिवर्तन आ रहे हैं, उनकी पुष्टि आपको अपने निजी अवलोकनों से हो जाएगी।

परिवार के पारंपरिक व्यवसाय में इस प्रकार के परिवर्तनों से नए-नए तनाव उत्पन्न हो सकते हैं क्योंकि पारंपरिक भारतीय परिवार अभी उनके लिए तैयार नहीं है। किन्तु भारतीय परिवार की संरचना में इन परिवर्तनों के एक बार स्थिर हो जाने पर वर्तमान तनावों में कमी होने की आशा की जा सकती है।

सारांश

1. भारत में एक मिली-जुली संस्कृति विकसित हुई जिसमें अनेक संस्कृतियों का वैभव और विविधता घुल-मिल गई है।
2. मुगल शासन के दौरान सांस्कृतिक संश्लेषण की प्रक्रिया पूरी हो गई थी।
3. ये सभी विकास प्रभुत्व संपन्न सामंतवादी संरचना वाले मध्ययुगीन समाज के ढाँचे के अंदर ही हुए।
4. सामतवाद के कारण, जिसका भारतीय समाज पर दीर्घकाल तक प्रभुत्व रहा, जनता का विशाल बहुमत अशिक्षित और गरीब बना रहा और उसे अमानवीय जीवन जीना पड़ा। यहाँ तक कि ब्रिटिश शासन के दौरान लागू किए गए वैज्ञानिक साधन भी भारतीय संस्कृति के इस रूप को बदलने में विशेष सहायता नहीं कर सके।
5. पारपरिक भारतीय समाज की दो मुख्य विशेषताएँ हैं- जाति-प्रथा और संयुक्त परिवार प्रणाली।
6. सामाजिक मामलों में ऊँची जाति और छोटी जाति की भावना दूर करने के लिए स्वतंत्रता के बाद अनेक उपाय किए गये हैं। उदाहरणार्थ 'अस्पृश्यता' पर कानूनी रोक लगा दी गई है। पर जो भी सुधारक उपाय अपनाए गए हैं उनका लाभ अधिकांशतः छोटी जातियों के सम्पन्न एवं राजनैतिक दृष्टि से प्रभावशाली व्यक्तियों ने ही उठाया है।
7. पारंपरिक गैर-यांत्रिक खेती के संदर्भ में सयुक्त परिवार व्यवस्था एक आवश्यकता थी। खेती की आधुनिक तकनीकों के आ जाने और आधुनिक उद्योगों का विकास हो जाने से संयुक्त परिवार के एकल परिवार में रूपातरण की प्रवृति परिलक्षित हो रही है।

विचिंतन प्रश्न

1 वे कौन से सास्कृतिक तत्व है जो मूलत विशेष धर्म-समूहों की विशेषता थे और जो अब आपकी बस्ती में सामान्य संस्कृति के अभिन्न अंग बन गए है?
2. विभिन्न भाषाओं के उन शब्दो और मुहावरो का पता लगाइए जो आपके पडोस मे लोगो की आम बोलचाल के अग बन गए है।
3 कुछ ऐसे अधविश्वासों और भाग्यवाद के उदाहरण सोचिए जो जनता के लिए हानिकारक है।
4 भारतीय सस्कृति मे 'विविधता में एकता' से आप क्या समझते है?
5 आदिम कबीलाई सामाजिक परपरा के अर्थ की व्याख्या अपने शब्दों में कीजिए।
6. अपनी बस्ती मे तथाकथित ऊँची जातियो और छोटी जातियो के बीच के सबंधो पर प्रकाश डालिए। ये सबंध पूरी जनता की शांति और प्रगति पर किस तरह प्रभाव डाल रहे हैं?
7 अनुसूचित जातियो, विशेष रूप से तथाकथित अस्पृश्यो के प्रति किस प्रकार के भेदभाव अभी भी बरते जा रहे हैं? इन भेदभावो को कम करने के लिए क्या कोई सामूहिक प्रयास किया जा रहा है? यदि हाँ, तो इस प्रयास का क्या रूप है और उसके क्या परिणाम सामने आ रहे है?
8. पारपरिक परिवार की सरचना मे आपने कौन-कौन से परिवर्तन देखे है? क्या परिवार के व्यावसायिक रूप मे कोई परिवर्तन हुआ है? यदि हॉ, तो इस परिवर्तन का क्या रूप है और उसका क्या प्रभाव हुआ है?

इकाई 2.2 वर्तमान आर्थिक परिदृश्य

आप इस बात से परिचित हो चुके है कि भारत मे ब्रिटिश शासन स्थापित होने से पहले देश में एक प्रभाव संपन्न सामंती समाज व्यवस्था विद्यमान थी जिससे भारतीय संस्कृति में कुछ दुर्बलताएँ आ गईं। भारत में अपनी जड़ें जमा लेने के बाद सामंती समाज ब्रिटेन के उद्योगों के हित-साधन के लिए अपनी आर्थिक नीति को एक नई दिशा देने लगा। उसने जानबूझ कर देशी उद्योगों को, विशेष रूप से कपड़ा-उद्योग को नष्ट करने की नीति अपनाई जिससे भारत ब्रिटिश-माल की खपत के लिए एक विशाल बाजार बन जाए। इस नीति को लागू करते समय भारतीय कृषि को भी एक व्यापारिक दिशा दी गई जिससे ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चा माल मिल सके। खाद्य-फसलों को कम कर कपास, जूट और तिलहन जैसी व्यापारिक फसलों को उगाने पर बल दिया जाने लगा। इस नीति ने युगों पुरानी भारत की आर्थिक संरचना की नीव को झकझोर दिया। कृषि और कुटीर उद्योगों के बीच तालमेल पर आधारित ग्राम-समुदायों की आत्म-निर्भरता को मशीन से बने सस्ते ब्रिटिश माल से पाटकर चौपट कर दिया गया जिससे भारतीय बाजार को बहुत क्षति पहुँची। ब्रिटिश शासक भारतीय सीमा-शुल्क, मुद्रा तथा ऋण और विदेशी मुद्रा को अपने हित मे मोड देकर ऐसा करने मे सक्षम थे। इस प्रक्रिया को उन्होने देश में रेलों और सड़कों का जाल बिछाकर तथा परिवहन के द्रुत साधनो से देश को जोडकर और भी तेज कर दिया।

कुटीर उद्योगों के विनाश के व्यापक सामाजिक परिणाम हुए। चौपट हुए दस्तकार कृषि के क्षेत्र मे घुसने लगे। इससे भूमि पर जनसख्या का दबाव बढ़ गया जिससे किसानो की आर्थिक स्थिति, जो पहले भी अधिक अच्छी नहीं थी, और भी बिगड गई।

कृषि का वाणिज्यीकरण होने के साथ-साथ बिचौलियों, थोक तथा फुटकर विक्रेताओ, कच्चे माल के निर्यातकों, सटोरियों आदि की एक सेना अस्तित्व में आ गई। उन्होंने किसानों की अज्ञानता और गरीबी का लाभ उठाकर अपने व्यापार को चमकाया। किसान अपनी फसल इन बिचौलियो के हाथो बहुत कम मूल्यों पर बेचने के लिए बाध्य हो गए। परिणामस्वरूप उन्हे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए बिचौलियों से ब्याज पर पैसा लेना पड़ता था। इस प्रकार ब्याज पर पैसा उठाना गाँवों में एक बहुत लाभप्रद व्यापार बन गया और साहूकार इतने शक्तिशाली बन गए कि किसानों की आर्थिक व्यवस्था उनके हाथों में आ गई। आपको भी सम्भवत: इसकी कुछ जानकारी होगी।

जहाँ तक ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में आधुनिक उद्योगों के विकास का प्रश्न है, ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था के हित में इनकी योजनाबद्ध रूप से उपेक्षा ही की जाती रही । देश के औद्योगिकीकरण की ओर ब्रिटिश शासकों का थोडा-बहुत ध्यान तब गया जब ब्रिटेन अपने निजी उद्योगों से इतने अधिक माल का उत्पादन करने में अपने को असमर्थ पाने लगा जो स्थिति के अनुरूप माँगों की पूर्ति कर सकता। उदाहरणार्थ दो विश्व युद्धो के दौरान जब ब्रिटिश उद्योगों पर बहुत अधिक भार था तब भारतीय उद्योग के कुछ क्षेत्रों को कुछ प्रोत्साहन मिला। इसके पहले भारत में औद्योगिकीकरण की सदा उपेक्षा ही होती रही। इस बात की पुष्टि स्वतंत्रता मिलने के समय भारतीय उद्योगों की स्थिति से हो जाती है, जिनमें उत्पादन बहुत कम होता था और बहुत कम लोग काम करते थे। उद्योग से होने वाली कुल आय का 60 प्रतिशत भाग सहायक कुटीर उद्योगों, स्वतत्र दस्तकारी के माल और शारीरिक श्रम से चलनेवाले प्रतिष्ठानों से प्राप्त होता था और इन्हीं प्रतिष्ठानो में उद्योग मे लगी कुल जनशक्ति का 75 प्रतिशत भाग काम करता था। शेष का श्रेय आधुनिक उद्योगों को दिया जा सकता है।

अतीत की स्थिति की बजाय वर्तमान आर्थिक स्थिति को जानने में आपकी सहज रुचि होगी। वर्तमान को समझने के लिए अतीत को, विशेषकर हाल के अतीत को समझना आवश्यक है, क्योंकि अतीत से अकस्मात सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता, क्रांति की दशा में भी नहीं। उसे भी परिणाम दिखाने में कुछ समय लगता है।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भारत के समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय प्राप्त कराने का विशेष रूप से उल्लेख है। आर्थिक न्याय से यह आशय है कि प्रत्येक नागरिक को राष्ट्रीय सम्पत्ति से उसका अपना उचित भाग अवश्य मिलना चाहिए और वितरण न्याय का भी यही अर्थ है।

'राज्याधीन नौकरियो मे नियुक्ति के संबंध में सभी नागरिकों को समान सुअवसर प्राप्त होने' को एक मूल अधिकार मानकर और राज्य के मार्गदर्शन के लिए इससे सबद्ध अनेक सिद्धांतों को राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांतों में सम्मिलित कर संविधान ने प्रस्तावना के इस अंश की महत्ता पर बल दिया है। उदाहरणार्थ अनुच्छेद 39 में कहा गया है: ''राज्य अपनी नीति का विशेषतया ऐसे संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से —

(क) सभी नागरिकों को चाहे वे स्त्री हों या पुरुष जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का समान रूप से अधिकार हो :

(ख) समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियत्रण इस प्रकार बँटा हो कि जिससे सामूहिक हित को सर्वोत्तम रूप से साधा जा सके;

(ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन-साधनों का

सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो;

(घ) पुरूषों और स्त्रियों दोनों का समान कार्य के लिए समान वेतन हो;

(ङ) श्रमिक पुरूषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति का और बालको की सुकुमार अवस्था का दुरूपयोग न हो तथा **आर्थिक** अवस्था से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों मे न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हो ; और

(च) शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से तथा नैतिक और **आर्थिक** परित्याग से संरक्षण हो।''

इस संबंध मे अनुच्छेद 43 और अधिक स्पष्ट है। इसमें कहा गया है- ''राज्य उपयुक्त विधान या आर्थिक संघटन द्वारा, अथवा किसी दूसरे प्रकार से कृषि के, उद्योग के या अन्य प्रकार के सब श्रमिकों को काम, निर्वाह-मजदूरी, शिष्ट-जीवन- स्तर तथा अवकाश का संपूर्ण उपभोग सुनिश्चित करने वाली काम की दशाएँ तथा सामाजिक और सास्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयास करेगा तथा विशेष रूप से ग्रामों में कुटीर-उद्योगों को वैयक्तिक अथवा सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयास करेगा।''

समाज के दुर्बल वर्गों के लिए अनुच्छेद 46 में एक विशेष प्रावधान है, जो निम्नलिखित है:

''राज्य जनता के दुर्बल वर्गों के, विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियो के शिक्षा तथा अर्थ संबधी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकारो के शोषण से उनका सरक्षण करेगा।''

राज्य ने उपयुर्कत प्रावधानो को लागू करने की दिशा में थोडी-बहुत प्रगति की हैं। उदाहरणार्थ कानूनो को बनाते समय उसने यह सावधानी बरती है कि समुदाय के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियंत्रण का उपयोग समान हित में किया जाए, **आर्थिक** व्यवस्था का संचालन इस तरह से हो कि संपत्ति तथा उत्पादन के साधनो के जमाव से आम जनता का अहित न हो, श्रमजीवी वर्ग के साथ अधिक अच्छा व्यवहार हो, महिला मजदूरों के लिए कार्य की मानवोचित दशाएँ सुनिश्चित हों, आदि-आदि।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत की आर्थिक नीति का उद्देश्य जनता के जीवन-स्तर को ऊपर उठाना रहा है। इसकी प्राप्ति के लिए औद्योगिकीकरण मे तेजी से वृद्धि लाकर अर्थ-तंत्र की संरचना मे परिवर्तन लाने का प्रयास किया गया। इसके लिए नीति-निर्माताओं ने एक सुयोजित **आर्थिक** विकास का मार्ग चुना क्योकि उनका यह विश्वास था कि भारत में स्वछन्द उद्यम व्यवस्था (फ्री एनटरप्राइज सिस्टम) में उपलब्ध **संसाधनों के एक बड़े भाग का उपयोग** आम लोगों के लाभ के लिए नहीं,बल्कि उत्पादन-साधनों के स्वामी थोड़े-से लोगों के लिए होना निश्चित है। प्रत्येक योजना के दस्तावेज में आय और सपत्ति में अधिक से अधिक समानता लाने, आय, सम्पत्ति और **आर्थिक** शक्ति के जमाव में क्रमशः कमी लाने और विकास के लाभ समाज के अपेक्षाकृत पिछडे वर्गों को अधिकाधिक प्रदान कराने पर बल दिया गया है।

लेकिन इन अच्छे उद्देश्यों के बावजूद योजना से वास्तव में जो परिणाम प्राप्त हुए हैं वे अधिक उत्साहवर्धक नहीं हैं। सभी योजनाओं में प्रतिवर्ष 5 से 6 प्रतिशत तक की वृद्धि दर का अनुमान लगाया गया जबकि वास्तव में अभी तक किसी भी योजना में 3.7 प्रतिशत से अधिक वृद्धि दर प्राप्त नहीं हुई है। जनसंख्या में वृद्धि दर (लगभग 2.5 प्रतिशत प्रति वर्ष) को ध्यान में रखा जाए तो प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि एक से डेढ़

प्रतिशत के बीच ही रही है। गरीबी हटाने जैसे उद्देश्यो की पूर्ति में आर्थिक विकास की भूमिका ही सबसे महत्वपूर्ण रही है, परन्तु इस दिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं हो पाई है।

उस अर्थ-व्यवस्था मे जहाँ लगभग 76 प्रतिशत लोग गाँवों में रहते हैं और जहाँ लगभग आधी जनसख्या गरीबी की रेखा से नीचे का जीवन व्यतीत करती है, केवल एक प्रतिशत की वृद्धि दर कोई मायने नही रखती। वरन् यह व्यवस्था जनता के इन वर्गों के लिए सुधार की कोई आशा दिलाए बिना उनके कष्टों को स्थायी बनाती जा रही है।

इसके विपरीत एकाधिकारी पूँजीवादियों की शक्ति बढ़ी है, अर्थात बड़े-बड़े औद्योगिक घरानों में सपत्ति का जमाव अधिकाधिक बढने की प्रवृत्ति रही है।

मजदूरो को जितनी मजदूरी मिलनी चाहिए उससे कम मजदूरी उन्हें मिलती है। यह बात केवल इस संदर्भ में नही कही गई है कि दूसरी पचवर्षीय योजना से मजदूरों की मजदूरी बढ़ाने की बात बार-बार कही गई है, बल्कि उत्पादकता मे, विशेष रूप से निर्माण क्षेत्र मे अधिक तेजी से हो रही वृद्धि के संदर्भ मे भी कही गई है। उदाहरणार्थ कारखाना मजदूरों की यथार्थ आय में 1951-71 के दौरान लगभग 12 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई जबकि इस अवधि मे उत्पादकता में 60 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि हुई।

मजदूरी से संबद्ध 1981 तक उपलब्ध ऑकडों से यह पता चलता है कि ग्रामीण क्षेत्रो में 1981 में यथार्थ मजदूरी दर 1951 की दर से कम थी। केवल पजाब अपवाद रहा जहाँ 50 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

इस शताब्दी के सातवे दशक में कानूनी रूप से न्यूनतम मजदूरी नियत कर देने जैसे उपायों से अपेक्षित परिणाम निकलने की आशा थी। किन्तु इन उपायों के प्रभावी अमल में भारी कमियाँ रहीं। ग्रामीण मजदूरों की आय में वृद्धि लाने के लिए अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्हें आज की अपेक्षा रोजगार के अधिक अवसर मिलते रहें। भारत की विद्यमान आर्थिक व्यवस्था के अतर्गत इस समस्या को हल करना अत्यधिक कठिन है।

स्वतत्रता के बाद सरकार ने ग्रामीण लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए कुछ कदम उठाये हैं। इनमें से कुछ कदमों से आप परिचित भी होंगे। भूमि-सुधार के लिए अपनाए गए कानूनी उपायों और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर इनके प्रभावों की चर्चा पहले की जा चुकी है। सामुदायिक विकास और कृषि-विस्तार कार्यक्रम छठे दशक में ही भारी उत्साह और व्यापक प्रचार के साथ प्रारम्भ हो चुके थे। ग्रामीण क्षेत्रों के लाभ के लिए सिंचाई एवं बिजली की परियोजनाएँ चलाई गईं। किसानों को आसान किश्तों पर ऋण उपलब्ध कराने के लिए बैंकों का जाल बिछाया गया। उर्वरक, अधिक उपज देनेवाले बीज और पैदावार बढाने की आधुनिक तकनीकें उन्हें सरलता से उपलब्ध कराई गईं। कृषि पदार्थो को खरीदने और बेचने के लिए सहकारी समितियों की स्थापना में सरकारी स्तर पर प्रोत्साहन दिया गया।

पर आप जानते ही हैं कि भूमि-सुधार की तरह इन उपायो का भी गाँव के गरीब लोगों के जीवन-स्तर पर कोई लाभकारी प्रभाव नहीं पड़ा। इसके विपरीत भूमिहीन मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई और उनकी दशा और भी बिगडती चली गई। गाँव के कमजोर वर्गों के सुधार के लिए चलाए गए इन सभी कार्यक्रमों से हुए लाभ का एक बड़ा अंश थोड़े से बड़े और धनी किसान जर्बदस्ती हड़पने में सफल हो गए। सम्पन्न किसानों के वर्ग के अतिरिक्त गाँवों में व्यापारी-साहूकार वर्ग भी फल-फूल रहा है। ये लोग किसानों की अतिरिक्त पैदावार को हडप लेते हैं। अभी तक बडे पैमाने पर

बँटाई पर खेती, और बधुआ मजदूरी व्यापत होने के कारण गाँव के गरीब लोगो के कष्ट और भी बढ गए है।

यहाँ आपके मन में यह प्रश्न उठ सकता है. स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की अवधि में भारतीय समाज की आर्थिक दशा में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए भी हैं या नहीं? यदि हाँ, तो ये परिवर्तन कौन-कौन से हैं?

इस मामले में मोटे तौर पर सामान्यीकरण की आवश्यकता नहीं है। हमारे देश में इतनी विविधता है कि सांख्यिकीय औसत से निर्वाह-स्थिति का ही पता नहीं लग सकता। फिर भी इस बात से आप अधिकांशत: सहमत तो होंगे ही कि स्वतंत्रता के बाद अभी तक कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुआ है। हाँ, औद्योगिक समाज की वर्ग-रचना में कुछ सीमा तक आधुनिकता अवश्य आई है। इधर स्थायी औद्योगिक मज़दूरों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। अधिक-से-अधिक मज़दूर इस्पात उत्पादन, खनन और धातुकर्म जैसे नए-नए स्थापित आधुनिक उद्योगों में पहुँच रहे हैं। पूँजीवादी वर्ग को भारतीय अर्थ-व्यवस्था में एक प्रभावशाली भूमिका मिल गई है।

जहाँ तक कृषि के क्षेत्र में हुए परिवर्तनों का संबंध हैं, इस शताब्दी के सातवें दशक में ही आधुनिक उद्योग ने कृषि उत्पादन के माल-बाजार पर धावा बोलना प्रारम्भ कर दिया। उसने पंजाब और हरियाणा जैसे अधिक विकसित क्षेत्रों मे जो तथाकथित ''हरित क्रांति'' की पट्टी में आते हैं—जहाँ बड़े पैमाने पर कृषि की नई तकनीको, खेती की मशीनों, उर्वरकों और उन्नत बीजों से काम लिया गया, वहाँ सम्पन्न किसानो और समृद्ध जमींदारों की माँगें भी पूरी करनी शुरू कर दीं।

भारतीय अर्थ व्यवस्था में कुछ गतिरोधों के बावजूद वास्तविकता यह है कि स्वतंत्रता के बाद भारत को कुछ क्षेत्रों में सफलता मिली है। अब देश मे इस्पात, कोयला, तेल, भारी इंजीनियरी और भारी विद्युत यंत्रों जैसे सभी बुनियादी और भारी उद्योग पनपने लगे हैं।

अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत मे अब उद्योग का एक प्रबल सार्वजनिक क्षेत्र विकसित हो चुका है जो देश को आर्थिक विकास की दिशा में एक स्वतत्र मार्ग पर ले जा सकता है। देश की अखंडता और स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए यह मार्ग अपरिहार्य है। फिर भी सरकार ने देश के औद्योगिक विकास के सार्वजनिक क्षेत्र के साथ-साथ निजी क्षेत्रों को भी बढने की अनुमति दी है। इस प्रकार भारत मे तथाकथित 'मिलीजुली अर्थ व्यवस्था' का परीक्षण किया जा रहा है जो देश के विकास में एक वास्तविक समाजवादी मार्ग अपनाने में समस्या खडी कर रही है। इनमे से कुछ समस्याओं का उल्लेख पहले हो चुका है और कुछ का उल्लेख आगे चलकर होगा।

औद्योगिक उत्पादन में सरकार के हिस्से मे भारी वृद्धि हुई है तथा अब वह आर्थिक मामलो मे प्रभावशाली ढग से हस्तक्षेप कर सकती है। बडे-बड़े निजी व्यापारिक बैको का राष्ट्रीयकरण हो जाने से ऋण के लेन-देन तथा मुद्रा के संचालन मे सार्वजनिक क्षेत्र की पकड मजबूत हो गई है।

कृषि के क्षेत्र में सरकार ने सामती-उत्पादन-सबधो के मुख्य रूपों को दूर करने का प्रयास किया है। इसके लिए सरकार ने जमीदारी उन्मूलन, जोत पर उच्चतम सीमा लगाना, काश्तकारी में सुधार, जोत की चकबन्दी आदि भूमि सुधार के अनेक उपाय लागू किए हैं। इसके अतिरिक्त सरकार ने आधुनिक तकनीक, आधुनिक यंत्र और रासायनिक उर्वरक जैसे निवेशो से कृषि-उत्पादन की अधिक प्रभावी विधियों को प्रयोग में लाने के लिए प्रोत्साहित करने के प्रयास किए हैं। ये सभी उपाय

भारत को खाद्य के मामले में आत्मनिर्भर बनाने में सफल रहे हैं।

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में सुधार लाने के लिए कुछ स्थानों पर कुटीर उद्योगों और लघु उद्योगों को भी बढावा देने के लिए कदम उठाए गए है। इसके लिए बिजली की और कारीगरों तथा छोटे-छोटे उद्यमियों को आसान किस्तों पर ऋण आदि दिलाने की सुविधाएँ भी उपलब्ध कराई गई हैं।

जिन उपलब्धियों का ऊपर उल्लेख हुआ है वे वास्तव में प्रशंसनीय हैं। फिर भी देश के आर्थिक विकास में कुछ गंभीर कमियाँ बनी हुई हैं।

भारतीय औद्योगिकीकरण की वर्तमान सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था मे औद्योगिक कामगार की यथार्थ आय इतनी कम है कि वह अत्यंत कठिनाई से अपना जीवन निर्वाह कर पाता है। पूरे-का-पूरा अतिरिक्त उत्पादन अथवा लाभ उसे काम देने वाला हडप लेता है।

इससे भी बुरी बात यह है कि भारत में पूँजीवादी विकास के फलस्वरूप अन्य देशों की ही भाँति एकाधिकारी बढ़ते जा रहे है और उसी अनुपात में जनता की गरीबी बढ़ रही है। सरकारी रिपोर्टों के अनुसार 1963-64 में निजी गैर-बैंकिंग कम्पनी क्षेत्र की कुल संपत्ति का लगभग 47 प्रतिशत भाग 75 बड़े व्यावसायिक घरानों के हाथ में था। इसके बाद एकाधिकारी घरानों की संपत्ति में काफी तेजी से वृद्धि हुई है। अनुमान है कि 1964-68 के दौरान उनकी संपत्ति में लगभग 55 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

एकाधिकारियों की वृद्धि पर रोक के लिए जो अंकुश और नियंत्रण लगाए गए, वे सफल नहीं रहे। अनुभव ऐसा रहा है कि जब भी सरकार ने वृहत्तर राष्ट्र-हित में किसी विशेष वस्तु का उत्पादन-कोटा नियत करने का प्रयास किया, तभी एकाधिकारियों ने नियत कोटा पूरा करने के बजाय जुर्माना देना बेहतर समझा है। आम जनता की खपत के लिए निर्मित मोटे कपडे के मामले मे यही हुआ। उनके स्थान पर वे महीन कपडों के उत्पादन में वृद्धि करते रहे जिससे उन्हे अधिक लाभ होता रहे।

देश में काले धन का कारोबार किस तरह चल रहा है, इससे भी आप परिचित होगे। यह अवैध रूप से कमाया गया धन है जिसे आयकर तथा अन्य करो के भुगतान मे शामिल नही किया जाता। देश में काला धन इतना अधिक बढ गया है कि इसने एक समानातर अर्थ-व्यवस्था का रूप ले लिया है। इससे राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के सामान्य कार्यकलाप के लिए सकट पैदा हो गया है और देश के आर्थिक आयोजन मे बाधा पड रही है। जब तक यह स्थिति चलती रहेगी तब तक जमाखोरी, तस्करी, भ्रष्टाचार, सम्पत्ति का गैर-कानूनी हस्तान्तरण और कर-अपवचन जैसे वित्तीय अपराधो को नहीं रोका जा सकता, और आम उपयोग की वस्तुओ के भाव मे बढोतरी होती रहेगी। काला धन अधिकांशत. एकाधिकारियों की देन है और वे ही लोग गैर-सरकारी समानांतर अर्थ व्यवस्था के मुख्य लाभ-भोगी है।

भारत की वर्तमान अर्थव्यवस्था की एक अन्य दु.खद वास्तविकता बेरोजगारों की सख्या में तेजी से हो रही वृद्धि है। प्रत्येक पचवर्षीय योजना के अंत मे बेरोज़गारो तथा अल्परोज़गारों की सख्या बढ़ जाती है। आपको ज्ञात होना चाहिए कि बेरोजगारी की समस्या केवल अकुशल अथवा निरक्षर लोगों की ही नहीं है, बल्कि बडी संख्या में वैज्ञानिक, इंजीनियर, डाक्टर और शिक्षक जैसे योग्य व्यक्ति भी बेरोजगार हैं।

भारतीय औद्योगिकीकरण में एक अन्य कमी यह है कि यह अब भी उपकरणों और तकनीकी जानकारी के आयात पर निर्भर है। इस व्यवस्था का देश में हो रहे अनुसंधान कार्य और विकास पर हानिकारक प्रभाव पडता है। इसने आम तौर से

स्थानीय उद्योगों में विदेशी वस्तुओं और निर्माण तकनीकों को अपनाने तथा उनके अनुसार कार्य करने का वातावरण पैदा कर दिया है, साथ ही इसने राष्ट्र में नए उत्पादों और बुनियादी प्रौद्योगिकी पर हो रहे अनुसंधान-कार्य में रोडा अटकाने का काम भी किया है।

कृषि क्षेत्र के विकास के संबंध में भी बहुत कुछ करना अपेक्षित है। भूमि-सुधार के बावजूद अभी भी सामंतवाद के अवशेष विद्यमान हैं। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण बँटाई पर खेती कराना है। आप इससे अवश्य परिचित होंगे क्योंकि भारत के गाँवों में यह प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित है। भूमि सुधार के लिए लागू किए गए सभी उपाय अधिकांश किसानों के हित में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने मे सफल नही रहे है। ऐसा होने का कारण यह है कि एक ओर तो इन उपायों से संबद्ध कानून बिल्कुल सही और सुस्पष्ट नहीं है जिससे जमीन जोतने वाले को लाभ हो और दूसरी ओर इन कानूनों पर दोषपूर्ण ढग से तथा आधे मन से अमल हुआ है। परिणामतः इन कानूनो से अधिकतर लाभ बडे-बड़े किसानो को ही पहुँचा है। इससे अधिक दुखदायी बात यह रही है कि यह स्थिति अकस्मात् पैदा नही हुई है। सम्पन्न किसानों और पूँजीपति जमींदारो के वर्ग को विकसित करने तथा आगे बढाने का प्रयास उत्पादन में वृद्धि की आशा से जानबूझ कर किया गया है। ऐसा सोच लिया गया कि केवल यही एक ऐसा वर्ग है जो पैदावार बढ़ाने के लिए उत्पादन की आधुनिक तकनीकों को अपना सकता है और उन्नत निवेशो का प्रबध कर सकता है।

भूमि सुधार लागू करने के प्रश्न पर निरंतर ढिलाई बरती जाती रही है। विधायिका के अदर और बाहर एक शक्तिशाली जमींदार लॉबी तथा प्रशासन हैं जो ग्रामीण समाज, में क्रांतिकारी संरचनात्मक परिवर्तन लाने की दिशा में किए जा रहे सभी प्रयासो को निष्फल करने में सक्रिय रूप से सलग्न है। उदाहरणार्थ जमीन जोतनेवाले की होगी का सिद्धांत अभी भी सपना ही बना हुआ है। इसके विपरीत भूमिहीन खेतिहार मजदूरो की संख्या में लगातार वृद्धि होती जा रही है जो उन ग्रामीण क्षेत्रों में नए-नए तनाव पैदा कर रही है। जहाँ वर्ष-प्रतिवर्ष बेरोज़गारी की समस्या गंभीर होती जा रही है।

संभव है कि जिस क्षेत्र के आप हैं, वहाँ ऐसी स्थिति न हो। पर पूरे भारत के लिए तैयार किए गए सरकारी आकँडो से पता चलता है कि केवल 4 प्रतिशत धनी ग्राम-घरानों के पास कुल कृषि-भूमि का 43 प्रतिशत भाग है, जबकि 60 प्रतिशत घरानों के पास केवल 7 प्रतिशत भूमि है।

अतः 'हरित क्रांति' के बावजूद गाँव की गरीब जनता अभी भी,इस चमत्कारी विकास का लाभ नहीं उठा पा रही है।

गाँवो मे तकनीकी प्रगति का प्रभाव अभी अपेक्षाकृत एक बहुत छोटे वर्ग पर, प्रधानतः सम्पन्न भू-स्वामियों पर ही पडा है। ग्राम पचायत और सहकारी समितियों जैसी नई-नई ग्राम संस्थाओ के मुख्य पदों को हथियाकर उन्होंने गाँवों में पहुँचने वाले उत्पादन के आधुनिक साधनो का अनुपात से बहुत अधिक भाग अपने हाथों में कर लिया है। आप संभवतः इस बात से परिचित हों कि पैदावार बढ़ाने के आधुनिक साधनों को कम मूल्यों पर उपलब्ध कराने की सरकार की नीति का अधिकांश लाभ बड़े-बड़े किसान ही उठाते हैं।

आपने यह भी अनुभव किया होगा कि जातिगत शत्रुताएँ और अत्यधिक दफ्तरशाही इन नई ग्राम संस्थाओं को प्रभावहीन बना रही है। स्थिति के और बिगडने का एक और कारण गाँव में गुटबन्दी का होना है। ये गुट सामंतवादी संरचना के कानूनी उन्मूलन के बाद भी उसे बनाए रखना चाहते हैं। यदि भूमि-सुधार संबंधी कोई

प्रगतिशील आदोलन चल रहा हो उसके विरुद्ध वे एक सशक्त मोर्चा खडा कर देते है। आप तो जानते ही है कि हर गाँव मे दो ऐसे गुट होते है जो पूरे गाँव पर प्रभुत्व जमाए रखते हैं। ये गुट अधिकाशतः धनी किसानो के होते है। ये ही गाँव के नेता होते है क्योकि जिसके पास जितनी अधिक भूमि होती है वह प्रायः उतना ही प्रभावशाली होता है।

अतः ये लोग सहकारी खेती, जोत की उच्चतम सीमा, भूमि-वितरण आदि जैसे भूमि-सुधार के सभी उपायों के विरुद्ध संघर्ष मे गाँव के सभी समूहों के लोगों को खडा कर लेते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि चोटी के कुछ लोग गाँव के इन्ही लोगों के समर्थन से अपने स्वार्थपूर्ण अधिकारों मे कटौती का सफलतापूर्वक विरोध करने मे समर्थ हो जाते है जिन अधिकारो के कारण उन्हे कष्ट उठाने पडते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि सर्पात्ति, सत्ता और जाति के गठबधन पर आधारित ग्राम-समाज की गुटतंत्रात्मक संरचना को केवल ग्राम पचायत जैसी आधारभूत लोकतान्त्रिक संस्थाएँ स्थापित करके अथवा भूमि-सुधार जैसे आधे मन से लागू किए गए उपायो से नहीं बदला जा सकता। स्थिति की माँग है कि सम्पूर्ण सरचना में आमूल-चूल परिवर्तन लाया जाए। ऐसा करने के लिए आवश्यक है कि व्यापक स्तर पर भू-स्वामित्व को समाप्त किया जाए और खेतीहर मजदूरों तथा छोटे किसानों में भूमि का पुनर्वितरण कर दिया जाए। यह भू- स्वामित्व ही ग्रामीण महाप्रभुओं के सबसे शक्तिशाली दल के चिर-अस्तित्व का आधार बना हुआ है।

सारांश

1. ब्रिटिश शासको ने एक ऐसी आर्थिक नीति अपनाई थी जिसने भारत के देशी उद्योगों को नष्ट कर दिया।
2. भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे कुछ अवरोध होने के बावजूद इस बात से इकार नहीं किया जा सकता कि भारत ने कृषि और उद्योग के क्षेत्र मे सफलता प्राप्त की है। सरकार ने भूमि-सुधार लागू किए हैं तथा खेती के लिए प्रभावी उपकरणों और तकनीकों को काम में लाया गया है, जिसके फलस्वरूप देश खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर बन गया है। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में सुधार लाने के लिए कुटीर उद्योगो और लघु उद्योगो को प्रोत्साहित किया गया है। आज भारत में हर प्रकार के बुनियादी और भारी उद्योग, जैसे इस्पात, कोयला, तेल, भारी इंजीनियरी और भारी विद्युत यंत्र स्थापित हैं।
3. विकास का एक समाजवादी मार्ग अपनाने के लिए भारत में 'मिलीजुली अर्थव्यवस्था' पर परीक्षण चल रहा है।
4. ये उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण हैं, फिर भी आर्थिक मोर्चे पर कुछ गभीर कमियाँ आ गई हैं, उदाहरणार्थ एकाधिकारियों की शक्ति बढी है, काले धन का प्रचलन इतना अधिक बढ गया है कि इसने एक समानातर अर्थव्यवस्था का रूप ले लिया है, बेरोज़गारों की संख्या मे तेजी से वृद्धि हुई है, भारत में औद्योगिक उपकरणों का सुसंचालन तकनीकी जानकारी के आयात पर निर्भर है और भूमि सुधार लागू होने के बावजूद अभी भी सामतवादी व्यवस्था बनी हुई है।

विचिंतन प्रश्न

1. स्वतत्रता के बाद आर्थिक कठिनाइयो को दूर करने के लिए कौन-कौन से उपाय अपनाए गए और किन-किन उपायों से अधिक-से-अधिक लोगो को अधिक-से-अधिक लाभ पहुँचा है?
2. उन उपायो को बताइए जिन्होंने अधिकाशत: समाज के उच्च वर्गो को लाभ पहुँचाया है।
3. आपके क्षेत्र मे जन-साधारण को किन-किन आर्थिक कठिनाइयो का सामना करना पडता है? इनका भारत की नीति से कहाँ तक सबध है?
4. आपके पड़ोस मे बेरोज़गारी और अल्प-रोजगारी की समस्या का समाधान किस प्रकार किया जा सकता है?
5. अपने क्षेत्र मे वितरण-न्याय के सचालन पर विचार कीजिए। किन-किन वर्गो को सबसे अधिक और किन-किन वर्गो को सबसे कम लाभ मिलता है? वितरण-न्याय के उचित सचालन में कौन-कौन-सी रुकावटें हैं?
6. आम जनता के हित मे संपत्ति और उत्पादन के साधनो के केन्द्रण पर अकुश लगाने मे हमारी अर्थ-व्यवस्था कहाँ तक सफल रही है?
7. आपके क्षेत्र मे विकास कार्यक्रम किस प्रकार चल रहे है? इन कार्यक्रमो से वास्तविक लाभ किनको मिलता है?

इकाई 2.3 वर्तमान सामाजिक-राजनैतिक परिदृश्य

आइए, अब हम वर्तमान भारतीय समाज के राजनैतिक पक्ष पर विचार करें। महत्व के क्रम में इसका स्थान आर्थिक पक्ष के बाद ही है। किसी ने ठीक ही कहा है कि राजनीति अर्थ-नीति को छोड़ अन्य सभी बातों पर शासन करती है और अर्थ-नीति राजनीति पर शासन करती है।' यदि आपने भारत के स्वाधीनता आंदोलन के इतिहास का अध्ययन किया है तो आपने समझ लिया होगा कि ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारतीय जनता की लडाई लोकतंत्र, समाजवाद और धर्म-निरपेक्षता के आदर्शों द्वारा संचालित थी। आज भी ये ही आदर्श भारतीय समाज के पुनर्निमाण के प्रयास में निर्देशन-सूत्र का काम कर रहे हैं। यही कारण है कि लोकतंत्र, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता के आदर्शों को हमारे देश के संविधान में समाविष्ट कर लिया गया है।

वर्तमान स्थिति का लेखा-जोखा करने पर हम पाते हैं कि भारत के सभी राजनैतिक दलों ने इन आदर्शों को विधिवत राष्ट्रीय लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है। व्यवहार मे भी संघ सरकार की सरचना के पाँच स्तरो पर सुदृढ़ राजनैतिक संस्थाएँ स्थापित की गई है। ये स्तर हैं-संघ, राज्य और जिला, ब्लाक तथा गाँव के स्तरों पर काम कर रहा त्रिचरणी पंचायती राज।

देश के विभिन्न भागों को राजनैतिक दृष्टि से एक प्रभुसत्ता-संपन्न राज्य में एकीकृत कर दिया गया है। देश की रक्षा के लिए एक प्रभावशाली संरचना का निर्माण किया गया है। सरकार के सैनिक और असैनिक समूहो के बीच सावधानी से अंतर रखा गया है। एक बडी सीमा तक प्रेस की स्वतंत्रता रक्षित है। राजनैतिक स्वतंत्रता भी बडी सीमा तक सुरक्षित है। विदेश नीति पचशील और गुट-निरपेक्षता के सिद्धांत पर बनाई गई है। इस प्रकार विश्व शांति के पक्ष में भारत ने अपना महत्वपूर्ण सहयोग दिया है।

संक्षेप में भारत दक्षिण एशिया में एक स्थायी शक्ति के रूप में उभर कर आया है। यह बात बिना हिचक कही जा सकती है कि इस पूरे क्षेत्र की शांति एक बड़ी सीमा तक भारत में लोकतांत्रिक सरकार के परीक्षण की सफलता पर निर्भर है। किन्तु इस राजनैतिक परिदृश्य का एक अंधकारमय पक्ष भी है। भारत में लोकतंत्र प्रत्यक्ष अधिक और यथार्थ कम है। यह बात औपचारिक रूप से राजनैतिक स्तर पर अधिकांशतः स्पष्ट हो जाती है। अभिजात वर्ग के लिए जन-समर्थन प्राप्त करने के साधन के रूप में लोकतंत्र का उपयोग किया जाता है।

जो बात लोकतत्र के बारे मे लागू होती है, वही बात समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता पर भी लागू होती है। ये शब्द अब केवल एक नारा बनकर रह गए हैं। समाजवाद का प्रयोग सभी प्रकार के कार्यकलापो को ढकने के लिए एक आवरण के रूप मे किया जाता है। यहाँ तक कि कभी-कभी मिली-जुली अर्थव्यवस्था के सचालन को भी देश मे समाजवाद स्थापित करने की दिशा मे एक निश्चित कदम माना जाता है।

भारत की इस मिली-जुली अर्थव्यवस्था की वर्तमान स्थिति की जानकारी आपको होनी चाहिए। पब्लिक सैक्टर अर्थात् सार्वजनिक क्षेत्र की मात्रा मे यद्यपि निरंतर वृद्धि हो रही है और वह बुनियादी उद्योगो का स्वामी तथा संचालक भी है तथापि प्राइवेट सैक्टर अर्थात निजी क्षेत्र की भूमिका अभी भी प्रमुख बनी हुई है। समाजवाद का मूल सिद्धांत यह है कि उत्पादन और वितरण के सभी साधनों पर राज्य का स्वामित्व हो और इस क्षेत्र में निजी संपत्ति को प्रवेश की अनुमति न दी जाए। इससे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि समाजवाद सभी प्रकार के शोषण का निषेध करता है। पर आप अपने चारों ओर क्या देखते हैं? भूमिहीन खेतिहर मजदूरों और औद्योगिक कामगारों का अमानवीय ढग से शोषण हो रहा है। अपनी मेहनत के बदले में उन्हें इतनी ही धनराशि मिल पाती है जिससे वे जीवित रह सके। उनकी मेहनत के फल का बडा भाग खेतो और कारखानों के मालिक हडप जाते है। स्वतंत्रता के बाद धनी और धनी होते गए हैं तथा गरीब और गरीब। आज देश की आधी जनता के लिए एक जून की रोटी जुटाना भी कठिन है। यह समाजवाद के नाम पर कलक जैसा है।

जहां तक धर्मनिरपेक्षता के आदर्श का प्रश्न है, व्यवहार में इस शब्द का गलत अर्थ लिया जाता है, भले ही ऐसा जानबूझकर नही किया जाता। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ मानव के कार्यकलापों और सामाजिक परिवेश को वैज्ञानिक एवं विवेकपूर्ण दृष्टि से देखने के लिए विशेष मनोवृत्ति और जीवन-पद्धति अपनाना है। एक धर्मनिरपेक्षवादी उपलब्ध प्रमाण की निष्पक्ष जाँच करके अपना निर्णय देगा न कि किसी विशेष सामाजिक वर्ग, जाति, धर्म अथवा क्षेत्र के साथ अपने सबधों के कारण बने पूर्वाग्रहों के आधार पर।

पर भारत में धर्मनिरपेक्षता पर जिस रूप से अमल किया जाता है, वह विभिन्न समुदायों, विशेषकर धार्मिक समूहो के राजनैतिक समझौते से अधिक कुछ नहीं है। अतः धर्मनिरपेक्षता का एक आवश्यक अंग यह माना जाता रहा है कि लोगों के मन में सभी धर्मो के प्रति सहिष्णुता और समान आदर का भाव हो। इसके लिए सार्वजनिक अवसरों पर विभिन्न धर्म ग्रन्थों का एक साथ पाठ किया जाता है। इसे धर्मनिरपेक्षता की पहचान और उससे राष्ट्रीय एकता का साधन समझा जाता है।

स्वतंत्रता मिलने के बाद से ही भारत धर्मनिरपेक्षता के संबध में इस नीति का पालन करता आ रहा है। इसे महात्मा गाँधी द्वारा विकसित और प्रचारित 'धार्मिक धर्मनिरपेक्षता'

कह सकते है। आप अनुभव करेंगे कि धर्मनिरपेक्षता की जो व्याख्या पहले की जा चुकी है, उससे यह व्याख्या बिल्कुल भिन्न है। यदि इस व्याख्या पर आधारित नीति भारत के विभिन्न धार्मिक समुदायो के बीच व्यावहारिक सामंजस्य बैठाने में भी सफल नहीं रही तो इसका कारण यह नहीं है कि नीति स्वयं मे बुरी है बल्कि यह इतनी अधिक एकागी और आदर्शवादी है कि इसका कोई व्यावहारिक मूल्य नही है।

धर्मनिरपेक्षता की माग है कि सभी राष्ट्रीय प्रयास मानव-कल्याण के लिए होने चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति चाहे किसी भी जाति, वर्ण अथवा धर्म का क्यों न हो, उसे विकास के लिए समान अवसर प्राप्त होने चाहिए और व्यक्ति को उसकी योग्यता और सिद्ध उपलब्धियों के आधार पर उत्तरदायित्व सौपा जाना चाहिए। राज्य के सभी कार्य धर्म को बीच मे लाए बिना संपादित होने चाहिए और सभी सामाजिक तथा राजनैतिक संस्थाएँ केवल सामाजिक उपयोगिता के धर्मनिरपेक्ष एव विवेकपूर्ण विचारो पर आधारित होनी चाहिए। तब धर्म व्यक्ति का बिल्कुल निजी मामला हो जाएगा, जिसमें राज्य के किसी भी रूप में हस्तक्षेप का प्रश्न ही नहीं रह जाएगा।

भारत के संविधान मे इस देश को एक कल्याणकारी राज्य बनाने के ध्येय की अवधारणा है। अत राज्य को यह सुनिश्चित करना है कि पुरूष और महिला मज़दूरों तथा कोमल आयु के बच्चो के स्वास्थ्य तथा शक्ति का दुरूपयोग न हो और आर्थिक आवश्यकताओ के कारण नागरिक अपनी आयु और शक्ति के प्रतिकूल काम करने के लिए बाध्य न हों। साथ ही शोषण और नैतिक एवं आर्थिक परित्याग के प्रति बच्चों तथा किशोरो को सरक्षण मिले। इस प्रकार स्वतन्त्रता के समय से ही समाज कल्याण के कार्यक्रमों का उद्देश्य समाज के कमजोर वर्गों, विशेष रूप से शारीरिक और सामाजिक रूप से अपंग व्यक्तियों तथा ग्रामीण, जनजातिय क्षेत्रों और शहर की गंदी बस्तियों के असुरक्षित वर्गों की महिलाओं और बच्चों की विकास तथा पुनर्वास संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करना रहा है।

अब हम अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जनजातियों के अधिकारों के समर्थन तथा रक्षण और उनकी सामाजिक अशक्तताओं के निराकरण की समस्या पर विचार करेंगे।

1981 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या क्रमश: 15.98 प्रतिशत और 7.53 प्रतिशत थी। इसका अर्थ है कि पूरे देश की एक-चौथाई जनसख्या इन दो श्रेणियों की है। आप मानेंगे कि हमारे देश की जनसंख्या का यह एक बहुत बड़ा भाग है। आप जानते हैं कि शताब्दियों से इन लोगों के साथ सभी प्रकार के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक भेदभाव बरते जाते रहे हैं। भारतीय समाज के निम्नतम स्तर पर होने के कारण वे अपना सांस्कृतिक और आर्थिक स्तर सुधारने के लिए उपलब्ध शिक्षा सुविधाओं का कभी पूरा लाभ नहीं उठा सके।

स्वतंत्रता के बाद समाज के कमजोर वर्गों, विशेष रूप से अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियो की दशा में सुधार लाने के लिए अनेक कदम उठाए गए हैं। इन समुदायों के हित में प्रतिपूरक भेदभाव की नीति अपनाई गई है। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, शिक्षा संस्थाओं में इनके प्रवेश के लिए आरक्षित कोटा निश्चित कर दिया गया है और शिक्षा की प्राप्ति के लिए उन्हें वित्तीय सहायता सुलभ कराई गई है। इन सभी उपायो को लागू करने के पीछे उद्देश्य यह रहा है कि ये लोग अन्य समुदायों के समकक्ष खड़े हो सकें।

देखने मे आया है कि इन सभी प्रयासो के बावजूद अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के चोटी के गुटो को छोडकर अन्य लोगों की स्थिति मे कोई विशेष अतर नही आया है। प्रौढ शिक्षा, सभी स्तर की शिक्षा, रोजगार और आर्थिक प्रगति की दृष्टि से इन समुदायों की स्थिति मे आज किंचित ही सुधार हो पाया है। अपने क्षेत्रो मे अन्य समुदायो की तुलना में इनकी स्थिति निराशाजनक रूप से नीचे है। जनता के इन वर्गो में शिक्षा के प्राथमिक और माध्यमिक स्तर पर अपव्यय और अवरोधन अन्य वर्गो की अपेक्षा कहीं अधिक है। उच्च शिक्षा के स्तर पर उनकी स्थिति और भी बदतर है। जनसंख्या में अनुपात की दृष्टि से उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के छात्रो की संख्या बहुत ही कम है।

यही स्थिति शहरो की गंदी बस्तियो में रहने वालो की है। 1971 की जनगणना के अनुसार भारत में 2.2 करोड लोग शहरो की गंदी बस्तियो में रह रहे थे। यह भी हमारी जनसख्या का एक बडा भाग है। इन लोगो की औपचारिक शिक्षा नही के बराबर होती है। इन बस्तियों में विद्यालय शिक्षा सस्था के नाम पर बस बट्टा ही है। उनमें छात्रो की भारी भीड रहती है, शिक्षकों की संख्या कम होती है और वे गदे स्थानो पर बने होते है। इसमे आश्चर्य ही क्या है कि कोई भी योग्य शिक्षक गंदी बस्ती के विद्यालय में जाना नहीं चाहता। अच्छे- अच्छे विद्यालय न तो इन बच्चों के लिए खुले है और न उनमे ऐसी संस्थाओं मे प्रवेश पाने की सामर्थ्य है। अधिकांश बच्चे मुख्यत आर्थिक कारणों से प्राथमिक शिक्षा पूरी किए बिना ही बीच में पढ़ाई छोड देते है। कुछ शिक्षकों का इन बच्चो के प्रति ठीक व्यवहार नही होता जिसके कारण भी वे बीच मे पढाई छोड़ देते हैं। मध्यम वर्गीय भावना वाले शिक्षक शारीरिक सफाई और कुशाग्रता पर आवश्यकता से अधिक बल देते है और इन बच्चों की सामाजिक पृष्ठभूमि को सहानुभूति पूर्ण ढग से देख या समझ नही पाते।

जहाँ तक कमजोर वर्ग के लोगो की नौकरी के समअवसर प्रदान करने का प्रश्न है, सरकारी नौकरियो मे उनका कोटा आरक्षित होने के बावजूद राज्यो की और केन्द्र की नौकरियो मे उनका प्रतिनिधित्व नितांत कम है। आर्थिक अवसर की समानता लाना अभी भी सपना बना हुआ है। अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जनजातियों के लोगों के विशाल बहुमत के लिए व्यावसायिक सरचना पहले की ही भांति परंपरागत और सीमित बनी हुई है।

शिक्षा को ऊपर उठाने की एक सीढी माना गया है। आपके मन मे यह प्रश्न उठ सकता है कि कमजोर वर्ग के लोगों पर यह बात पूरी क्यो नहीं उतर रही है। इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने के लिए आपको बहुत दूर नहीं जाना पडेगा। पहला कारण यह है कि इन लोगों को शिक्षा प्रदान करने के लिए सरकार ने अभी तक प्रोत्साहन के जो भी उपाय लागू किए वे सभी असफल रहे हैं और ये वर्ग शैक्षिक प्रगति के लिए अवसरों का लाभ नही उठा पाए। अधिकाश बच्चो की सामाजिक पृष्ठभूमि और घरेलू वातावरण ऐसा होता है कि विद्यालय में प्रवेश लेने के पहले ही वे शैक्षिक प्रगति की लडाई हारने लगते है। बहुत अधिक गरीबी के कारण इन वर्गो के बहुसख्यक बच्चों को मानसिक विकास के लिए आवश्यक पोषण नहीं मिल पाता। अतः इसमे आश्चर्य नहीं कि वे पढ़ाई मे पिछड़ जाते हैं और सरकार द्वारा विशेष सुविधाएँ उपलब्ध कराए जाने के बावजूद वे संपन्न वर्गो के बच्चों के मुकाबले पर नही ठहर पाते।

दूसरे, शैक्षिक सफलता में योगदान करनेवाला सबसे महत्वपूर्ण अकेला कारक घर और परिवार मे मिलने वाला प्रोत्साहन है। कमजोर वर्गो के

बच्चों की सामान्यत: यह पहली शिक्षार्थी पीढ़ी है। अत: उनके घर का वातावरण इतना अनुकूल नहीं होता जो औपचारिक शिक्षा के लिए उन्हें उचित प्रोत्साहन दे सके।

तीसरे, अधिकांश बच्चों के लिए विद्यालय का वातावरण अनजाना होता है। शिक्षा शब्द से वे इतने अधिक अनभिज्ञ होते हैं कि अपनी बात को खुलकर कहने में डरते हैं। इन बच्चों के प्रति शिक्षकों का बरताव भी आम तौर से बहुत अच्छा नहीं होता। ये सभी कारक भारतीय समाज के कमज़ोर वर्गों की शैक्षिक उन्नति के लिए सरकार द्वारा उपलब्ध कराई गई विशेष सुविधाओं का लाभ उठाने में अधिकाश लोगों के सामने अलंघ्य दीवार बने हुए हैं।

आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में समान सुअवसर प्रदान करना भारतीय समाज की एक बुनियादी और जटिल समस्या है। अभी तक इस समस्या के जो हल परखे गए हैं वे केवल उसकी कोर को ही छू पाए हैं। प्रतिपूरक शिक्षा की व्यवस्था और सर्वसामान्य विद्यालय जैसे कुछ अन्य हल भी हैं। इन हलों की सिफारिश शिक्षा आयोग (1964-66) ने की थी। इन हलों का परीक्षण अमरीका और ब्रिटेन जैसे अधिक साधन सम्पन्न देशों में किया भी जा चुका है। किन्तु उनमें भी कमियाँ पाई गईं।

अमरीका के सर्वसामान्य विद्यालय सुविधा वंचित बच्चो की कमियों को शायद ही दूर कर पाए हैं और उनके सामाजिक स्तर को ऊपर उठाने में भी कोई योगदान नहीं दे पाए हैं। यही बात ब्रिटेन में चलाए गए प्रतिपूरक शिक्षा कार्यक्रमों पर भी लागू होती है जिनके अंतर्गत सुविधा वंचित घरों के होनहार बच्चों और किशोरों को सरकारी खर्चे पर संपन्न घरों के बच्चो के साथ 'स्वतंत्र विद्यालय' नाम के सुसज्जित विद्यालयों में रखा जाता है। ऐसा करने पर प्रतिपूरक शिक्षा वाले छात्र न केवल शिक्षा में उपयुक्त स्तर प्राप्त करने में विफल रहे हैं वरन् आगे चलकर अपने परिवार से भी दूर होते रहे हैं।

इन परीक्षणों से हमारी आँखे खुल जानी चाहिए और युगों से सम्मानपूर्ण जीवन जीने के अधिकार से वंचित लोगो की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उन्हें शिक्षा के समान सुअवसर उपलब्ध कराने के कार्यक्रमो अथवा सर्वसामान्य शिक्षा व्यवस्था की सम्भावनाओं से इतनी आशा नहीं रखनी चाहिए। हमे मानव-मानव के बीच सच्ची समानता लाने में शिक्षा की शक्ति के बारे में अपने आदर्शवादी सूत्रो का प्रदर्शन सावधानी पूर्वक करना चाहिए। विद्यालय से बाहर शिक्षा से अधिक प्रभावशाली कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं जो वर्तमान अन्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था को बनाए रखना चाहती हैं। शिक्षा अपनी भूमिका को व्यापक संदर्भ में परस्पर क्रियारत सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक शक्तियो द्वारा निर्धारित सीमा के अदर ही निभा सकती है। अंतिम निष्कर्ष के रूप में शैक्षिक रूपांतरण सामाजिक रूपान्तरण पर अवलंबित है। अनुकूल परिस्थितियों मे शैक्षिक रूपांतरण और सामाजिक रूपांतरण साथ-साथ चलते हैं।

इस सबध में कम-से-कम एक ऐसा बुनियादी परिवर्तन होना आवश्यक है जिससे एक ओर उच्च वर्ग तथा मध्यम वर्ग की जीवन शैली और जीवन-स्तर के बीच की चौड़ी खाई को पाटा जा सके और दूसरी ओर निम्नवर्ग की। ऐसा परिवर्तन सामाजिक कार्यों से लाया जा सकता है। इन कार्यो के निम्नलिखित उद्देश्य होने चाहिए

1. मनुष्य द्वारा मनुष्य के प्रत्यक्ष और परोक्ष शोषण के सभी रूपो को कम-से-कम करना;
2. विद्यमान निरकुश और असमान वेतन-ढांचे में उपयुक्त सशोधन कर धनी एवं

सम्पन्न वर्गों के व्यय पर सीमा और अंकुश लगाना; और

3. जन-साधारण के वास्ते एक आधारभूत निम्नतम जीवन-स्तर सुनिश्चित करने के लिए :
   (क) आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करने और सबके लिए सेवाएँ उपलब्ध कराने पर बल देना;
   (ख) सभी स्वस्थ व्यक्तियों को उचित वेतन पर रोजगार की सुरक्षा देना; और
   (ग) खाद्य-सामग्री तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की उचित एवं कुशल सार्वजनिक वितरण प्रणाली की व्यवस्था करना।

ऊपर बताए गए सामाजिक कार्यों का आशय एक बड़ा राष्ट्रीय अभियान चलाने अथवा कुछ तीव्र उपाय लागू करने से भी है।

यह तो स्पष्ट है कि आवश्यक परिवर्तन लाने में हमारे जैसे लोकतांत्रिक राज्य को एक बड़ी भूमिका निभानी है। राज्य को अल्पसुविधा प्राप्त वर्गों के पक्ष में हस्तक्षेप करना होगा और उन्हें गरीबी तथा अशिक्षा की आधारभूत बाधा से मुक्ति दिलाने में कम-से-कम आंशिक रूप से आवश्यक समर्थन और संरक्षण प्रदान करना होगा। किन्तु अभी तक इस दिशा में राज्य का कार्य भरोसेमंद नहीं रहा है। अतः अपेक्षित परिवर्तन लाने के पक्ष मे एक राष्ट्रव्यापी लोकप्रिय आदोलन चलाने की और भी अधिक आवश्यकता है जिससे राज्य को आवश्यक कदम उठाने के लिए चेताया जा सके।

इस संबंध में सीधा लोकप्रिय संगठन, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, होना अनिवार्य है क्योंकि इसके बिना न तो समाज की संरचना में और न शिक्षा प्रणाली मे क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया जा सकता है। अपेक्षित परिवर्तन को एक वास्तविकता बनाने के लिए समाज सेवको, राजनैतिक कार्यकर्ताओं, मजदूर सघो, किसान सगठनो, इस कार्य मे रुचि लेने वाले जन-सेवकों, शिक्षा प्राप्त कर चुके युवकों, शिक्षक संघों और विद्यालयों तथा कालेजो सहित सभी समाजसेवी संस्थाओ को विशाल राष्ट्रीय अभियान के लिए तैयार करना होगा। केवल ऐसे आदोलन से ही लोकतांत्रिक, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष समाज की स्थापना के राष्ट्रीय ध्येय के अनुरूप सामाजिक तथा शैक्षिक रूपान्तरण लाने में सफलता का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

सारांश

1. दक्षिण एशिया में भारत एक स्थायी राजनैतिक शक्ति के रूप में उभरा है।
2. किन्तु राजनैतिक परिदृश्य का एक अंधकारमय पक्ष भी है। भारत में लोकतंत्र प्रत्यक्ष अधिक, यथार्थ कम है। समाजवाद केवल एक नारा बनकर रह गया है। व्यवहार में धर्मनिरपेक्षता के आदर्श का गलत अर्थ लगाया जाता है।
3. स्वतंत्रता के तुरंत बाद और इस बीच की अवधि में समाज के कमजोर वर्गों, विशेषकर अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की अवस्था में सुधार लाने के लिए व्यापक उपाय किए गए हैं।

4. ऐसा देखने में आया है कि समाज के कमजोर वर्ग अपनी सामाजिक और आर्थिक दशा सुधारने के लिए उपलब्ध कराए गए सुअवसरों का पूरी तरह से लाभ नहीं उठा रहे हैं। समाज में ऐसे अनेक विघटनकारी तत्व सक्रिय हैं जो सामाजिक सामंजस्य और राष्ट्रीय एकता प्राप्त करने के मार्ग में बाधक है।

चिंतन प्रश्न

1 लोकतत्र की भावना आपके आस-पास के समाज मे कहाँ तक विद्यमान है? लोकतत्र के स्थानीय अंगों की कार्यप्रणाली मे क्या दोष है?
2 आपके मत से समाजवाद लाने की दिशा मे सरकार ने कौन-कौन से कदम उठाए हैं? कौन से कदम समाजवाद को नकारते है?
3 उन रीति-रिवाजो का पता लगाइए जो धर्मनिरपेक्षता के प्रतिकूल पडते है।
4 समाज के कमजोर वर्गो, विशेष रूप मे अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों को शिक्षा के समान सुअवसर प्रदान करने के लिए आपके क्षेत्र मे कौन-कौन से कदम उठाए गए है? इन सुअवसरो का सदुपयोग किस सीमा तक हो रहा है और इसके क्या परिणाम रहे हैं?
5. सरकारी नौकरियों मे अनुसूचित जातियो और/या अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित कोटे का जो प्रावधान है, उससे आपके क्षेत्र के इन समुदायो की आर्थिक स्थिति मे कहाँ तक सुधार हुआ है?
6 समाज के कमजोर वर्गो की शैक्षिक एव आर्थिक उन्नति के लिए जो विशेष सुअवसर प्रदान करने का प्रावधान है, उसके प्रति अन्य समुदायो के लोगो की क्या प्रतिक्रियाएँ है? ऐसी प्रतिक्रियाएँ क्यो हैं?
7. लोकतत्र, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता के राष्ट्रीय ध्येयो को प्राप्त करने के लिए जिस लोकप्रिय आदोलन को चलाने के सबध मे ऊपर सुझाव दिए गए है उन्हें लागू करने मे आपके विचार से कौन-कौन सी कठिनाइयाँ आ सकती है?

इकाई : 2.4 वर्तमान शैक्षिक परिदृश्य

आइए, अब हम अपना ध्यान भारत मे शिक्षा के वर्तमान परिदृश्य की ओर केन्द्रित करे। आप जानते ही है कि हमारे देश मे अभी भी बड़ी सख्या मे लोग निरक्षर है। 1981 की जनगणना के अनुसार साक्षरता का प्रतिशत 36 23 था। 1951 मे साक्षरता के प्रतिशत से, जो 16 6 था, इसकी तुलना करने पर हम कुछ चैन की साँस ले सकते हैं। पर वस्तुत 30 वर्षो की यह प्रगति बहुत ही कम है। अधिक चौकाने वाली बात यह है कि साक्षरता का प्रतिशत बढने के बावजूद निरक्षर लोगो की विशुद्ध सख्या मे वृद्धि होती जा रही है। यह असगति जनसख्या विस्फोट के कारण है। फिर पुरुषो और महिलाओ मे साक्षरता क्रमश: 46.89 प्रतिशत और 24.82 प्रतिशत है। इन आंकड़ों से स्पष्ट होता है कि साक्षरता के मामले में महिलाएँ पुरुषो से काफी पीछे हैं और देश में 50 प्रतिशत से अधिक पुरुष अभी भी निरक्षर हैं। इसी प्रकार देश के विभिन्न क्षेत्रों और राज्यों में साक्षरता में काफी भिन्नता है। जहाँ केरल में साक्षरता सबसे अधिक यानी 70.42 प्रतिशत है, वहाँ अरुणाचल प्रदेश में सबसे कम यानी 20.79 प्रतिशत ही है।

आप इस बात से अच्छी तरह परिचित हैं कि 1978 में पूरे देश मे बड़े जोर-शोर के साथ प्रौढ़

साक्षरता अभियान शुरू किया गया था और इस कार्य के लिए जन-धन के समाधान बड़ी मात्रा में जुटाए गए थे। पर ऐसा प्रतीत होता है कि निरक्षरता की निराशाजनक स्थिति में इस अभियान से कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ। आप सम्भवतः इस असंतोषजनक स्थिति के कुछ कारणों से परिचित होंगे। उनमें सबसे गंभीर कारण प्रौढ़ों के मन में साक्षरता के लिए उत्साह का अभाव है। यदि प्रौढ़ों के मन में यह बात बैठा दी जाए कि साक्षरता का सम्बन्ध उनके जीवन से है तो उनमें वास्तविक उत्साह पैदा हो सकता है। साक्षरता कार्यक्रम यदि ऐसे हों कि वे प्रौढ़ों की नित्यप्रति की समस्याओं से जुड़े हुए हों और उन्हें इन समस्याओं के समाधान के लिए उचित ढंग से प्रेरित किया जाए तो वे साक्षर बनने के लिए तत्पर हो सकते हैं।

जन शिक्षा का एक अन्य महत्त्वपूर्ण क्षेत्र प्रारंभिक शिक्षा है। इसकी महत्ता इस बात से जानी जा सकती है कि इसका उल्लेख भारत के संविधान में राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांतों के अंतर्गत किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 45 के अनुसार

"राज्य इस संविधान के प्रारंभ से दस वर्ष की कालावधि के भीतर सब बालकों को चौदह वर्ष की अवस्था समाप्ति तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपबन्ध करने का प्रयास करेगा।"

प्रारंभिक शिक्षा को विशेष दर्जा देना न केवल इस कारण से न्यायसंगत है कि यह आधुनिक समाज की एक सांस्कृतिक आवश्यकता है, बल्कि यह इसलिए भी आवश्यक है कि देश के आर्थिक विकास में इसका महत्व है।

संवैधानिक निदेश के अनुसार सार्वभौमिक, निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का लक्ष्य 1960 तक प्राप्त हो जाना चाहिए था। पर संविधान में दी गई व्यवस्था अपने में सशक्त नहीं है क्योंकि इसे [illegible] व्यवस्था को लागू किया जा रहा है।

ऐसा कहने का अर्थ यह कदापि नहीं कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद शिक्षा के क्षेत्र में कोई प्रगति ही नहीं हुई है। वास्तव में सभी स्तरों पर शिक्षा में अत्यधिक विस्तार हुआ है। शिक्षा प्रणाली का दोष यह है कि अभी भी भारतीय समाज के उच्च और मध्यम वर्ग को ही उसका लाभ पहुँच रहा है। निम्न वर्ग के लोगों को, जिन्हें कि शिक्षा की सबसे अधिक आवश्यकता है, शिक्षा से न्यूनतम लाभ ही पहुंचा है। निम्नतम वर्गों के लगभग 20 प्रतिशत बच्चे विद्यालय का मुँह ही नहीं देखते। औपचारिक शिक्षा प्रणाली उनकी [illegible] अपेक्षा कर लेती है। जो बच्चे विद्यालय में प्रवेश ले लेते हैं उनमें से लगभग 70 प्रतिशत पांचवीं कक्षा तक आते-आते और लगभग 80 प्रतिशत आठवीं कक्षा तक आते-आते बीच में ही पढ़ाई छोड़ देते हैं। केवल 15 प्रतिशत ऐसे भाग्यशाली होते हैं जो बारहवीं कक्षा तक पहुँच पाते हैं और एक प्रतिशत से भी कम छात्र विश्वविद्यालय में स्नातक की पहली डिग्री प्राप्त करने में सफल हो पाते हैं। यह बात तो सर्वविदित है कि जो बच्चे बीच में ही पढ़ाई छोड़ देते हैं उनमें से एक बहुत बड़ा अनुपात निम्न सामाजिक-आर्थिक वर्गों के बच्चों का होता है। फिर भी यह संतोष का विषय है कि प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण संबंधी स्थिति में सुधार लाने के लिए अब कुछ व्यावहारिक उपाय अपनाए जा रहे हैं।

इतनी अधिक संख्या में बीच में ही, विशेष रूप से प्रारंभिक शिक्षा के स्तर पर ही पढ़ाई छोड़ देने से राष्ट्रीय समाधनों का जो इतना भारी अपव्यय होता है उसका कारण है—शिक्षा की

अनुपयुक्त विषय-वस्तु, तकनीक और कार्यक्रम। वस्तुतः शिक्षा के पूरे तामझाम में विद्यमान सामाजिक व्यवस्था की विषमताओं को ध्यान में नहीं रखा गया है। इन विषमताओं को दूर करने के लिए आवश्यक कदम उठाने की तो बात ही अलग है।

उपर्युक्त वर्तमान शिक्षा प्रणाली मे सार्वजनीन शिक्षा यानी प्रौढ शिक्षा और प्रारंभिक शिक्षा के कार्यक्रमों को कम महत्व दिया गया है। इसके विपरीत माध्यमिक और उच्च शिक्षा के कार्यक्रमो को अधिक महत्व दिया गया हे जिसका लाभ अधिकाशतः देश के 30 प्रतिशत उच्च वर्गीय लोगों को मिल रहा है। इसका प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि शिक्षा के लिए निर्धारित कुल राशि का लगभग 60 प्रतिशत माध्यमिक और उच्च शिक्षा पर व्यय होता है। इससे प्रकट होता है कि भारत मे शिक्षा का विकास अभी तक एकागी है। यह शिक्षा हमे ब्रिटिश शासन से विरासत के रूप मे मिली है जिसका प्रयास भारत के उच्च वर्गो को आगे बढ़ाना तथा शक्तिशाली बनाना था। देश के सामाजिक और आर्थिक विकास में शिक्षा का कोई योगदान नही था। एक ओर शिक्षा पहले से विद्यमान सामाजिक विषमताओ को और अधिक बढ़ाती है और दूसरी ओर प्रधानतः सैद्धातिक होने और राष्ट्रीय आवश्यकताओं के लिए सगत न होने के कारण यह देश के भौतिक संसाधनो का विकास करने में निष्फल रही है।

आप जानते है कि स्वतत्रता के बाद की अवधि मे उत्पादन–मूलक शिक्षा, शिक्षा के अभिन्न अंग के रूप में कार्य-अनुभव अथवा समाजोपयोगी उत्पादक-कार्य, उच्च माध्यमिक शिक्षा का व्यवसायीकरण, तकनीकी शिक्षा आदि की काफी चर्चा रही है। इन नेक विचारो को व्यावहारिक रूप देने के लिए बड़ी-बडी योजनाएँ भी बनाई गई तथा सरकारी स्तर पर उनका अनुमोदन और प्रारम्भ भी किया गया। पर अमल के चरण में इन योजनाओ का कोई फल नही निकला। हाथ गंदे करने वाले व्यावाहारिक कार्य के प्रति सामंती दृष्टिकोण सम्पूर्ण भारतीय समाज मे आज तक व्याप्त है। यही कारण है कि ऐसी योजनाएँ आगे नही बढ़ पाती।

हाल मे शिक्षा के सभी स्तरो पर विज्ञान एव प्रौद्योगिकी के बहुअपेक्षित तत्व पर बल दिया गया है। ऐसा दावा किया जाता है कि अधविश्वास, भाग्यवाद और अविवेकशील भय जैसी सामाजिक कुरीतियो से मुक्ति मे, और आधुनिक समाज के भौतिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए आवश्यक विवेकशील मनःस्थिति तैयार करने में विज्ञान काफी सहायक हो सकता है। इसी प्रकार यदि प्रौद्योगिकी का उचित प्रयोग किया जाए तो इससे गरीबी और अस्वास्थ्य समाप्त हो सकेगा तथा लोगो का जीवन-स्तर ऊपर उठाने मे मदद मिल सकेगी।

विज्ञान को विद्यालय पाठ्यचर्या में यद्यपि एक अभिन्न अग के रूप में सम्मिलित किया गया है, फिर भी इसका शिक्षण कुछ इस ढग से किया जा रहा है कि इसका उद्देश्य ही विफल हो गया है विद्यालय मे पढाए जाने वाले अन्य विषयों की तरह विज्ञान के शिक्षण मे भी तथ्यो को रटने पर बल दिया जाता है न कि जिज्ञासा और छानबीन की प्रवृत्ति जगाने पर। इस प्रकार की विधि से विवेकशील चितन को बढावा नही मिलता।

अभी तक विद्यालय पाठ्यचर्या में प्रौद्योगिकी को बहुत सीमित स्थान मिला है। इसके अतिरिक्त प्रौद्योगिकी की शिक्षा आधे मन से दी जाती है। परिणाम यह होता है कि इससे लोगों के जीवन स्तर को ऊपर उठाने का कथित उद्देश्य पूरा होने की संभावना बहुत कम रह जाती है।

सारांश

1. जनसंख्या विस्फोट के कारण साक्षरता का प्रतिशत बढ़ते जाने के बावजूद निरक्षर लोगों की विशुद्ध संख्या में वृद्धि होती जा रही है।
2. पुरुषों और महिलाओं, शहरी और देहाती क्षेत्रों, विभिन्न वर्ग के लोगो और देश के विभिन्न क्षेत्रों में साक्षरता के प्रतिशत में भारी असमानता है।
3. विभिन्न प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों के बावजूद प्रौढ़ों की साक्षरता के प्रतिशत में और उनकी सामाजिक चेतना में आशानुकूल सुधार नहीं हुआ है।
4. सार्वजनीन अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा के लिए किए गए प्रावधान का लक्ष्य अभी तक प्राप्त नहीं हो पाया है।
5. प्रारंभिक और माध्यमिक विद्यालयों में बच्चों के बीच में ही पढ़ाई छोड़ देने से राष्ट्रीय संसाधनों का भारी अपव्यय हो रहा है।
6. समाज के कमजोर वर्गों की लड़कियाँ और लड़के विद्यालयी शिक्षा का पूरा लाभ नहीं उठा पा रहे हैं।
7. शिक्षा के सभी चरणों में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के बहु-अपेक्षित तत्व पर बल दिया गया है। ऐसा दावा किया जाता है कि हमारी पारंपरिक सामाजिक कुरीतियों से मुक्ति तथा आधुनिक समाज के भौतिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए आवश्यक वैज्ञानिक वातावरण के निर्माण में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी काफी सहायक हो सकती है।

विचिंतन प्रश्न

1. उन संभावित कारणो को सोचिए जिनसे आपके क्षेत्र के निरक्षर प्रौढ सरकार द्वारा चलाए गए प्रौढ शिक्षा कार्यक्रम का लाभ नहीं उठाते।
2. आपके गाँव अथवा मोहल्ले के (क) प्राथमिक विद्यालय और (ख) माध्यमिक विद्यालय मे कितने बच्चे पढ़ रहे हैं?
3. कुछ बच्चे विद्यालय में प्रवेश क्यों नहीं लेते?
4. बच्चे किस सीमा तक पहुँच कर बीच में ही पढ़ाई छोड़ देते हैं? किस सामाजिक-आर्थिक वर्ग के बच्चे बीच में पढ़ाई छोड़ते हैं?

निष्कर्ष

यह स्पष्ट है कि सभी शिक्षकों को उभरते भारतीय समाज के रूप में स्वतंत्र भारत के ध्येयों तथा मूल्यों की जानकारी होना आवश्यक है जिससे कि जीवन-यापन की नई परिस्थितियो के अनुकूल शिक्षा कार्यक्रमों को बनाने में उन्हें सहायता मिल सके। शिक्षा पर सदा ही काल, स्थान और परिस्थितियों का प्रभाव रहा है और भविष्य में भी रहेगा। उदाहरणार्थ किसी समय-विशेष के राष्ट्रीय लक्ष्य और समाज द्वारा पोषित मूल्य शिक्षा-संबंधी निर्णयों और कार्यक्रमों के लिए मार्गदर्शन का काम करते हैं। ऐसा न होने पर उस विशेष समय में उस स्थान के सामाजिक आदर्शों और शैक्षिक व्यवहारों के बीच विषमता आ जाती है। ऐसी स्थिति में समाज को स्थायित्व प्रदान करने के लिए शिक्षा संरक्षण-शक्ति के रूप में अपनी भूमिका निभाने में पूरी तरह असफल हो जाती है और इस प्रकार वह व्यक्ति के सुधार और समाज की प्रगति में न तो उपयोगी सिद्ध होती है और न अर्थपूर्ण।

शिक्षा का कार्य समाज की आदर्श आवश्यकताओं की पूर्ति करने का है, तथापि उन्हें प्राप्त करने के लिए शिक्षा को समाज की वास्तविक आवश्यकताओं के दावों और तकाज़ों के अनुसार अपने को ढालना होता है।शिक्षा के लिए यह आसान काम नहीं है। समकालीन भारतीय समाज के अध्ययन से आपको स्पष्ट हो गया होगा कि हमारे समाज में सत्ता, प्रतिष्ठा और भौतिक पदार्थों के संबंध में कुछ आधारभूत असमानताएँ हैं। अत: हमें सामाजिक समता लाने के लिए कार्य करना है। दूसरे, आज के समाज के सामने युवकों की बेरोजगारी का संकट भी मुँह बाएं खडा है। इस समस्या के समाधान पर तत्काल ध्यान देने की आवश्यकता है। तीसरे, यदि हमें सांस्कृतिक विविधता में एकता के युगो पुराने सिद्धांत पर चलना है तो समाज के जातिगत अल्पसंख्यकों को उनकी सांस्कृतिक पहचान बनाए रखने में सहायता करनी होगी और साथ ही, उन्हें भारतीय जीवन की मुख्य धारा में अपने को पूरी तरह से ढालने के योग्य बनाना होगा। चौथे, हमारे जैसे जटिल समाज की एक समग्र संस्कृति है जिसमें सभी भारतीय समभागी हैं। साथ ही जातिगत और भौगोलिक अंतर भी हैं जैसे शहरी और देहाती क्षेत्रों का अंतर तथा देश के विभिन्न क्षेत्रों का अंतर। इन अंतरों पर आधारित बडी संख्या में उप-संस्कृतियाँ है। इन विभिन्न उप-सांस्कृतिक समूहों में आर्थिक और सामाजिक विषमताएँ हैं। इन विभेदों को हमें कम करना है। अंत में, सभी भाषायी, धार्मिक और जातिगत समूहों के अपने भिन्न सामाजिक वर्ग हैं। उच्च, उच्च-मध्यम, निम्न-मध्यम, उच्च मजदूर, निम्न मजदूर वर्ग जैसे विभिन्न सामाजिक वर्ग एक समग्र सोपानी सामाजिक संरचना में गुँथे हुए हैं। इस सामाजिक सोपान में हमें निम्न वर्ग से उच्च वर्ग की ओर सामाजिक गतिशीलता को सम्भव बनाना है।

सामाजिक-आर्थिक स्थिति को बेहतर बनाने तथा सामाजिक गतिशीलता लाने में शिक्षा को एक मुख्य साधन समझा जाता है। यह बात ध्यान मे रखने की है कि केवल शिक्षा से ही इस लक्ष्य की प्राप्ति नहीं की जा सकती। इसके लिए सभी विद्यमान सामाजिक संस्थाओ को एक जुट होकर काम करना होगा। इन रचनात्मक परिवर्तनों में शिक्षा अपनी भूमिका किस तरह निभाए—यह विद्यालयों और शिक्षकों के लिए एक विकट चुनौती है और शिक्षक बनने का विचार करते हुए आपको भी इस चुनौती का सामना करना चाहिए।

द्वितीय खण्ड

शिक्षा के सम्मुख चुनौतियाँ

इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि प्रगतिशील दृष्टिकोण और गतिशील प्रकृति वाली सामाजिक व्यवस्था में समाज की परंपरा को बनाए रखना और साथ ही उसकी पुनर्रचना भी करते रहना शिक्षा के दो अनिवार्य उत्तरदायित्व हैं। किन्तु दोनों अतियों से सावधान रहना आवश्यक है। केवल समाज की परंपरा को बनाए रखने पर ही बल देने से समाज की प्रगति रुक जाएगी और वह गैर-लचीला तथा गतिहीन बन जाएगा। दूसरी ओर समाज के परंपरागत मूल्यों की पूर्ण उपेक्षा या तिरस्कार कर केवल परिवर्तन के लिए परिवर्तन की बात सोचने से वह अपने विगत से कट जाएगा और इसका अंत अराजकता और सामाजिक विघटन हो सकता है।

दूसरे खण्ड के उप-विषय 'शिक्षा के सम्मुख चुनौतियाँ' के तीसरे और चौथे अध्याय में शिक्षा के इन दो पक्षों की चर्चा की गई है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के इस युग में शिक्षा को हमारे बदलते भारतीय समाज की संरक्षणात्मक तथा रचनात्मक शक्ति के रूप में अपनी भूमिका निभानी है। इसी संदर्भ में तीसरे अध्याय में शिक्षक को केन्द्र बिंदु मानकर शिक्षा के उद्देश्यों तथा कार्यक्रमों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। चौथे अध्याय में शिक्षा पर प्रभाव डालने वाले सामाजिक परिवर्तनों की पहचान कराई गई है। साथ ही उन विविध सामाजिक प्रक्रियाओं का भी विश्लेषण किया गया है जो सामाजिक परिवर्तन के साधन के रूप में अति महत्वपूर्ण किन्तु कठिन भूमिका निभाने में शिक्षा के मार्ग में सहायक होती हैं अथवा रुकावट डालती हैं।

तीसरा अध्याय

शिक्षा : भारतीय समाज की संरक्षणात्मक एवं सर्जनात्मक शक्ति

प्रथम खण्ड के पहले और दूसरे अध्याय में भारतीय समाज के सामाजिक परिदृश्य का -- उसके अतीत का और वर्तमान का--चित्रण किया गया है। इस अध्याय में हमने स्वतंत्र भारत के शैक्षिक लक्ष्यों की विवेचना तीन संदर्भों में करने का प्रयास किया है--(1) वैयक्तिक वृद्धि एवं विकास; (2) अपनी सीमाओं में तथा व्यापक दायरे में समाज की गतिशील एवं परिवर्तनशील भूमिका; और (3) परिवर्तन के परिणाम एवं घटक के रूप में व्यक्ति एवं समाज के बीच होने वाली पारस्परिक अंत: क्रियाएँ। निश्चय ही इससे सामान्यत: सभी शिक्षकों और विशेषकर प्राथमिक विद्यालय के शिक्षकों की मनोवृत्ति और कार्य में प्रचुर परिवर्तन आएगा क्योंकि प्रत्येक शिक्षक को शैक्षिक समस्याओं, व्यवहारों और निर्णयों से संबद्ध प्रश्नों के हल मालूम करने पड़ेंगे। इस बात को ध्यान में रखकर इस अध्याय को अनेक इकाइयों में बाँटा गया है। इकाई 3.1 में शिक्षा की संकल्पना को स्पष्ट किया गया है। इकाई 3.2 में शिक्षा की उक्त संकल्पना के संबंध में शिक्षा के लक्ष्यों का उल्लेख है। उप-इकाइयों 3.2.1., 3.2.2, 3.2.3 और 3.2.4 में निम्नलिखित तथ्यों के संबंध में शिक्षा के इन उद्देश्यों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है :

1. परंपराओं की निरंतरता को बनाए रखना,
2. राष्ट्रीय ध्येयों को प्राप्त करना,
3. समकालीन समाज की वास्तविक आवश्यकताओं को पूरा करना; और
4. अनिश्चित भविष्य की चुनौतियों का सामना करना।

ये उद्देश्य एक दूसरे से एकदम विलग नहीं हैं किन्तु इनकी मुख्य विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए इनका वर्णन अलग-अलग किया गया है।

इकाई 3.3 में प्रारंभिक शिक्षा के शैक्षिक लक्ष्यों का उल्लेख है। शिक्षा प्रणाली की सफलता का मूल्यांकन सदा शैक्षिक उद्देश्यों के संदर्भ में होता है, अर्थात् सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि किस सीमा तक शिक्षा अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर पाती है। इस प्रकार शिक्षा के परिणामों का शिक्षा के लक्ष्यों के साथ निकट का संबंध है। इकाई 3.4 में इन उद्देश्यों के संबंध में शिक्षा के परिणामों का विश्लेषण किया गया है। इकाई 3.5 में इस बात की व्याख्या की गई है कि इन लक्ष्यों के अनुसार शैक्षिक समस्याओं के समाधान में शिक्षक अपने व्यावसायिक दर्शन और अपनी कार्य-योजना को क्यों और कैसे विकसित करता है। अपने व्यावसायिक दर्शन के साथ-साथ शिक्षक को विद्यार्थियों, माता-पिताओं, सहयोगियों और समुदाय तथा अपने कार्य से संबद्ध संस्थाओं के साथ अपने संबंध निर्धारित करने के लिए एक व्यावसायिक आचार-संहिता भी चाहिए। यह

बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि शिक्षा की सफलता अथवा असफलता इन संबंधों के आपसी प्रभाव की गुणवत्ता पर निर्भर है।

इकाई 3.1 शिक्षा की वर्तमान संकल्पना

शिक्षा की वर्तमान संकल्पना को समझने के लिए हमें इसकी कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं से परिचित हो जाना चाहिए।

पहले, शिक्षा एक मानवीय प्रयास है। इसका संबंध मानवीय व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों—बुद्धि, भावना और विवेक से तो है ही, साथ ही यह मनुष्य को इस योग्य भी बनाती है कि वह समाज में चिरकाल से पोषित परंपराओं से अपना सामंजस्य स्थापित कर सके।

दूसरे, शिक्षा एक गतिशील प्रक्रिया है। प्रगतिशील दृष्टिकोण वाला कोई भी समाज उस शिक्षा पद्धति को स्वीकार नहीं कर सकता जो समय के साथ बंधी हो। शिक्षा को जीवन के साथ जोड़कर ही देखा-समझा जा सकता है। शिक्षा व्यवस्था को समाज के इस योग्य बनाना होगा कि आवश्यकता पड़ने पर वह सामाजिक तथा आर्थिक असुरक्षा को कम कर सके और व्यावसायिक गतिशलता को सुदृढ कर सके। शिक्षा को अवसर प्रशस्त करने का मार्ग समझा जाता है। फिर यदि शिक्षा को एक प्रक्रिया मान लिया जाए तो इसके तीन प्रमुख कार्य होंगे। पहले, इसे "विश्वव्यापी" होना पड़ेगा जिससे इसके अंतर्गत सभी प्रकार की तथा सभी स्तर की शिक्षा आ सके। दूसरे, सामाजिक प्रगति के समग्र प्रयास में मानव संसाधन विकास के एक पूंजी निवेश के रूप में इसे अन्य सामाजिक एवं आर्थिक विकास में 'एकीकृत' करना होगा। तीसरे, इसे 'आजीवन' बनाना होगा, अर्थात् हर आयु में तथा सभी स्थितियों और परिस्थितियों में इसे कार्य व्यवहार में लाना होगा।

शिक्षा का तीसरा गुण विकास है, अर्थात् मानव व्यक्तित्व का विकास जिसमें तीन बातें प्रमुख हैं। पहले, शिक्षा को निम्नतम स्तर के अध्ययन से उच्चतम स्तर के अध्ययन तक सैद्धांतिक, प्रौद्योगिक, व्यावहारिक और शारीरिक श्रमयुक्त होना चाहिए जिससे जीवन के सभी चरणों पर सामाजिक योगदान में व्यक्ति की क्षमता बनी रहे। दूसरे, शिक्षा का राष्ट्रीय विकास के अभिन्न अंग के रूप में देश की सामाजिक एवं आर्थिक वृद्धि लाने में भारी महत्व है। तीसरे, राष्ट्रों की बढ़ती हुई परस्पर निर्भरता और प्रौद्योगिक विकास ने समय और स्थान की दृष्टि से विश्व को बहुत छोटा बना दिया है और शिक्षा-विचारकों का विश्वास है कि आज की दुनिया में कोई राष्ट्र अलग रहकर जी ही नहीं सकता। अतः प्रत्येक राष्ट्र को शिक्षा के माध्यम से मानव-संबंध विज्ञान को आगे बढ़ाना चाहिए ताकि सभी देशों के लोग शांति, सौहार्द तथा धैर्यपूर्वक इस दुनिया में एक साथ रहने तथा मिल-जुलकर काम करने के योग्य बन सकें।

शिक्षा की चौथी विशेषता, जिसका मानव विकास से निकट का संबंध है, दिशा है अर्थात् शिक्षा के एजेन्ट को मानव विकास के लिए दिशा प्रदान करनी चाहिए। एजेन्ट व्यक्ति, संस्था अथवा संस्था-समूह कोई भी हो सकता है। समाज के सभी व्यक्तियों को शिक्षा के एजेन्ट की दिशा मान्य होनी चाहिए। शिक्षा प्राप्त करने की औपचारिक और अनौपचारिक दोनों विधियों का पालन करते हुए, जिसमें शिक्षक, माता-पिता और समुदाय का सक्रिय योगदान रहेगा और अधिक लचीले शैक्षिक परिवेश में व्यक्तिगत विभेदों और आवश्यकताओं को स्वीकार करते हुए उसमें विविध पाठ्यचर्याओं की अधिक छूट रहनी चाहिए।

शिक्षा की चार मुख्य विशेषताओं के सार को समझ लेने के बाद अर्थात् (क) शिक्षा एक मानवीय

प्रयास है (ख) शिक्षा एक प्रक्रिया है (ग) शिक्षा मानव व्यक्तित्व का विकास करती है और (घ) एजेन्ट के माध्यम से शिक्षा इस विकास-प्रक्रिया को दिशा प्रदान करती है, अब हम आज की शिक्षा की संकल्पना पर ध्यान दे सकते हैं। यह स्वीकार किया जाता है कि शिक्षा एक नैतिक प्रयास है क्योंकि इसका सम्बन्ध मानवमात्र से है जिनके कुछ मूल्य और आदर्श होते हैं। जिन्हें सभी मनुष्य प्राप्त करना चाहते हैं।

नैतिक प्रयास के रूप में शिक्षा की संकल्पना का लोकतंत्र की वृद्धि के लिए बहुत महत्व है क्योंकि लोकतत्र का संकेतिक शब्द उत्तरदायित्व है न कि स्वायत्तता। इसका उद्देश्य संतुष्टियों को कम करना नहीं बल्कि जो उत्कृष्ट है उसे स्थापित करना तथा बढ़ाना है। लोकतंत्र में सार्वभौमिकता और समता का आशय विशेषाधिकारों से नहीं बल्कि दायित्वों और न्याय दिलाने के अवसरों से है। लोकतांत्रिक प्रणाली हर व्यक्ति की इच्छाओं की अधिक-से-अधिक पूर्ति कराने की नहीं बल्कि स्वार्थजनित अन्यायों को कम-से-कम करने का साधन है। यदि शिक्षा को एक नैतिक प्रयास माना जाए तो इसका स्वत: निष्कर्ष यह निकलता है कि शिक्षक, छात्र और अध्यापन-अधिगम प्रक्रिया सभी मूल्यों से अभिप्रेरित हैं।

सारांश

1. शिक्षा की चार विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:
   (क) शिक्षा एक मानवीय प्रयास है;
   (ख) शिक्षा एक प्रक्रिया है;
   (ग) शिक्षा मानव व्यक्तित्व का विकास करती है; और
   (घ) एजेन्ट के माध्यम से शिक्षा इस विकास को दिशा प्रदान करती है।
2. शिक्षा की वर्तमान संकल्पना के अनुसार शिक्षा एक नैतिक प्रयास है।
3. नैतिक प्रयास के रूप में शैक्षिक-संकल्पना का लोकतंत्र की वृद्धि के लिए भारी महत्व है।

विचिंतन प्रश्न

1. "शिक्षा की संकल्पना" से क्या तात्पर्य है?
2. विभिन्न लोगों के लिए शिक्षा का अर्थ भिन्न-भिन्न हो सकता है। इस प्रकार के कम-से-कम तीन दृष्टिकोणों का उल्लेख कीजिए।
3. शिक्षा की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
4. "शिक्षा एक नैतिक प्रयास है" इससे आप सहमत हैं अथवा नहीं? अपने उत्तर के लिए कारण दीजिए।

इकाई 3.2 स्वतंत्र भारत के शैक्षिक लक्ष्य

भारत ने, जिसकी कि एक दीर्घकालीन सांस्कृतिक परंपरा रही है, सामाजिक रीति-रिवाज, सामाजिक व्यवहार, भाषा और धर्म के रूप में, आदर्शों और विचारों की अनेक सांस्कृतिक धरोहरें संजोई हुई हैं। इन्हें समाज के स्तम्भ के रूप में जाना जाता है। समकालीन समाज के शैक्षिक-लक्ष्यों का निर्धारण करते समय हम इनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। पर आँख मूँद कर इनका अनुसरण करने से भय है कि कहीं हमारे अतीत की वास्तविक विरासत के रूप में अनेक समयातीत विश्वास तथा असंगत रीति-रिवाज हमारी वर्तमान शिक्षा पर हावी न हो जाएं। अतः समाज के आदर्शों या आकांक्षाओं की सुदृढ़ नींव डालने के लिए इन परंपराओं की अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करना आवश्यक है जिससे इनमें से सम्पन्नतम और सर्वोत्तम परंपराओं को स्वीकार किया जा सके और जो परंपराएँ अनुपयोगी हों उन्हें अस्वीकार कर दिया जाए।

दूसरे, राष्ट्रीय लक्ष्यों को भी शैक्षिक लक्ष्यों में उतारा जाना चाहिए। यदि ऐसा न किया गया तो इन लक्ष्यों से रहित हमारे शैक्षिक कार्यक्रमों में असंतुलन और कमियाँ आ जाएँगी तथा सामाजिक लक्ष्यों का अनुसरण करने वाली मूल्य प्रणाली और शिक्षा की विषय-वस्तु के बीच की खाई के कारण शिक्षा दोषपूर्ण हो जाएगी।

तीसरे, अज्ञानता और पूर्वाग्रहों को जड़ से उखाड़ने तथा गरीबी और आर्थिक विषमता आदि को दूर करने के लिए शिक्षा के लक्ष्यों को समकालीन समाज की वास्तविक माँगों की पूर्ति अवश्य करनी चाहिए। साथ ही केवल शिक्षा के द्वारा व्यक्तियों को समकालीन समाज के अनुसार ढाल लेने से ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, बल्कि इस पर भी विचार किया जाना चाहिए कि मानव और उसके समाज के अनिश्चित भविष्य के लिए शिक्षा का गंभीर अर्थ क्या हो। हमारी वर्तमान किशोर पीढ़ी को आने वाले कल के लिए तैयार करने में शिक्षा के उद्देश्यों तथा उत्तरदायित्वों का पुनर्मूल्यांकन भी किया जाना चाहिए। भूत, वर्तमान और भविष्यमुखी शिक्षा की बात सोचना एक बहुत बड़ा कार्य है। फिर भी, समकालीन भारत में यह शिक्षा संबंधी तात्कालिक आवश्यकता है। हमें बिल्कुल ही भिन्न एक ऐसे प्रेरणा-स्रोत का आह्वान करना है जिसका अतीत में सर्वथा अभाव था। इस नई शिक्षा प्रेरणा की आवश्यकता को समझने का एक संकेत शिक्षा की रचनात्मक भूमिका पर अधिक बल दिए जाने में है। सम्पूर्ण सांस्कृतिक अतीत के संरक्षण की भूमिका निभाने की अपेक्षा गतिशील, मुक्त, खुले, बहुवादी और परिवर्तनशील समाज के निर्माण के लिए प्रयास करने में नई शिक्षा प्रेरणा की आवश्यकता है। कहने का तात्पर्य है कि आज की शिक्षा के निम्नलिखित लक्ष्य होने चाहिएं:

1. व्यक्तियों को उन सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों के लिए तैयार करना जो राष्ट्रीय विकास और वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक प्रगति के लिए आवश्यक हैं;
2. इन परिवर्तनों को किस प्रकार स्वीकार करें और इनसे किस प्रकार लाभ प्राप्त किया जाए-इसके बारे में लोगों का मार्गदर्शन करना; और
3. अंत में, उनमें गतिशील परंपरा से न चिपकी रहने वाली और गैर-रूढ़िवादी मनोवृत्ति पैदा करना।

इस प्रकार की शिक्षा देने का आशय व्यक्ति को विशेष कार्यों/नौकरियों के लिए तैयार करना हो, यह आवश्यक नहीं और न आवश्यक हो सकता है। उसका उद्देश्य परिवर्तनशील समाज

के अनुकूल अपने को ढालना तथा अच्छी तरह से जीवन-निर्वाह करने के लिए उपयोगी दक्षता प्राप्त करना है।

संक्षेप में, हमारे समकालीन समाज को अपने शैक्षिक लक्ष्य निर्धारित करते समय अंतर्राष्ट्रीय बोध, विश्व नागरिकता और विश्व-बन्धुत्व के क्षेत्रों में शाश्वत शैक्षिक विचार को भी स्वीकार करना होगा। यहां इस बात का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि किसी भी सामाजिक और राजनैतिक दर्शन का अनुपालन करने वाला समाज वैयक्तिक वृद्धि और सामाजिक प्रगति लाने के लिए स्वयं अपने शैक्षिक लक्ष्यों का निर्धारण करता है।

सारांश

शिक्षा संबंधी लक्ष्यों का निर्धारण करने में शैक्षिक चिन्तकों को निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए:

(क) सांस्कृतिक परंपराओं की माँगें;
(ख) समाज के सामाजिक आदर्श;
(ग) समकालीन समाज की वास्तविक आवश्यकताएँ;
(घ) परिवर्तनशील समाज में भविष्य की अनिश्चितता; और
(ङ) सार्वभौमिक शैक्षिक विचार।

विचिंतन प्रश्न

1. किन परिस्थितयों में शिक्षा संबधी लक्ष्य गतिहीन अथवा गतिशील होते हैं?
2. लक्ष्यों के बारे में सावधानी से निर्धारित वक्तव्यों से क्या लाभ होता है?
3. शैक्षिक लक्ष्य सम्बन्धी वक्तव्य शिक्षण में कब सहायक होते हैं और कब रूकावट डालते है?

इकाई 3.2.1 परंपराओं की निरंतरता संजोए रखने के लिए शैक्षिक लक्ष्य

आपके मन में यह शंका उठ सकती है कि सांस्कृतिक परंपराओं के परिरक्षण को वर्तमान शिक्षा-पद्धति का एक लक्ष्य क्यों माना जाए? इसकी अपेक्षाएँ क्या हैं? परंपराओं का परिरक्षण हमारी शिक्षा की विषयवस्तु में किस विशिष्ट मूल्य-प्रणाली को दिशा दे रहा है? एक तथ्य तो बिलकुल स्पष्ट ही है और वह यह है कि हमारी प्राचीन सभ्यता की श्रमपूर्वक अर्जित उपलब्धियां— विश्वास, भाषा, कला-कौशल और रीति-रिवाज— हमारे बीच बने रहने चाहिएँ और वे विस्मृति के गर्त में नहीं समा जाने चाहिएँ भले ही वे हमारी वर्तमान जीवन-पद्धति से मेल न खाते हो। यह बात कुछ अटपटी सी लगती है। उसकी प्रासंगिकता जानने के लिए दुबारा दृष्टिपात करने पर हमारे सामने यह बात आती है कि अपनी सांस्कृतिक परम्परा को केवल परिरक्षित रखना और उसका प्रसार करना भर ही हमारा उद्देश्य

नहीं है बल्कि हमें इसे और अधिक समृद्ध बनाना है क्योंकि इसका आज के विद्यार्थियों के साथ सीधा सबध है। सांस्कृतिक परंपरा का अध्ययन बच्चो को यह समझ प्रदान कराना है कि हमने प्राचीन उपलब्धियो से अपनी संस्कृति में क्या-क्या लाभ उठाए हैं। इससे वे सम्पूर्ण सस्कृति के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकेंगे। इससे उन्हें यह शोध करने में सहायता मिलेगी कि व्यक्तिगत एवं सामाजिक लाभ के लिए किस सांस्कृतिक पूंजी की साज-सम्भाल की जाए और ज्ञान के किस अंग में सुधार की आवश्यकता है। यह कार्य प्रत्येक पीढ़ी के लिए नए सिरे से आरम्भ करना सम्भव नहीं है, किन्तु प्रत्येक पीढी को मितव्ययिता के सिद्धांत का पालन करते हुए अपने पूर्वजों द्वारा प्रदत्त नींव पर भवन-निर्माण करना है।

इस आधार पर प्राचीन परंपरा को एक शैक्षिक लक्ष्य मान लेने के औचित्य की और अधिक छानबीन करने की आवश्यकता है ताकि यह पता लग सके कि किस सास्कृतिक धरोहर को भारतीय शिक्षा का लक्ष्य माना जाए?

भारतीय सस्कृति की प्रथम विशेषता यह है कि वह एक मिली-जुली संस्कृति है। भारत विभिन्न भाषाओं, धर्मों और जीवन-विधाओं वाली अनेक जातियो का घर रहा है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि प्राचीन, मध्य और आधुनिक काल में इस विविधता मे भी निरतर एकता का एक सुदृढ सूत्र मौजूद रहा है। उदाहरणार्थ (लगभग 2000 वर्ष ईसा पूर्व में) आर्यो ने भारत पर चढ़ाई करके हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के लोगों पर, जिन्होंने (3000 ई.पू. से पहले) सिंधु घाटी सभ्यता का निर्माण किया था, विजय पाकर अपनी सैनिक शक्ति की प्रभुता को तो प्रदर्शित कर दिया किन्तु हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के लोगों की जीवन-पद्धति के आगे उन्होंने घुटने टेक दिए और इस प्रकार अपनी संस्कृति को समृद्ध बनाया। यही बात एक-के-बाद-एक भारत मे आने वाले हिंद-पार्थी, शक और कुशाणो के साथ भी घटी। यद्यपि जीत का सेहरा उनके सिर पर रहा तथापि भारतीय सस्कृति की अपेक्षा उनकी संस्कृति कम विकसित थी। परिणाम यह हुआ कि उनकी संस्कृति आर्यों की संस्कृति में घुल-मिल गई जो पहले से भारत में बस चुके थे और अपनी एक जीवन प्रणाली विकसित कर चुके थे। संस्कृतियों के आपस में घुलने-मिलने की प्रक्रिया पहले से बसे लोगों की सहिष्णुता और स्वीकृति की भावना के कारण ही संभव हो सकी। भारत का विशाल भू-क्षेत्र और प्रकृति की अति विविधता जैसे भौगोलिक तत्वों ने भी इस मनोवृत्ति के विकास में सुविधा पहुँचाई। भारतीय संस्कृति की तीसरी विशेषता संस्कृति के कुछ विशेष रूपों की एक-के-बाद-दूसरे युग में निरंतरता बनी रहना है। इस सम्बन्ध में एक दिलचस्प बात यह है कि जाति-प्रथा का जन्म आर्यों के समय से हुआ। आर्यों ने व्यवसाय के अनुसार लोगों को चार मुख्य वर्णों में बाँट दिया। इस जाति-प्रथा से भी सांस्कृतिक संश्लेषण की प्रक्रिया में सहायता मिली। व्यवसाय के अनुसार अपने को बसाने में आक्रमणकारियों को स्थानीय जनता के किसी गंभीर विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। प्रारम्भ में तो जाति प्रथा बहुत लचीली रही, कोई व्यक्ति अपनी जाति बदल सकता था। बाद में यह बहुत कठोर हो गई और सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से इस प्रथा की सबसे बडी हानि सबसे छोटी जाति के लोगों को उठानी पड़ी। इस प्रथा से उन्हें अनेक कष्ट झेलने पड़े। भारतीय संस्कृति की चौथी शाश्वत विशेषता कृषि-अर्थव्यवस्था की स्वाभाविक इकाई के रूप में ग्राम-स्वराज रहा है। इसका भी उद्भव आर्य संस्कृति मे ही है। राष्ट्रीय चेतना का अभाव जाति-प्रथा की एक दुर्बलता है जो मध्यकाल के अंत तक चलती रही। चन्द्रगुप्त मौर्य, कनिष्क

और हर्ष तथा बाद में मुगल सम्राटों द्वारा किए अनेक प्रयासों के बावजूद राजनैतिक एकता स्थायी रूप से स्थापित नहीं हो पाई और जब कभी स्थापित हुई भी तो बहुत अल्पजीवी रही।

भारतीय संस्कृति की निरंतरता, संश्लेषण और समृद्धि की कहानी इतिहास के मध्यकाल में भी दोहराई गई। इसी युग में दो शक्तिशाली धर्म, अर्थात् हिन्दू और इस्लाम एक दूसरे से टकराए और एक दूसरे के सामाजिक और धार्मिक आदर्शों को लेकर लड़ते-भिड़ते रहे। इस संघर्ष का परिणाम सांस्कृतिक समझौते में हुआ, प्राचीन काल की भांति सांस्कृतिक संलयन में नहीं। इस सांस्कृतिक समझौते ने कला, स्थापत्य, साहित्य और एक नए दर्शन को भी प्रभावित किया जो हिन्दू, बौद्ध और इस्लाम का मिश्रण था। मध्य काल के इतिहास को देखने से यह पता चलता है कि अफगान और तुर्क जैसे आक्रमणकारी अपनी राजनैतिक प्रभुता और आर्थिक सत्ता स्थापित करने के लि भारत में आए। उनकी लड़ाई मुख्यत: राजनैतिक और आर्थिक मोर्चों पर रही न कि धार्मिक और सांप्रदायिक मामलों पर। यह बात इससे सिद्ध होती है कि बाद में वे इस्लामी सभ्यता में घुल-मिल गए।

यूरोप से पुर्तगालियों, डचों, अँग्रेजों और फ्राँसीसियों के कालक्रमानुसार भारत में आने की एक अलग ही कहानी है। वे भारत में व्यापार करने के ध्येय से आए थे, किन्तु बाद में राजनैतिक प्रभुता जमाने के लिए लड़ने लगे। उनमें केवल अंग्रेज ही सफल हो पाए। अंग्रेज विज्ञान में आगे बढ़े हुए थे। उन्होंने अपने को भारतीय लोगों से अलग-थलग ही रखा और इस देश की जनता के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं किया। किन्तु ब्रिटिश शासन की एक बहुत बड़ी देन यह थी कि उन्होंने भारतीय लोगों के अंदर राष्ट्रीयता की भावना जागृत कर दी। इसका श्रेय उनकी प्रशासनिक क्षमता को है। प्राचीन तथा मध्यकाल के शासक यह कार्य करने में असफल रहे।

संस्कृति के संरक्षण तथा संचरण की दो विधियाँ हैं। एक विधि यह है कि सभ्यता के संबद्ध अभिलेखों, चित्रों, ग्रंथों और अन्य साधनों का संग्रह कर उन्हें पुस्तकालयों तथा संग्रहालयों में संभाल कर रख दिया जाए। दूसरी विधि यह है कि राजनैतिक, धार्मिक और व्यावसायिक, जिसमें शिक्षा भी है, जैसी सामाजिक संस्थाओं का उपयोग किया जाए। राजनैतिक, धार्मिक और व्यावसायिक संस्थाएँ अपनी रूचि और विशेष प्रयोजनों के अनुसार अतीत का संरक्षण करती हैं किन्तु शिक्षा का उत्तरदायित्व सांस्कृतिक परंपराओं का प्रचार-प्रसार करना तथा हर क्रमिक पीढ़ी के व्यक्तित्व में उनको समाहित करना है।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि अपनी शिक्षा-पद्धति के उद्देश्यों का प्रतिपादन करने में हमें क्यों इन सांस्कृतिक सूत्रों को ध्यान में रखना चाहिए।

सारांश

1. भारतीय संस्कृति एक मिली-जुली संस्कृति है।
2. भारतीय संस्कृति के दो सबसे सशक्त रूप हैं: विविधता में एकता और सहिष्णुता एवं समझौते की भावना।
3. भारतीय संस्कृति की दो सबसे बड़ी दुर्बलताएँ हैं: जाति-प्रथा, जो आज भी विद्यमान है;

और मध्यकाल के अंत तक राष्ट्रीयता की भावना का अभाव रहना।
4. भारतीय संस्कृति की व्यावहारिक विशेषताओं के तीन परिणाम हैं: निरंतरता, सलयन/मेल-मिलाप और संवर्धन/विकास।
5. शिक्षा पद्धति से आशा की जाती है कि वह हर क्रमिक पीढ़ी के व्यक्तित्व में सांस्कृतिक परम्पराओं को समाहित कर उसे समृद्ध बनाए रखेगी।

विचिंतन प्रश्न

1 सस्कृति और सभ्यता में भेद बताइए।
2 भारत में जाति-प्रथा का प्रारम्भ कैसे हुआ?
3 नागरिको में राष्ट्रीयता की चेतना पैदा करना क्यो महत्वपूर्ण है?
4 भारतीय सस्कृति में विविधता में एकता से आप क्या समझते हैं?
5. वे कौन सी सामाजिक शक्तियाँ है जिन्होंने भारतीयों में समझौते की प्रवृत्ति विकसित करने में सहायता की है?

इकाई 3.2.2 राष्ट्रीय ध्येयों की प्राप्ति के नए शैक्षिक लक्ष्य

पहले अध्याय मे हमने स्वतंत्र भारत की सामाजिक आकांक्षाओं की और भारत के संविधान में सन्निहित राष्ट्रीय ध्येयों की विस्तार से चर्चा की है। पिछली उप-इकाई में आपने जान लिया है कि क्यो और कैसे शिक्षा की सरक्षण एव संरचरण भूमिका सभ्यता को बनाए रखने में सहायक होती है। वर्तमान पीढ़ी को भी कुछ आवश्यक नयापन लाकर तथा सुधार की कुछ नई-नई बातों को लागू कर इस सभ्यता को आगे बढ़ाना होगा। राष्ट्रीय ध्येय जनता के सामाजिक दर्शन के अनुसार समाज-निर्माण की प्रगति में दिशा प्रदान करते हैं।

यदि आप पहले अध्याय पर पुन: ध्यान दें तो आप पाएँगे कि राष्ट्रीय ध्येयों ने एक विशेष प्रकार के समाज के लिए, अर्थात समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक गणराज्य के लिए, जिसमे सभी नागरिको को न्याय, स्वतंत्रता, समता और बंधुता उपलब्ध हो, अपनी अभिरूचि प्रकट की है। आप यह भी देख सकते हैं कि समाज के लोकतांत्रिक, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष आदर्शों की चर्चा करते समय इन आदर्शों के संदर्भ में शिक्षा-संबंधी माँगों और आवश्यकताओं पर भी प्रकाश डाला गया है। यह प्रयास जानबूझकर किया गया था क्योंकि समाज के इन विभिन्न आदर्शों के शैक्षिक घटकों को अलग कर देने से उसकी छवि अधूरी ही रह जाएगी। शिक्षा को इस राष्ट्रीय विकास का एक अंग माना जाता है। पहले उल्लेख किए गए अनेक तथ्यों पर और अधिक प्रकाश डाला जाएगा और इनमें से अनेक तथ्यों पर अधिक बल दिया जाएगा।

उदाहरणार्थ संविधान में सन्निहित नागरिकों के अधिकार और कर्तव्य लोकतांत्रिक भारत में व्यक्ति के निजी विकास के लिए शैक्षिक लक्ष्यों का निर्धारण करने में भी मार्गदर्शन करते हैं। इन वैयक्तिक अधिकारों और कर्तव्यों के विपरीत राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांत इस बात का संकेत करते हैं कि किस प्रकार समाज में परिवर्तन लाकर राज्य व्यक्ति के विकास में सुविधा प्रदान

कर सकता है।

पहले हम यह मानकर चलेंगे कि शिक्षा लोकतंत्र की सफलता का आधार है। तब प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार की शिक्षा का केन्द्रीय उद्देश्य क्या होगा? इसका उत्तर निम्नलिखित हो सकता है:

इस प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को 'आत्मकेन्द्रित जीवन' से 'लगन और उत्कृष्ट सेवा के जीवन' में रूपांतरण करना होगा। चाहे यह शिक्षा घर पर हो या विद्यालय में अथवा किसी अन्य समाज-संस्था में और चाहे यह किसी भी विषय में हो जैसे— भाषा, गणित, विज्ञान अथवा समाज-विज्ञान में। क्योंकि लोकतंत्र को जीवन की एक विधा के रूप में स्वीकार कर लेने पर बल दिया जाता है, अतः लोकतंत्र का आदर्श मूलभूत नैतिक प्रतिबद्धता की सामाजिक अभिव्यक्ति हो जाता है। अतः लोकतंत्र के लिए मानव के विकास की शिक्षा पर बल होना चाहिए ताकि एक प्रबुद्ध नागरिक का विकास हो और साथ ही न्याय, स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व पर आधारित लोकतांत्रिक समाज की स्थापना हो। 'समकालीन समाज की आवश्यकताओं की प्रतिपूर्ति में शैक्षिक लक्ष्य' शीर्षक अगली उप-इकाई में चर्चा का केन्द्रीय विषय यही है।

मानवीय विकास की प्रक्रिया को शिक्षा प्रक्रिया से अलग करके नहीं देखा जा सकता। हर शिक्षा व्यवस्था का यह मूलभूत आधार है कि मनुष्य समाज के लोकतांत्रिक स्वरूप को और उसके विशेष मूल्यों को अपने आचरण में रचा-पचा सके तथा समाज को रूपान्तरित करने की प्रक्रिया में अपना योगदान दे सके। एक सफल लोकतंत्र में कुछ मानवीय मूल्यों के विकास की अपेक्षा की जाती है ये मूल्य हैं: (क) ईमानदारी, निष्कपटता और न्यायनिष्ठा (ख) न्यायसंगत उद्देश्य की गुणवत्ता और कार्य कुशलता के विकास के लिए सृजनशील उत्कृष्टता (ग) व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों में सदाचार की नैतिक कर्तव्य-भावना और प्राकृतिक संसाधनों का समुचित उपयोग करने में नैतिक उत्तरदायित्व की भावना तथा (घ) उन धार्मिक तत्वों के प्रति निष्ठा की भावना जिनसे मनुष्य के कार्य और आचरण प्रभावित होते हैं।

कहा जाता है कि जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में व्यक्ति पर अलग-अलग मूल्यों का प्रभाव होता है। यह भी माना जाता है कि मूल्यों का अर्जन श्रेणीबद्ध होता है और मूल्यों की सर्वोत्तम शिक्षा व्यक्तियों को विभिन्न विकासात्मक चरणों में दी जा सकती है। वृद्धि के प्रथम चरण में (अर्थात एक से चार वर्ष की आयु तक) बच्चों में सुरक्षा और वस्तुओं को अपना समझने की भावना विकसित होती है। इसका संबंध दैहिक अथवा भौतिक मूल्यों से है, जिसका उल्लेख पहले अध्याय में किया गया है। बच्चे को ठीक ढंग से भोजन, कपड़ा और आश्रय मिलने पर उसमें भरोसे की भावना पैदा होती है। वृद्धि के इस चरण में बच्चे में एक स्पष्ट व्यक्तित्व उभर कर आता है। इसी चरण में नैतिक एवं विशेषकर भावनात्मक मूल्य घर करने लगते हैं। विकास के दूसरे चरण में (चार से छः वर्ष तक की आयु) बच्चे में पर-निर्भरता कम होने लगती है और अपने-पराये का भाव जागने लगता है। चार से छः वर्ष की आयु के बच्चे में खेलने की प्रवृत्ति आती है और वह एक दूसरे को बाँटकर खाना सीखता है। इसी चरण में उसमें पहल करने की और सौन्दर्यबोध की भावना पैदा होने लगती है। छः से बारह वर्ष तक की आयु में वृद्धि धीरे-धीरे और एक समान रूप से होती है जिससे अन्य मूल्यों के साथ वह बौद्धिक मूल्यों को प्रमुखता देने लगता है। किशोरावस्था में ही अपने व्यक्तित्व को पहचानने की समझ आती है। यौन का विकास होने से दैहिक आवश्यकताओं के

साथ-साथ भावनात्मक और धार्मिक मूल्यों का भी निश्चित विकास होता है। किशोरावस्था में प्रेम, मित्रता और प्रेरणा जैसे घटकों का प्रभाव पड़ने लगता है। इस चरण में ही वह भावनात्मक, बौद्धिक और सौन्दर्यबोधक मूल्यों का सही-सही अनुभव करने लगता है। तरूण होने पर पितृत्व-बोध होने लगता है और आचार-सम्बन्धी मूल्य अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

ऐसा सुझाव है कि बच्चे को प्रारंभिक वर्षों में वही कुछ पढ़ाना चाहिए जिसकी माता-पिता, शिक्षक और समाज उससे अपेक्षा करते हैं। उसे काम के लिए कुछ अभिरूचियों का संकेत देने की आवश्यकता है। अतः विकास के इस चरण में मूल्यों के शिक्षण में एक प्रकार के मतारोपण से बचा नहीं जा सकता। फिर जैसे-जैसे बच्चा विकास के एक चरण से दूसरे चरण मे आगे बढ़ता जाए, उसके सामने विभिन्न मूल्य प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इंससे वह अपने गुरूजनों के मार्गनिर्देशन में अपने ढंग से उन्हें पहचानना सीखेगा और उनसे सामंजस्य स्थापित करेगा।

मूल्यों के शिक्षण के लिए किसी विशेषज्ञ की आवश्यकता नहीं होती। इसी तरह ऐसी कोई विशेष विषय-वस्तु नहीं जिससे मूल्यों को पढाया जा सके। ये मूल्य सभी विषयों में निहित होते हैं और मूल्यों का शिक्षण देने का दायित्व सभी शिक्षकों का होता है, चाहे वे कोई भी विषय पढ़ाएँ। साधारणतः यह कहा जाता है कि बच्चे की आवश्यकताएँ, समाज-विशेष के मूल्य और उस समाज के शिक्षक-विशेष के मूल्य, ये तीन सूत्र ही मूल्यों के शिक्षण के आधार होने चाहिएं।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि एक विधि की अपेक्षा दूसरी विधि से कुछ मूल्यों का शिक्षण अधिक अच्छे ढंग से किया जा सकता है। मूल्यों के शिक्षण की प्रथम विधि मौखिक संवाद है। इस विधि से बौद्धिक मूल्यों का शिक्षण सबसे अच्छे ढंग से कराया जा सकता है पर इस विधि का सौन्दर्य बोधी, नैतिक और धार्मिक मूल्यों के शिक्षण पर बहुत सीमित प्रभाव पड़ता है। मूल्यों के शिक्षण की दूसरी विधि प्रदर्शन द्वारा शिक्षण करना है। इस विधि का सौन्दर्य बोधी और नैतिक मूल्यों को सीखने में विशेष महत्व है। तीसरी विधि अनुकरण की है जिस के द्वारा छात्र सर्जनात्मक उत्कृष्टता सीखता है। मूल्यों के शिक्षण की चौथी विधि मूल्यांकन पर आधारित है जिसमें पुरस्कार और दंड, स्वीकृति या अस्वीकृति द्वारा छात्र का मार्ग-दर्शन किया जाता है। यह विधि बौद्धिक, सौन्दर्य बोधी एवं नैतिक मूल्यों के शिक्षण के लिए महत्वपूर्ण है। मूल्यों के शिक्षण की पाँचवीं विधि सहभागिता है जिसमें शिक्षक और छात्र विभिन्न भूमिकाएँ निभाते हैं इस विधि का नैतिक पूल्यों के विकास में भारी महत्व है। मूल्यों के शिक्षण की अंतिम और सबसे महत्वपूर्ण विधि चर्चा की है जिसमें किसी मूल्य के गुण पर शिक्षक और छात्र चर्चा करते हैं। यह विधि कठिन अवश्य है किन्तु इस विधि से सभी प्रकार के मूल्यों को सीखा जा सकता है।

अंत में यह कहा जा सकता है कि लोकतंत्र में सबसे अधिक महत्व व्यक्ति के विकास को दिया जाता है जिससे अपनी योग्यता के अनुसार वह समाज में अपना अधिक-से-अधिक योगदान कर सके और वहाँ अपना सही स्थान प्राप्त कर सके।

सारांश

1. शिक्षा लोकतंत्र की सफलता का आधार है।

2. लोकतंत्र में शिक्षा का लक्ष्य मानव विकास की शिक्षा होना चाहिए।
3. उपर्युक्त संदर्भ में बौद्धिक सक्षमता, सर्जनात्मक श्रेष्ठता, नैतिक दायित्व और धार्मिक निष्ठा के क्षेत्रों में मूल्यों को पूर्ण जीवन की एक विधा समझा जा सकता है।
4. जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में व्यक्ति पर भिन्न-भिन्न मूल्यों का प्रभाव होता है।
5. मूल्यों के शिक्षण का दायित्व सभी शिक्षकों का है, चाहे वे कोई भी विषय पढ़ाएँ।
6. मूल्यों के शिक्षण की विभिन्न विधियाँ हैं, जैसे– मौखिक संवाद, प्रदर्शन, अनुकरण, मूल्यांकन, सहभागिता और चर्चा। इनमें अंतिम विधि सबसे कठिन है।

विचिंतन प्रश्न

1. क्या आप मानते हैं कि शिक्षा लोकतंत्र की सफलता का आधार है?
2. 'स्वार्थपूर्ण जीवन' और 'लगन तथा उत्कृष्ट सेवा के जीवन' के तीन उदाहरण दीजिए।
3. मानव विकास की शिक्षा से आप क्या समझते है?
4. शिक्षा के इस लक्ष्य में कौन-कौन से मूल्य अंतर्निहित हैं?
5. पूर्ण जीवन-विधा के रूप में धर्म की व्याख्या कीजिए?
6. आप अपने को मूल्यों के शिक्षण के लिए किस प्रकार तैयार कर सकते हैं?
7. विद्यालय की ऐसी स्थितियों का वर्णन कीजिए जिनमें आप मूल्यों का शिक्षण कर सकते हो।

इकाई 3.2.3 समकालीन समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शैक्षिक लक्ष्य

अब तक की चर्चा से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि हमारे लोकतांत्रिक, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष समाज का मार्ग-दर्शन संविधान की प्रस्तावना में सन्निहित मानव-बंधुत्व के चार सिद्धांतों से होता है, जैसे– न्याय, स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व। उसमें दो दिशाओं में शैक्षिक सुधार की आवश्यकता बताई गई है:

(i) मानव विकास की शिक्षा का व्यापक उद्देश्य वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के लिए व्यक्तियों को प्रबुद्ध नागरिक बनाना है; और
(ii) शिक्षा के द्वारा ऐसे विशिष्ट सामाजिक उद्देश्यों को पहचानना होगा जिनके द्वारा ऐसी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण हो सके जो समकालीन समाज की शक्तियों तथा दुर्बलताओं पर आधारित हों। समाज की ये शक्तियां एवं दुर्बलताएँ इसमें व्याप्त प्रमुख कार्यशील शक्तियों का परिणाम हैं। प्रस्तुत उप-इकाई में इसी दूसरे पक्ष पर प्रकाश डाला गया है।

इस संदर्भ में पूर्वोल्लिखित कुछ बातों को दुहराना उचित होगा। समाज का आशय ऐसे व्यक्तियों के समूह से है जो एक सरकारी व्यवस्था से जुड़े होते हैं, जो एक क्षेत्र विशेष में रहते हैं और जो आपसी सामाजिक संबंधों में भागीदार होते हैं। प्रत्येक समाज की अपनी संस्कृति अथवा उपसंस्कृति होती है। हमारी लोकतांत्रिक आकांक्षाएँ न्याय, स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व के

आधार पर हमारे समाज की सामाजिक सरंचना में और अपनी संस्कृतियों में परिवर्तन लाना चाहती हैं।

प्रारंभ में हम यह कह सकते हैं कि हमारा समाज सांस्कृतिक विविधताओं वाला सामज है। इस सांस्कृतिक विविधता के अंतर्गत विभिन्न जातीय समूह, अनेक प्रकार के सामाजिक वर्ग, ग्रामीण-शहरी और पुरूष-महिला उप-संस्कृतियां सम्मिलित हैं।

अनेक विभिन्न जातीय समूहों और बहु उप-संस्कृतियों वाले हमारे समाज में अनेक अल्पसंख्यक समुदाय भी हैं जो समाज की मुख्य सांस्कृतिक धारा से काफी अलग-थलग हैं। यह विविधता लोकतंत्र का नकारात्मक रूप नहीं है। वस्तुतः लोकतंत्र में विविधता की आवश्यकता होती है और इन उप-समूहों तथा पूरे राष्ट्र की स्वस्थ वृद्धि के लिए वह समाज में इस विविधता को बनाए रखना चाहता है। साथ ही 'लोकतांत्रिक सांस्कृतिक बहुवाद' के नियम के अंतर्गत जिसका लोकतंत्र में सम्मान होता है, इस विविधता में वह एकता लाना चाहता है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस सामाजिक दर्शन का पोषण करने वाले समाज में शैक्षिक उद्देश्य क्या हो सकते हैं? इस संबंध में शिक्षा को निम्नलिखिन प्रयास करने होंगे :

(क) प्रत्येक अल्पसंख्यक जाति-समूह की सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखना; और साथ ही

(ख) उनके कला-कौशल और दृष्टिकोण का विकास करना जिससे वे समाज की मुख्य सांस्कृतिक धारा में सहभागी बन सकें।

इसका कारण ढूँढने के लिए हमें बहुत दूर नहीं जाना पड़ेगा। लोकतंत्र में इन उप-संस्कृतियों को, जो भारी श्रम और प्रयासों से पनपी है, नष्ट नहीं किया जाता। इसके विपरीत, लोकतांत्रिक सत्ता यह चाहती है कि सामान्य हित तथा एकता के उद्देश्य के लिए वे आपस में मिलें-जुलें। इस संबंध में शिक्षा का विशिष्ट उद्देश्य केवल लोकतांत्रिक सांस्कृतिक बहुवाद की शिक्षा ही हो सकता है जो राष्ट्रीय विकास में न केवल सांस्कृतिक विभेदों को स्वीकार करता है बल्कि विभिन्न संस्कृतियों के सकारात्मक पक्ष पर भी बल देता है।

सामाजिक वर्ग-संरचना के बिना किसी समाज का अस्तित्व सम्भव नहीं। अतः लोकतंत्र में सामाजिक वर्ग-संरचना का प्रमुख आधार शिक्षा, व्यवसाय तथा आय की तालिकाएँ होती हैं, जाति या मात्र आय नहीं। जाति अथवा आय पर आधारित सामाजिक वर्ग-संरचना व्यक्तियों को उस सामाजिक वर्ग में रहने के लिए प्रोत्साहित करती है जिसमें उनके माता-पिता और पूर्वज रहे हैं, जब कि लोकतंत्र में स्वीकृत संकल्पना के अनुसार अपनी योग्यता और प्रयास के आधार पर व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे वर्ग में पहुँच सकता है। शिक्षा व्यक्ति को ऊँची नौकरी दिला सकती है ऊँची नौकरी का अर्थ है अधिक आय। इस स्थिति में उसके लिए सामाजिक गतिशीलता के मार्ग खुल जाते हैं। दूसरे, लोकतंत्र में दक्षता पर आधारित व्यवसायों की आवश्यकता होती है जो व्यक्ति को अपने कार्य में 'सैद्धांतिक अंतर्दृष्टि' विकसित करने में सहायक होते हैं और इस प्रकार कार्य साधनों का अधिक अच्छे ढंग से उपयोग करने को प्रोत्साहित करते हैं। 'सैद्धांतिक अंतर्दृष्टि' वाला व्यक्ति अपने कार्य के विषय में 'क्यों' 'कैसे' और 'क्या' को स्पष्ट कर सकता है। औद्योगिकीकृत-लोकतंत्र में अकुशल कार्यकर्ताओं का शायद ही कोई स्थान हो। तीसरे, यह देखा गया है कि कृषि-प्रधान समाज में रहने वाले लोग रूढ़िवादी, अनुसारक और अप्रतिस्पर्धी होते हैं। किन्तु औद्योगिक समाज मे कार्यकर्त्ता अरूढिवादी, गैर-अनुसारक और अति प्रतिस्पर्धी होते हैं क्योंकि इसमें सभी व्यवसाय

दक्षता पर आधारित होते हैं और इस प्रकार के समाज की सामाजिक वर्ग-संरचना की नींव तीन मुख्य तालिकाओं– शिक्षा, व्यवसाय और आय पर आधारित होती हैं।

इस प्रकार के समाज में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के वैयक्तिक भेद को स्वीकार करते हुए सभी को शिक्षा का सुअवसर प्रदान करना है जिससे व्यक्ति को परिवार और समाज पर भार बनने से बचाया जा सके, अन्यथा इससे वैयक्तिक हानि, पारिवारिक हानि और सामाजिक हानि हो सकती है।

हमारे समाज में न केवल ग्रामीण तथा नागरी उपसंस्कृतियाँ हैं बल्कि क्षेत्रीय उपसंस्कृतियाँ भी हैं। इन भेदों में विभिन्न प्रदेशों और ग्रामीण तथा नागरी क्षेत्रों में विद्यमान अनेक विषमताओं का संकेत मिलता है। ये विषमताएँ अल्पसंख्यक जाति-समूहों की अपेक्षा शिक्षा के लिए अधिक बड़ी चुनौती प्रदान करती हैं। सामाजिक सामंजस्य और राष्ट्रीय एकता के लिए ये बहुत बड़ा संकट सिद्ध होती हैं।

किसी भी समाज में तीन प्रकार की सामाजिक अंतः क्रियाएँ होती हैं: (क) व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, व्यक्ति और समूह के बीच तथा एक समूह की अन्य समूह के बीच उनकी संख्या के आधार पर होने वाली अंत : क्रियाएँ; (ख) प्राथमिक समूह (प्राईमरी ग्रुप), द्वितीयक समूह (सैकंडरी ग्रुप) और तृतीयक समूह (टर्शरी ग्रुप) के बीच घनिष्ठता के आधार पर होने वाली अंतः क्रियाएँ; और (ग) समायोजन, विरोध तथा सहयोग जैसी सामाजिक प्रक्रियाओं के आधार पर होने वाली अंतः क्रियाएँ। प्रायः यह देखा जाता है कि सामाजिक वर्गों और जातीय समूहों के बीच आर्थिक विषमता, जातीय भेदभाव, एक दूसरे के प्रति असहिष्णुता की प्रवृति तथा पूर्वाग्रह कभी-कभी इन दोनों को बिल्कुल अलग-थलग कर देते हैं। दूसरी ओर लोकतंत्र उनमें परस्पर आदान-प्रदान को बनाए रखना चाहता है क्योंकि यह व्यक्तियों के व्यवहार में, समूहों के व्यवहार में और समूहों के व्यवहार-रूपों में परिवर्तन लाने का एक साधन है। लोकतंत्र का लक्ष्य संस्थागत स्तर पर, सामुदायिक स्तर पर, राज्य स्तर पर और अंततः राष्ट्र स्तर पर अंतः वर्गीय और अंर्तसमूही सामंजस्य स्थापित करना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति तभी हो सकती है जब शिक्षा के तात्कालिक उद्देश्यों को इस दिशा में मोडा जाए। इससे अततोगत्वा राष्ट्रीय एकता के लिए शिक्षा के लक्ष्य की पूर्ति में सहायता मिल सकती है। लोकतांत्रिक सामाजिक व्यवस्था मे शिक्षा के इस लक्ष्य का सर्वोच्च महत्व है। इस संबंध में संस्कृति के अभौतिक पक्षों–भाषा और धर्म का उल्लेख किया जा सकता है। भोजन और कपड़ा जैसे संस्कृति के भौतिक पक्षों में आसानी से फेर-बदल तथा परिवर्तन किया जा सकता है। किन्तु भाषा और धर्म के बारे में लोग अत्यंत संवेदनशील होते हैं। कभी-कभी तो वे राष्ट्रीय एकता के मार्ग में रूकावटें भी पैदा करते हैं। अतः शिक्षा-प्रक्रिया में सहभागिता के द्वारा सामाजिक सामंजस्य और सामाजिक एकता लाने में शिक्षक को सावधानी बरतनी होगी।

हमारे समाज में पुरुष और महिला उपसंस्कृतियों की विद्यमानता से सांस्कृतिक विविधता सुस्पष्ट है और संविधान में सन्निहित लिंग समता के सिद्धांत पर आधारित होने के कारण इसने विवाद का रूप ग्रहण कर लिया है। लड़के और लड़की को शिक्षा के समान अवसर प्रदान करने के अधिकार से कोई इंकार नहीं कर सकता। शिक्षा का यह एक लक्ष्य होने के बावजूद अभी इस लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता नहीं मिली है। यह जीवन का कठोर सत्य है। अनेक प्रसंगों में यह देखा गया है कि लड़कियों और जातीय अल्पसंख्यकों को प्रदान किए गए शिक्षा के

अवसरों का उन्होंने पूरा लाभ नहीं उठाया है। अब प्रश्न उठता है कि शिक्षा के इस लक्ष्य को सन्मुख रखते हुए अपेक्षित परिणाम प्राप्त करने के लिए क्या समाजीकरण की इस प्रक्रिया पर अधिक-से-अधिक बल दिया जा सकता है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर एक संस्कृति (पारंपरिक समाज) से दूसरी संस्कृति (लोकतांत्रिक सामाजिक व्यवस्था)में रूपांतरण के उद्देश्य से आप सोचना चाहेंगे।

सारांश

1. हमारे समाज की सांस्कृतिक विविधता के अंतर्गत विभिन्न जातीय समूह, विभिन्न सामाजिक वर्ग, ग्रामीण और नागरी तथा पुरुष एवं महिला उपसंस्कृतियाँ आती हैं।
2. इस बहुरूपी समाज के शैक्षिक लक्ष्य निम्नलिखित हैं:
   (i) लोकतांत्रिक सांस्कृतिक बहुवाद की शिक्षा;
   (ii) अंतःसमूह और अंतःवर्ग में सामंजस्य की शिक्षा; और
   (iii) राष्ट्रीय एकता की शिक्षा।
3. लोकतांत्रिक सांस्कृतिक बहुवाद की शिक्षा ने जहाँ एक ओर व्यक्ति-व्यक्ति के अंतर को स्वीकारने और शिक्षा के समान अवसर प्रदान करने के प्रावधान पर अधिक बल दिया है वहीं दूसरी ओर यह उन्हीं शैक्षिक लक्ष्यों को कार्यरूप देने में निश्चय ही सहायक रही है।

विचिंतन प्रश्न

1. आधुनिक शैक्षिक लक्ष्यों की पूर्ति के मार्ग में आनेवाली कुछ कठिनाइयों का उल्लेख कीजिए।
2. आपके विचार से शिक्षा का (क) समकालीन समस्या के समाधान में और (ख) सामाजिक गतिशीलता की वृद्धि में कितना योगदान हो सकता है?
3. लोकतांत्रिक सांस्कृतिक बहुवाद से आप क्या समझते हैं? अपने शब्दो में इसकी व्याख्या कीजिए।
4. लोकतंत्र राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति किस प्रकार कर सकता है?
5. सभी को शिक्षा उपलब्ध कराने से संबद्ध प्रावधानों का उल्लेख कीजिए।
6. लड़कियाँ शिक्षा के अवसरों का पूरा-पूरा लाभ उठा सकें इसके लिए आप क्या कर सकते हैं?
7. आप समाज में विद्यमान सामाजिक वर्ग-भेद को किस प्रकार कम कर सकते है?
8. आपके समाज में निम्नलिखित के क्या अर्थ हैं?
   (क) अवसर समता की खोज;
   (ख) ग्रामीण और नागरी उपसंस्कृति;
   (ग) पुरुष और महिला उपसंस्कृति; तथा
   (घ) अलगाव को दूर करने से संबद्ध शैक्षिक कार्यक्रम।

इकाई 3.2.4 अनिश्चित भविष्य की चुनौतियों का सामना करने के लिए शैक्षिक लक्ष्य

यह तो स्पष्ट है कि आज प्रारम्भिक विद्यालयों में पढ़ने वाले बच्चों के जीवन का अधिकांश भाग इक्कीसवीं शती में बीतेगा। उस समय के समाज की विशेषताओं की पूर्व-कल्पना कर पाना कठिन है किन्तु हम यह अनुभव कर सकते हैं कि उस समय का समाज हमारे तथा हमारे पूर्वजों के समाज से बहुत भिन्न होगा। उसके थोड़े-बहुत लक्षण अभी से दिखाई देने लगे हैं। ये लक्षण हैं: विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की प्रगति के परिणामस्वरूप ज्ञान की मात्रा और गुण में अत्यंत तेजी से हो रही वृद्धि के कारण पहले की अपेक्षा इन दिनों सामाजिक परिवर्तन की गति अधिक तीव्र हो रही है; भौतिक संसाधनों को समृद्ध बनाने के लिए ऊर्जा के नए-नए स्रोत काम में लाए जा रहे हैं जिसके कारण लोगों के पास अधिक समय बचने लगा है। इन लक्षणों से भावी समाज की कुछ निम्नलिखित विशेषताओं का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है:

(क) लोगों का दृष्टिकोण अधिक वैज्ञानिक होगा;

(ख) उनके भौतिक संसाधनों में अनेक प्रौद्योगिक उपकरण होंगे;

(ग) उनकी व्यावसायिक संरचना रोजगार-मूलक होगी जिसमें अकुशल कर्मचारी कम रहेंगे, तकनीशियनों और व्यावसायिक व्यक्तियों की संख्या अधिक होगी; और

(घ) सामाजिक परिवर्तन की गति हमारी कल्पना से भी अधिक तीव्र हो जाएगी।

विकासशील और अविकसित देशों पर इन सब बातों का क्या प्रभाव पड़ेगा? क्या ये देश भविष्य की इन चुनौतियों का सामना कर पाएँगे? अनेक कारणों से इसमें सन्देह है क्योंकि साधनों की कमी जैसी अनेक रुकावटों का सामना उन्हें करना पड़ सकता है। फिर भी इस बात पर सभी एकमंत हैं कि विकसित देशों ने जो कुछ अर्जित कर लिया है, उतना अर्जन विकासशील देशों को अपेक्षाकृत कम समय में कर लेना चाहिए।

शिक्षक शिक्षण के उद्देश्यों, विषय-वस्तु और कार्यप्रणाली की खोज में लगे ही हुए हैं। इस बात पर आज सहमति दिखाई पड़ती है कि अभूतपूर्व सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के इस युग में हमारी वर्तमान पीढ़ी का भविष्य गुण और समता के सिद्धांत पर आधारित शैक्षिक निर्णय लेने और कार्यक्रम बनाने के हमारे प्रयासों पर ही अधिकतर निर्भर है। अतः हमारा भावी समाज कैसा होगा इसका ठीक-ठीक ज्ञान न होने से शिक्षा का प्राथमिक लक्ष्य ऐसे उपयुक्त व्यक्ति के निर्माण का होना चाहिए जो अज्ञात भविष्य की परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढाल सके। ऐसे उपयुक्त व्यक्ति की विशेषताएँ होंगी—स्वयं की एक सुस्पष्ट छवि, नए अनुभवों को ग्रहण करने की मनोवृत्ति और दूसरे लोगों के साथ तादात्म्य स्थापित करने का गुण।

छात्रों के अपने बारे में सुस्पष्ट विचार बन सकें इसके लिए विद्यालय को प्रत्येक छात्र के व्यक्तित्व का सम्मान करना होगा और कक्षा में तथा विद्यालय में अनुकूल सामाजिक-भावनात्मक वातावरण विकसित करना होगा। छात्र अपनी गति से विकास कर सकें इसके लिए विद्यालय को उन्हें व्यक्तिपरक शिक्षा देने पर मुख्य रूप से ध्यान देना होगा। दूसरे, विद्यालयों को चाहिए कि वे छात्रों को अधिक-से-अधिक अनुभव प्राप्त करने, नए-नए विचारों को ग्रहण करने तथा नई-नई समस्याओं का सामना करके सीखने में सहायता करें। यह तो हमें पहले से ही पता है कि छोटा

बच्चा प्रारम्भ में आत्म-केन्द्रित होता है अर्थात् वह पूरी तरह अपने में ही तल्लीन रहता है। जब वह कुछ बड़ा हो जाता है तो वह एक समाज-निरपेक्ष प्राणी बन जाता है अर्थात् न तो उसमें सामाजिकता की भावना विकसित हो पाती है और न वह समाज-विरोधी ही बन पाता है। उसके व्यक्तित्व के विकास में अगला कदम यह है कि वह धीरे-धीरे सामाजिक प्राणी बनता जाए अर्थात् पहले तो वह छोटे समूहों में और बाद में बडे-समूहों के साथ अपनी पहचान स्थापित करना सीखता चले। विकास के इन कार्यों को सफलतापूर्वक कर पाने के लिए बच्चों को वातावरण का सहारा चाहिए। इसमें विद्यालय अपने विद्यार्थियों के आपसी संबंधों और छात्रों तथा शिक्षकों के संबंधों के बेहतर विकास पर अधिक ध्यान देकर अपनी भूमिका निभा सकते हैं।

सारांश

1. अज्ञात भविष्य के लिए शैक्षिक लक्ष्य गुणवत्ता और समता के सिद्धांत पर आधारित होंगे।
2. व्यक्तिपरक शिक्षा पर अधिक बल दिया जाना चाहिए।
3. सीखने की प्रक्रिया में अधिक गति लाने के लिए विद्यालयों को पढ़ने-पढ़ाने के अनुभवों के संयोजन में नई-नई विधियाँ खोजनी चाहिएं।
4. बच्चों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने के लिए विद्यालयों को चाहिए कि वे उन्हें तर्कपूर्ण चिंतन करने की क्षमता प्राप्त करने में सहायता प्रदान करें और इसके अभ्यास के लिए उन्हें अधिक-से-अधिक अवसर प्रदान करें।

विचिंतन प्रश्न

1. आपके विचार से भावी भारतीय समाज की क्या-क्या विशेषताएँ होंगी?
2. सामाजिक परिवर्तन का आभास देने वाले कुछ लक्षणों को बताइए।
3. भविष्य की चुनौतियों का सामना करने की दृष्टि से बच्चों को तैयार करने के लिए विद्यालयों के क्या दायित्व हैं?

इकाई 3.3 स्वतंत्र भारत में प्रारंभिक शिक्षा के लक्ष्य

हमारे विद्यालयों में 6 से 14 वर्ष तक के आयुवर्ग के बच्चों को पहली से आठवीं कक्षा तक प्रारंभिक शिक्षा प्रदान की जाती है। विद्यालयों में पढ़ने जाना आज एक आम बात हो गई है फिर भी ऐसे अन्य अनेक अनुभव हैं जो प्रारंभिक विद्यालयों में जाने वाले सभी बच्चों को एक-जैसे नहीं होते। इस भेद का कारण यह है कि विद्यालय में भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व वाले बच्चे पढ़ने आते हैं। उनके परिवारों के वातावरण में अंतर होता है। वे भिन्न-भिन्न समुदायों, भिन्न-भिन्न सामाजिक वर्गों और भिन्न-भिन्न आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्तरों वाले परिवारों से आते हैं। विद्यालयों में बच्चे जो कुछ और जैसे सीखते हैं उसमें ये ज्वलंत विभेद

ही असमानता के मूल कारण हैं। अतः यह कहना सही होगा कि बच्चा परिवार और अपने सांस्कृतिक वातावरण में जो कुछ सीखता है अपनी उसी जीवन-पद्धति को विद्यालय में भी ले जाता है। इसी प्रकार अलग-अलग सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश में स्थित विद्यालय भी अपने उस परिवेश में विद्यमान सामाजिक- सांस्कृतिक अंतरों को प्रतिबिम्बित करते हैं। इसी प्रकार शिक्षक भी अलग-अलग सामाजिक वातावरण से आते हैं और यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उनके वातावरण का अंतर जीवन और कार्य के प्रति उनके दृष्टिकोण को प्रभावित करता है। विचित्र बात यह है कि ये छात्र और शिक्षक कुछ शैक्षिक कर्तव्य पूरे करने के प्रमुख उद्देश्य से विद्यालय में एक छोटे समाज की और कक्षा मे उससे भी छोटे समाज की स्थापना कर लेते हैं।

अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कक्षाओं और पूरे विद्यालय के कार्यकलापों को अच्छे-से-अच्छे ढग से किस प्रकार आयोजित एवं संचालित किया जा सकता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि विद्यालय को परिवार तथा अन्य सामुदायिक एजेंसियों से कितनी सहायता प्राप्त होती है। यह बात प्रारंभिक विद्यालयों के संबंध में विशेष रूप से सही है।

इस अध्याय में शैक्षिक लक्ष्यों पर की गई चर्चा से पता चलता है कि विभिन्न स्तरों की शिक्षा के लिए लक्ष्यों के निर्धारण में अनेक कदम उठाने पड़ते हैं।

सबसे पहले शिक्षा के राष्ट्रीय उद्देश्यों का निर्धारण करना बहुत आवश्यक है। दूसरे, शिक्षा के इन राष्ट्रीय उद्देश्यो के ढांचे में विभिन्न प्रकार के स्तरों की शिक्षा के उद्देश्य संपादित किए जाते है जिससे विद्यार्थियों के क्रमिक और निरंतर विकास के लिए कुछ शैक्षिक उद्देश्यों पर बल दिया जा सके। तीसरे, इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखकर एक ऐसे मार्गदर्शक सिद्धांत का पता लगाया जाता है जो प्रत्येक स्तर की शिक्षा के लक्ष्यों के चुनाव के लिए सदा सही हो। हम निस्संकोच कह सकते हैं कि बच्चों को क्या-क्या सीखना चाहिए और वे क्या-क्या सीख सकते हैं, इसे मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में लिया जा सकता है। समाज का कोई वर्ग न तो इसके सही होने पर आपत्ति करेगा और न ही इससे मतभेद या असहमति व्यक्त करेगा। चौथे, मानव-अनुभवों के उन क्षेत्रों का पता लगाया जाता है जो बच्चों को दिए जाते हैं। ये अनुभव अर्थपूर्ण तथा उपयोगी होने चाहिएं जिससे बच्चे घर पर, विद्यालय में और समुदाय के कार्यकलापों में इन्हें संतोषजनक तथा लाभप्रद पा सकें। इसे उद्देश्यों के निर्धारण का अंतिम चरण माना जा सकता है।

आज विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी मानव-ज्ञान के सभी क्षेत्रों से जुड़ गई हैं। यही कारण है कि प्रत्येक समाज में तेजी से परिवर्तन आता जा रहा है। शिक्षा का लक्ष्य प्रारंभिक विद्यालय के बच्चों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण को विकसित करना है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रारंभिक शिक्षा का लक्ष्य बच्चों में जिज्ञासु अथवा अन्वेषी भावना विकसित करना होना चाहिए। प्रारंभिक शिक्षा का दूसरा लक्ष्य बच्चों में मानवीय गुणों का विकास करना होना चाहिए। साधारणतः इस लक्ष्य के संदर्भ मे बच्चे में आत्म-धारणा (सैल्फ-कौन्सैप्ट) विकसित करने पर बिशेष बल दिया जाता है ताकि वह अपने आप को वस्तुपरक ढग से पहचानने योग्य बन सके। प्रारंभिक शिक्षा का तीसरा महत्वपूर्ण लक्ष्य बच्चों के मन में कार्य के प्रति सही भावना विकसित करना है। इन तीनों लक्ष्यों की पूर्ति इस बात पर निर्भर करती है कि बच्चों में इन सभी शैक्षिक कार्यों द्वारा किस प्रकार से सौन्दर्य बोधी तथा नैतिक भाव भरे जा रहे हैं। इन बौद्धिक, सामाजिक एवं कार्यदक्षताओं का सही दिशा में विकास बच्चों की रुचि में परिवर्तन ला

देता है और इनसे विद्यार्थियों में मूल्य-पद्धति के निर्माण में योग मिलता है।

उपर्युक्त लक्ष्य समता के सिद्धांत पर आधारित हैं। किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है अच्छी प्रारंभिक शिक्षा गुण के सिद्धांत के साथ-साथ समता के सिद्धांत पर भी आधारित होनी चाहिए। अतः बच्चों को उनके व्यक्तिगत विभेदों को ध्यान में रख कर ही शिक्षा मिलनी चाहिए। समता का अर्थ एकरूपता नहीं है। अतः शिक्षा देते समय बच्चों की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जाना चाहिए। इन विचारों से एक बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि शिक्षा के साधन को शिक्षा के साध्य से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि शिक्षा के साधन और साध्य को मिलाकर ही एक अनवरत प्रक्रिया बनती है। अतः शिक्षक के लिए केवल शिक्षा का लक्ष्य जान लेना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि शिक्षा के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्हें उपलब्ध साधनों का अधिक-से-अधिक उपयोग करना चाहिए। शिक्षा के साधन और शिक्षा के साध्य के बीच एक महत्वपूर्ण संबंध होता है। इसी दृष्टिकोण से सीखने-सिखाने की प्रक्रिया को और अधिक उद्देश्यपूर्ण बनाने के लिए शिक्षक अपनी सर्जनात्मकता का प्रयोग शिक्षा में नए-नए संदर्भों का पता लगाने में कर सकते हैं।

प्रारंभिक शिक्षा के तीन अनिवार्य लक्ष्यों को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। ये हैं—विद्यार्थियों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करना, आत्म-धारणा का विकास करने में उनकी सहायता करना और उनमे कार्य धारणा का विकास करना।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास

प्रारंभिक विद्यालय के बच्चों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने के लिए शिक्षक को वैज्ञानिक प्रक्रिया पर अधिक बल देना चाहिए। शिक्षक को शिक्षार्थियों में तर्क-वितर्कपूर्ण चिन्तन के माध्यम से निष्कर्षों पर पहुँचने की योग्यता पैदा करनी चाहिए। इस प्रकार की बौद्धिक दक्षता विकसित करने के लिए शिक्षक को चाहिए कि वह विद्यार्थियों को यथासम्भव छान-बीन करने के अधिक से अधिक अवसर प्रदान करे। आम भाषा में इसे 'अन्वेषण की विधि' कहा जाता है। शिक्षक के लिए इस बौद्धिक दक्षता को बढ़ाने की एक अन्य विधि है—ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में पाठ्यचर्या की विषयवस्तु को उसकी मूलभूत धारणाओं (बेसिक कौनसैप्टस) से संबद्ध करके प्रस्तुत करना। ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में अप्रत्याशित विस्फोट होने के कारण आज इस दृष्टिकोण का महत्व बढ़ गया है। यदि हमारा लक्ष्य विद्यार्थी में आत्म-निर्देशन की योग्यता विकसित करने में उसे सहायता प्रदान करना है तो किसी एक विद्या विशेष (डिसिप्लिन)से पूरा ज्ञान प्रदान कर पाना अब असंभव हो गया है। धारणा विधि द्वारा सीखने पर बल देने से विद्यार्थी को ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में परस्पर संबंध जानने में और विद्या विशेष में सन्निहित मूलभूत धारणाओं को जानकर उन्हें समझने में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त प्रारंभिक शिक्षा में विषयवस्तु का प्रस्तुतीकरण अलग-अलग विषयों द्वारा न करके एकीकृत कार्यक्रमों के द्वारा किया जा सकता है। विषयवस्तु को 'उत्तरोत्तर घट-बढ़ के रूप में संजोकर शिक्षा-प्रक्रिया को निरंतर बनाए रखना चाहिए जिससे पूर्व ज्ञान के आधार पर नए ज्ञान की दीवार खड़ी की जा सके और उसे मिश्रित अर्थ दिए जा सकें।

आत्म-धारणा का विकास

अपने बारे में सकारात्मक छवि का विकास करना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना किसी शैक्षिक

विषय को पढ़ाना। अब प्रश्न उठता है कि इस संबंध में प्रारंभिक विद्यालयों के क्या-क्या उत्तरदायित्व हैं? ऐसे अनेक उत्तरदायित्व हैं जिन्हें पूरा करने के लिए कक्षा में और विद्यालय के परिवेश में अनुकूल सामाजिक-भावनात्मक वातावरण बनाना होगा। व्यक्तिपरक शिक्षा का मार्ग भी अपनाना होगा जिससे प्रत्येक विद्यार्थी अपनी गति से आगे बढ़ सके। इन बातों के अतिरिक्त विद्यालय को सामाजिक विकास के सभी अवसर प्रदान करने होंगे और अपने कार्यकलापों का आयोजन इस प्रकार से करना होगा कि इनसे विद्यार्थी की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके तथा उसकी 'सामाजिक क्षमता का प्रस्फुटीकरण' हो सके। व्यक्तित्व के सामाजिक विकास के दो पक्ष होते हैं: समाज-शिक्षा जिसे समाजीकरण भी कहा जाता है और सामाजिक निष्ठाएँ जिनमें प्रेम, स्नेह, सुरक्षा, अपनेपन का भाव और ऐसी अन्य बातों का समावेश है जिनसे समूह के प्रति व्यक्ति में निष्ठा पैदा होती है। कहा जाता है कि "समाजीकरण की प्रक्रिया स्वयं को समाज में ढालने और बनाने—दोनों की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में बच्चे को समूह की संस्कृति में दीक्षित किया जाता है। समाज द्वारा स्थापित मूल्यों के अनुसार व्यक्ति के विचारों, संवेदनाओं और व्यवहार को धीरे-धीरे किन्तु निरंतर बदला और विकसित किया जाता है।" सामाजिक शिक्षा तभी प्रभावशाली होती है जब इसके साथ-साथ बच्चे में पूर्वोल्लिखित सामाजिक निष्ठाओं का भी विकास हो। सामाजिक शिक्षा का विकास और सामाजिक ज्ञान का अधिग्रहण तब होता है जब व्यक्ति को कक्षा और विद्यालय में हो रही सामाजिक अंतः क्रियाओं की प्रक्रिया में भाग लेने और विभिन्न सामाजिक भूमिकाएँ निभाने का अवसर मिले। विद्यालय की सामाजिक व्यवस्था की अपनी एक उप-संस्कृति होती है जिसके अपने मूल्य और परंपराएँ होती हैं। विद्यालय की उप-संस्कृति के अंतर्गत उसका भौतिक परिवेश, विभिन्न शैक्षिक अनुभव, विद्यालय-कर्मियों के बीच घटने वाली अंतः क्रियाएँ तथा इन अन्तः क्रियाओं द्वारा पोषित मूल्य और आदर्श आते हैं। विद्यालय के अन्य सांस्कृतिक साधन विद्यालय- गान, विद्यालय-ध्वज, विद्यालय के अनुष्ठान और उत्सव हैं। बच्चे क्या और कैसे सीखते हैं, केवल इसमें ही विद्यालय-संस्कृति का प्रभाव दिखाई नहीं देता बल्कि कार्य करने और सीखने के सही और गलत दृष्टिकोण के विकास में तथा कुल मिलाकर स्वयं जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण में भी दिखाई देता है।

समाजीकरण की यह संपूर्ण प्रक्रिया विद्यार्थी में सकारात्मक आत्म-धारणा विकसित करने में सहायक होती है। यह उसे कक्षा में, विद्यालय में, घर में, समुदाय में और बाद में बाहरी दुनिया में अपने संबंध स्थापित करने योग्य बनाती है। इस प्रक्रिया में उसके सामाजिक संबंधों में वृद्धि होती चलती है। इससे विद्यार्थी को सहकारी ढंग से रह कर अपनी पूरी दक्षता से काम लेने का ही अवसर नहीं मिलता बल्कि उसे यह समझने में भी सहायता मिलती है कि संघर्ष जीवन का एक अंग है और अपने व्यक्तित्व के विकास में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है। प्रारंभिक विद्यालय सामाजिक अंतः क्रियाओं का एक जटिल जाल है जिसमें सभी प्रकार की अंतः क्रियाएँ एक साथ चलती रहती हैं और प्रत्येक अंतः क्रिया पूरे परिवेश को प्रभावित करती रहती है।

कार्य-धारणा का विकास

बच्चों को यह बात अवश्य समझा देनी चाहिए कि इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति किसी-न- किसी

प्रकार के कार्य में संलग्न है। बच्चे विद्यालय के काम में लगे रहते हैं और उनकी माताएँ घर के काम में। अतः कार्य सभी के लिए एक

आवश्यकता है। ऐसी बात नहीं कि कुछ लोग तो काम में लगे रहते हैं और अन्य मौज-मस्ती करते रहते हैं। जब कोई व्यक्ति अपनी जीविका कमाने के लिए कोई काम करता है तब इस कार्य को एक उत्पादक कार्यकलाप के रूप में भी देखा जा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि शिक्षा और कार्य के बीच एक निकट का संबंध होता है क्योंकि शिक्षा काम का अवसर प्रदान करती है।

किसी भी प्रकार के कार्य को, चाहे उससे आर्थिक लाभ होता हो अथवा नहीं अच्छी तरह से करने के लिए दक्षता प्राप्त करना आवश्यक है। कभी किसी काम को अकेले एक ही व्यक्ति को करना होता है और कभी एक दल मिलकर कार्य करता है। कार्य घर के अंदर अथवा घर के बाहर भी हो सकता है। अनुसंधान से पता चला है कि भिन्न प्रकार के कार्यों द्वारा भिन्न प्रकार की रुचियों का विकास हो सकता है। इससे विभिन्न प्रकार के कार्यों के चुनाव में सहायता मिलती है। तकनीकी भाषा में इसे कार्य-मूल्य कहा जाता है। कार्य की सही भावना का विकास अकस्मात् नहीं होता बल्कि यह एक सततगामी प्रक्रिया है। यही कारण है कि प्रारंभिक विद्यालयों को यह दायित्व अपने हाथ में लेना पड़ता है। कार्य की सही भावना का विकास विद्यार्थी में छोटी आयु से ही करना होता है।

बौद्धिक, सामाजिक और कार्य के क्षेत्रों में दक्षता, रुचि और मूल्यों का विकास करने के इन सभी प्रयासों से पता चलता है कि इनका उद्देश्य केवल व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन लाना और उसे समाज में एक क्रियाशील प्राणी बनाना ही है। जिन व्यक्तियों में परिवर्तन लाना हो उन्हें आदेश द्वारा परिवर्तन के लिए कहने की अपेक्षा परिवर्तन की प्रक्रिया में सम्मिलित करना चाहिए। इस प्रकार व्यवहार में सफलता पूर्वक परिवर्तन लाने के लिए सहभागिता की लोकतांत्रिक प्रक्रिया और शैक्षिक अनुभवों के लोकतांत्रिक उपाय आयोजित और लागू करना आवश्यक है।

यदि प्रारंभिक शिक्षा के इन लक्ष्यों को लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं द्वारा सफलतापूर्वक प्राप्त कर लिया जाए तो प्रारंभिक विद्यालय न्याय, समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के सिद्धांतों पर आधारित लोकतंत्र के लिए अपने विद्यार्थियों को प्रबुद्ध नागरिक बनाने का गर्व अनुभव कर सकते हैं और ये व्यक्ति अनिश्चित भविष्य का सामना करने के लिए पूरी तरह से तैयार होंगे।

अंत में यह कहा जा सकता है कि भारत में प्रारंभिक शिक्षा के अनिवार्य शैक्षिक लक्ष्यों के रूप में तीन उद्देश्य हैं— विद्यार्थियों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करना, उन्हें स्वयं को पहचानने के योग्य बनाना और उनमें कार्य-धारणा का विकास करना। इन उददेश्यों को प्राप्त करके ही हम महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर और स्वामी विवेकानन्द जैसे भारतीय शैक्षिक चिन्तकों द्वारा प्रतिपादित लक्ष्यों की पूर्ति कर सकेंगे। महात्मा गांधी ने मस्तिष्क, हृदय और हाथ का अर्थात व्यक्तित्व के सर्वतोमुखी विकास करनेवाली शिक्षा का आह्वान किया था। रवीन्द्र नाथ टैगोर ऐसी शिक्षा चाहते थे जिससे व्यक्ति एक "विश्व मानव" अर्थात् विश्व का नागरिक बन सके। स्वामी विवेकानन्द ने ऐसी शिक्षा की वकालत की जो व्यक्ति को सही अर्थों में "मनुष्य" बनाए। उन्होंने चरित्र-निर्माण करनेवाली शिक्षा पर बल दिया था।

सारांश

1. 6 से 14 वर्ष के आयुवर्ग के बच्चे उन विद्यालयों में जिनमें प्राय: पहली कक्षा से आठवीं कक्षा तक की पढ़ाई होती है हमारी प्रारंभिक शिक्षा का लाभ उठाते हैं।
2. शिक्षा के राष्ट्रीय उद्देश्यों का निर्धारण आवश्यक है। शिक्षा के इन राष्ट्रीय उद्देश्यों के ढाँचे के अतंर्गत विद्यार्थियों के क्रमिक और निरंतर विकास के लिए विभिन्न स्तरों की शिक्षा के शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास किया जाता है जिससे कुछ विशेष शैक्षिक उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके।
3. प्रारंभिक शिक्षा के तीन अनिवार्य लक्ष्य निम्नलिखित हैं
   (क)वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास;
   (ख)आत्म-धारणा का विकास; और
   (ग) कार्य-धारणा का विकास।

विचिंतन प्रश्न

1. गुणवत्ता और समता के सिद्धांतों से आप क्या समझते हैं?
2. समाजीकरण की प्रक्रिया की व्याख्या कीजिए।
3. वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आप क्या समझते हैं? इसका एक उदाहरण दीजिए।
4. सामाजिक शिक्षा और सामाजिक निष्ठा में भेद बताइए।
5. प्रारंभिक विद्यालय की उप-संस्कृति का वर्णन कीजिए।
6. कार्य के भिन्न-भिन्न अर्थ क्या हैं?
7. अवकाश के कार्यकलापों से कार्य किस प्रकार भिन्न होता है?

इकाई 3.4 शैक्षिक परिणाम बनाम शैक्षिक लक्ष्य

पिछली उप इकाइयों से हम यह जान गए हैं:

1. एक शिक्षक के रूप में शैक्षिक लक्ष्यों का निर्धारण करने में आपको समकालीन समाज के आदर्शों और वास्तविक आवश्यकताओं की समझ होनी चाहिए;
2. परिवर्तनशील सामाजिक परिस्थितियों में नए शैक्षिक लक्ष्यों की आवश्यकता होती है;
3. सामाजिक परिस्थितियाँ बदल रही हैं अत: एक बार निश्चित हुए शैक्षिक लक्ष्य सदा के लिए लागू नहीं हो सकते;
4. शैक्षिक लक्ष्यों पर सदैव समय, स्थान और परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है;-और
5. शिक्षा स्वयं एक गतिशील प्रक्रिया है। इसी कारण शैक्षिक लक्ष्यों की निरंतर समीक्षा करते रहना आवश्यक है।

अत: हमारे मन में एक प्रश्न यह उठता है कि क्या शैक्षिक लक्ष्य सीखने की दिशा को प्रभावित

करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर मालूम करने के लिए यह आवश्यक है कि हम शैक्षिक लक्ष्यों की प्रकृति के विभिन्न पक्षों को समझें। प्रथम, शैक्षिक लक्ष्य को विकास के लिए दिशा निर्देश के रूप में समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि शिक्षा का लक्ष्य व्यावसायिक दक्षता उत्पन्न करना हो तो सीखने की प्रत्येक स्थिति को इस तरह आयोजित किया जाएगा कि वह व्यावसायिक दक्षता को बढ़ाने में सहायक हो। दिशा निर्देश के रूप में इस लक्ष्य की दो विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

(क) लक्ष्य का संबंध तात्कालिक स्थिति से हो, और

(ख) लक्ष्य का निर्धारण प्रत्यक्ष विकास के लिए अपनाई जाने वाली विधियों से हो।

दूसरे, किसी शैक्षिक लक्ष्य को एक ध्येय के रूप में भी देखा जा सकता है। इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए अपनाई गई विधियों में केवल उद्देश्य और विद्यार्थी की विशेषताओं पर ही ध्यान दिया जाना चाहिए। मनुष्य की अन्तश्चेतना के विकास को एक शैक्षिक लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। हमारा प्रयास यह होना चाहिए कि हम इस लक्ष्य को अवश्य प्राप्त करें। वास्तविकता यह है कि इसे नैतिक दृष्टि से पूरी तरह कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह तो हमारे मन में एक आदर्श की भांति स्थित रहता है जो हमारे कार्यों को दिशा-निर्देश प्रदान करता रहता है। तीसरे, इस शैक्षिक लक्ष्य को साध्य एवं साधन दोनों ही रूपों में स्वीकार किया जा सकता है। साधन को दिशा तथा साध्य को ध्येय के रूप में वर्णित किया जा सकता है। दोनों का समन्वय किया जा सकता है, अर्थात् साधन द्वारा साध्य की प्राप्ति की जा सकती है। यह एक बेहतर व्यवस्था है क्योंकि दिशा निर्देश के बिना शैक्षिक ध्येय निरूद्देश्य हो जाता है और ध्येय के उल्लेख के बिना दिशा धुँधली और अस्पष्ट पड़ने लगती है। चौथे, साधन और साध्य को एक शैक्षिक लक्ष्य के रूप में तो स्वीकार किया ही जा सकता है, लेकिन इसके अतिरिक्त हम शिक्षा के कुछ तात्कालिक और कुछ मध्यकालिक लक्ष्यों की संकल्पना भी कर सकते हैं। इन लक्ष्यों की एक विशेषता यह होती है कि ये अनेक हो सकते हैं। एक लक्ष्य की पूर्ति के बाद शिक्षक दूसरे लक्ष्य को पूरा करने का प्रयास करता चलता है और इस तरह वह एक-के-बाद-एक लक्ष्य की पूर्ति करता जाता है। तात्कालिक लक्ष्य और अंतिम लक्ष्य के बीच हम कुछ मध्यकालिक लक्ष्यों की भी संकल्पना कर सकते हैं। पाँचवे, कुछ लक्ष्य हमारे अनुभवों से भी परे होते हैं जिन्हें अनुभवातीत (ट्रांसीडेंट) लक्ष्य भी कहते हैं। ये लक्ष्य मूल्यपरक होते हैं और अन्तर्वर्ती (इमीनैन्ट) लक्ष्य इच्छापरक होते हैं। लोकतंत्र में मूल्यपरक आदर्शों की प्रधानता रहती है। छठे, उपयोगी शैक्षिक लक्ष्य सदा समय, स्थान और परिस्थितियों से जुड़े रहते हैं। परम लक्ष्य इनसे स्वतंत्र होते हैं। सातवें, शिक्षा के कुछ लक्ष्य प्रत्यक्ष और कुछ अप्रत्यक्ष हो सकते हैं। अधिकांश शैक्षिक लक्ष्य अप्रत्यक्ष रहते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष शब्दों में लक्ष्यों को व्यक्त कर पाना कठिन है। किन्तु अप्रत्यक्ष लक्ष्यों की अपेक्षा प्रत्यक्ष लक्ष्य अधिक पसंद किए जाते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष लक्ष्य अधिक सुस्पष्ट, क्रियात्मक तथा विकास के लिए सरल दिशा प्रदान करने वाले होते हैं। इनसे छात्रों की प्रगति का सरलता से मूल्यांकन किया जा सकता है। व्यक्ति को एक अच्छा नागरिक बनाने वाले शैक्षिक लक्ष्य अप्रत्यक्ष लक्ष्यों के उदाहरण हैं और नागरिकता की शिक्षा प्रत्यक्ष लक्ष्यों के उदाहरण हैं। शैक्षिक लक्ष्यों को यथासंभव स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह बात शिक्षक, विद्यार्थी, प्रशासक और माता-पिता सभी के लिए उपयोगी है।

इसीलिए यह बात बलपूर्वक कही जा सकती है कि प्रत्यक्ष, तात्कालिक या मध्यकालिक शैक्षिक लक्ष्य साधन और साध्य दोनों होते हैं और वे अनुभवातीत भी होते हैं। अन्य शैक्षिक लक्ष्यों की तुलना में इन्हें अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा मिलती है।

इकाई 3.3 में कुछ विशिष्ट लक्ष्यों की चर्चा की गई है जिनकी पूर्ति की आशा प्रारंभिक विद्यालयों से की जाती है। शिक्षा के इस स्तर पर शैक्षिक साधनों और साध्यों पर प्रमुख बल देने और उनकी विभिन्न प्रकार से व्याख्या करने के लिए इन उद्देश्यों की पहचान कर ली गई है।

अंत में यह कहा जा सकता है कि शैक्षिक लक्ष्य व्यक्तिगत वृद्धि और सामाजिक प्रगति की दिशा को दर्शाते हैं, सीखने के अनुभवों के चुनाव में तथा विद्यार्थियों के सामने उन्हें किस प्रकार प्रस्तुत किया जाए इस बारे में मार्गदर्शन करते हैं, विद्यार्थियों के व्यवहार में होने वाले संभावित परिवर्तनों को बताने में सहायता करते हैं, उनके विकास का मूल्यांकन करने और शैक्षिक कार्यक्रमों की प्रभावशीलता को आँकने के लिए मानदंड प्रस्तुत करते हैं।

उपरोक्त बात को कुशल और अकुशल व्यक्ति के अंतर को दर्शाकर अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। इन दो प्रकार के व्यक्तियों में प्रेरणा का अंतर होता है। अकुशल व्यक्ति केवल अव्यवस्थित ढंग से ज्ञान ग्रहण करता है जबकि एक कुशल व्यक्ति उद्देश्य को सामने रखकर व्यवस्थित रूप से ज्ञान अर्जित करता है और उसका सही उपयोग करता है। अपने लक्ष्यों से उसे सीखने में दिशा मिलती है और वह जो कुछ भी सीखता है उसे वह कार्य रूप में परिणत करता है। एक शिक्षक के रूप में आपको अपने छात्रों का मार्गदर्शन करने और उनकी शिक्षा को उद्देश्यपूर्ण तथा सार्थक बनाने का दायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए। तभी विद्यार्थी अर्जित शिक्षा से अधिक-से- अधिक लाभ उठा पाएँगे और अन्ततोगत्वा वे इसका उपयोग अच्छे सामाजिक उद्देश्यों के लिए करेंगे।

सारांश

1. पढ़ाई विद्यालय में हो रही हो अथवा विद्यालय के बाहर, शैक्षिक लक्ष्य उसकी दिशा को प्रभावित करते हैं।
2. शैक्षिक लक्ष्यों को वृद्धि की दिशा, ध्येय, मध्यकालिक और तात्कालिक लक्ष्यों, सापेक्ष और निरपेक्ष, साधन और साध्य, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तथा सर्वव्यापी और अनुभवातीत लक्ष्यों के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।
3. शैक्षिक लक्ष्य ऐसे होने चाहिएं जिससे वे उस दिशा की ओर संकेत करते हों जिसमें वृद्धि की सम्भावना है। उन्हें सीखने के अनुभवों के चुनाव में तथा विद्यार्थी की प्रगति के मूल्यांकन के लिए मानदंड निर्धारण में मार्गदर्शन प्रदान करना चाहिए।

विचिंतन प्रश्न

1. सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन होने के साथ ही शैक्षिक लक्ष्यों में परिवर्तन क्यों आ जाता है?
2. शैक्षिक लक्ष्यों की निरंतर समीक्षा करते रहना क्यों आवश्यक है?
3. शैक्षिक लक्ष्य सीखने की दिशा को किस प्रकार प्रभावित करते हैं?
4. शिक्षा के विभिन्न स्तरों के लिए अलग-अलग लक्ष्यों का होना क्यों आवश्यक है?

इकाई 3.5 शिक्षक का व्यावसायिक दर्शन और व्यावसायिक नीति

प्रत्येक शिक्षक को चाहे वह किसी स्तर की शिक्षा प्रदान करता हो कुछ दृढ़ विश्वासों के साथ अपना काम प्रारंभ करने के लिए एक व्यावसायिक दर्शन की आवश्यकता होती है। उसके ये दृढ़ विश्वास मानव प्रकृति, मानव विकास, समाज की मूल्य प्रणाली, शिक्षा की संकल्पना और लोकतांत्रिक सामाजिक व्यवस्था के शैक्षिक लक्ष्यों के विषय में उसके ज्ञान पर आधारित होते हैं। जीवन के इन पक्षों से संबद्ध दृढ़ विश्वास से उसके व्यावसायिक दर्शन का निर्माण होता है और व्यक्तिगत अनुभव तथा सामान्य ज्ञान के अवलोकन तथा विश्लेषण की समीक्षात्मक शक्ति और उस पर किसी प्रगतिशील शैक्षिक चिन्तन के प्रभाव के द्वारा उसमें परिवर्तन आता है तथा जैसे-जैसे अपने कार्य में उसकी अंतर्दृष्टि बढ़ती जाती है उसमें परिपक्वता भी आती जाती है।

अपने व्यावसायिक दर्शन से शिक्षक अध्यापन- अधिगम प्रक्रिया में अपनी भूमिका को अधिक अच्छी तरह समझने लगता है, समाज में शिक्षा के योगदान के संबंध में शिक्षा के सिद्धांत और व्यवहार में आ गई विसंगतियों को दूर करने लगता है, शैक्षिक मामलों और समस्याओं से संबद्ध प्रश्न उठाने और अंत में शैक्षिक कार्यक्रमों की योजना बनाने तथा लागू करने और उसमें सुधार के लिए नए-नए सुझाव देने लगता है।

इसके अतिरिक्त व्यावसायिक दर्शन के कारण शिक्षक में निम्नलिखित बातों में विश्वास पैदा होने लगता है:

(क) अपने विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का सम्मान,
(ख) शिक्षण की लोकतांत्रिक विधियाँ और तकनीकें,
(ग) अपना कार्य करने में गर्व, और
(घ) अपने व्यवसाय की महत्ता

नीति-संहिता सभी व्यवसायों की एक मूलभूत विशेषता है। भारत में शिक्षण-व्यवसाय की कोई नीति-संहिता नहीं है। व्यवसाय के आत्म-नियमन और स्वशासन के संबंध में शिक्षक के लिए नीति-संहिता का होना आवश्यक है। संहिता की मार्गदर्शन करनेवाली नैतिक संकल्पनाएँ शिक्षकों को अपनी विभिन्न भूमिकाएँ सफलतापूर्वक निभाने के लिए भी प्रेरित करती हैं। शिक्षक कक्षा में अनुशासन बनाए रखता है, वैकल्पिक माता-पिता की भूमिका निभाता है, कौनसी बात सही है और कौनसी गलत इसका निर्णय लेता है और साथ ही वह विश्वासभाजन के रूप में काम करता है। इस प्रकार वह न केवल विद्यार्थियों की बुद्धि के विकास के लिए ज्ञानदाता का काम करता है बल्कि लोकतांत्रिक समाजीकरण के एक एजेण्ट का भी काम करता है जिससे शिक्षकों में सामाजिक एवं भावनात्मक परिपक्वता आती है। विद्यालय में शिक्षक अपना कोई भी काम अपने प्रशासक, सहयोगियों और छात्रों को दृष्टि में रखकर करता है। प्रत्येक शिक्षक का यह लक्ष्य होता है कि विद्यालय में प्रभावपूर्ण पढ़ाई के लिए उचित

सामाजिक-भावनात्मक वातावरण प्रदान करनेवाले अनुकूल मानवीय सम्बन्ध बने रहें। इस संदर्भ में शिक्षक को एक टीम के कार्यकर्ता के रूप में देखा जाता है और उसकी सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि वह अपने और अपने सहयोगियों के अंदर सहकारिता की समूहगत भावना कितने अच्छे ढंग से विकसित कर पाता है। इस वृहत्तर समुदाय में शिक्षक उसके एक सदस्य के रूप में कार्य करता है। शिक्षक के लिए यह बहुत आवश्यक है कि वह समुदाय में सामाजिक संबंधों का उपयोग करे। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि पहले शिक्षक के लिए सामुदायिक कार्यकलाप अनिवार्य नहीं थे किन्तु अब ये कार्यकलाप अनिवार्य हो गए हैं। अत: सामुदायिक कार्यकलापों में बच्चों के साथ नेता की भूमिका निभाना उसके लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हो सकता है। अपने समुदाय की सीमा से बाहर निकलकर एक व्यापक समाज में शिक्षक से अंतः समूह सामंजस्य और राष्ट्रीय एकता की भूमिका निभाने की आशा की जाती है।

किसी व्यवसाय की नीति-संहिता से उस व्यवसाय के सदस्यों का न केवल जनता के दुर्व्यवहारों से बचाव हो सकता है बल्कि उनमें अनुशासन की भावना भी बनी रहती है जिससे वे अपने व्यवसाय के आचरण-नियमों के विरूद्ध नहीं जा पाते। नीति-संहिता का मानदंड अथवा निदेशक सिद्धांत विद्यार्थियों, उनके माता-पिताओं, सहयोगियों, प्रशासकों, नियोक्ताओं और यहाँ तक कि राज्य के साथ भी शिक्षकों के संबंध के आधार पर प्रतिपादित किया जा सकता है।

अंत में यह बात कहीं जा सकती है कि शिक्षक के लिए व्यावसायिक दर्शन और व्यावसायिक नीतियों का व्यक्तिगत अर्थ होता है। यह व्यावसायिक दर्शन संपूर्ण कार्यकलाप में शिक्षक के व्यवहार को प्रभावित करता है।

सारांश

1. शिक्षक के लिए कुछ दृढ विश्वासों के साथ अपना काम आंरभ करना आवश्यक होता है।
2. शिक्षक के ये दृढ़ विश्वास ही वास्तव में उसके व्यावसायिक दर्शन का निर्माण करते हैं।
3. व्यावसायिक दर्शन से उसके अंदर अपने कार्य के प्रति विश्वास की भावना जागृत होती है।
4. व्यवसाय की नीति-संहिता से उसके सदस्यों का जनता के दुर्व्यवहारों से बचाव होता है और सदस्य भी अनुशासन में रहकर व्यवसाय के आचरण-नियमों का पालन करते हैं।

विचिंतन प्रश्न

1. ऐसा कहा जाता है कि शिक्षक को कुछ दृढ़ विश्वासों के साथ अपना काम आरंभ करना चाहिए। ये दृढ विश्वास उसके व्यावसायिक दर्शन के निर्धारण में किस प्रकार सहायक होते हैं?

2. शिक्षक के व्यावसायिक दर्शन को 'सजीव और विकासमान' क्यों कहा जाता है?
3. व्यावसायिक दर्शन शिक्षक के लिए किस प्रकार सहायक होता है?
4. शिक्षक की विभिन्न भूमिकाओं का उल्लेख कीजिए जो उसे निभानी होती हैं।
5. शिक्षक की नीति-संहिता क्या है?
6. क्या आपके विचार से शिक्षक के लिए नीति-सहिता का होना बहुत आवश्यक है?
7. निम्नलिखित बातों से भारी विवाद पैदा हो गया है:
   (क) नीति सहिता किसे बनानी चाहिए— सरकार को अथवा व्यवसाय को, और
   (ख) व्यवसाय के सभी शिक्षकों के लिए क्या केवल एक ही नीति-संहिता होनी चाहिए? (क) तथा (ख) बिन्दुओं के सबध में आपके क्या विचार है? अपना उत्तर कारण सहित दीजिए।

चौथा अध्याय

शिक्षा : सामाजिक परिवर्तन का साधन

इस अध्याय को चार इकाइयों में बाँटा गया है। इकाई 4.1 में समाज में परिवर्तन के विभिन्न रूपों को समझाने, इकाई 4.2 में शिक्षा पर सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव को जानने, इकाई 4.3 में सामाजिक परिवर्तन पर शिक्षा के प्रभाव को समझने, और इकाई 4.4 में समाज में परिवर्तन लाने में शिक्षा के क्षेत्र और सीमाओं को आँकने का प्रयास किया गया है।

हम भारतीय समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक परंपरा और उसकी वर्तमान संरचना का अध्ययन कर चुके हैं। अब आप यह बात समझ गए होंगे कि हमारे बहुवादी रूप वाले समाज में एक विशेष प्रकार की मौलिक एकता है। आप इस बात से भी परिचित हो गए होंगे कि देश के आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों मे असंख्य असमानताएँ विद्यमान हैं। उभरते भारतीय समाज के ध्येयों और मूल्यों की जानकारी हो जाने पर आप यह भी समझ गए होंगे कि भारतीय समाज किस दिशा में विकास के लिए प्रतिबद्ध है। लोकतांत्रिक, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष सिद्धांतों के आधार पर समाज का निर्माण करने, वितरण न्याय पर आधारित विकासात्मक कार्यक्रमों को शुरु करने और गांधीवादी मूल्यों का अनुपालन करने जैसे जन-संकल्पों से विकास और प्रगति की हमारी वर्तमान एव भावी कार्य-योजनाओं के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक आयामो की कल्पना कर सकने में हमें सहायता मिली है। सामाजिक पुनर्निर्माण के ये कार्यकलाप स्पष्टतः प्रगति और परिवर्तन की दिशा में हमारे राष्ट्रीय प्रयास के परिचायक हैं।

आप शिक्षा की सकल्पना उसके उद्देश्य और लक्ष्य तथा विशेष रूप से प्रार्थमिक शिक्षा के उद्देश्य और लक्ष्य भी ममझ चुके हैं। इसी प्रकार सामाजिक नियंत्रण समझ चुके हैं। इसी प्रकार सामाजिक नियंत्रण और परिवर्तन में योगदान के लिए शिक्षा के मुख्य कार्यों की आवश्यक जानकारी भी आपको मिल चुकी है। अब आप इस स्थिति में आ चुके हैं कि शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन कर सकें। यद्यपि भावी शिक्षक के रूप में आपका मुख्य कार्य परिवर्तन लाने वाले एजेण्ट के रूप में शिक्षक की भूमिका को समझने में है तथापि समाज और उसके परिवर्तन के संबंध में शिक्षा के सही परिप्रेक्ष्य को उससे पहले समझ लेना आपके लिए आवश्यक है। सबसे पहले तो आपको समाज में परिवर्तन के विभिन्न रूपों को समझना है। इस तथ्य को समझने में भारतीय समाज का अध्ययन और आपका अपना अनुभव काफी सहायक सिद्ध होगा। शिक्षा के लक्ष्य, शिक्षा संस्थाओं में उपलब्ध सुविधाएँ और शिक्षक की वर्तमान स्थिति जैसे शिक्षा के विभिन्न पक्षों पर समाज में परिवर्तन के प्रभाव से आप कदाचित् परिचित हो चुके होंगे। पहले उल्लेख किए गए तथ्यों से आप इस बात से भी परिचित हो चुके होंगे कि

व्यापक रूप से प्राचीन काल में शिक्षा ने सामाजिक परिवर्तनों में किस प्रकार योगदान दिया है। आपके लिए सामाजिक परिवर्तन लाने में शिक्षा के कार्य-क्षेत्र और उसकी सीमाओं की स्पष्ट जानकारी का होना भी महत्वपूर्ण है। सामाजिक परिवर्तन समाज की अनेक शक्तियों का गुणनफल है अत: आपको सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा के योगदान को स्पष्ट रूप से समझ लेना है। अंत में अपनी कल्पना शक्ति को सामाजिक परिवर्तन में योगदान देने और साथ ही अपेक्षित सामाजिक परिवर्तन लाने—इन दोनों कार्यों में आपको शिक्षक की भूमिका का अध्ययन करना है।

इकाई 4.1 सामाजिक परिवर्तन: विभिन्न रूप

परिवर्तन जीवन का नियम है। विभिन्न समाजों में सदा ही तेजी से अथवा धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहता है। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में "आज का मूलभूत तथ्य मानव जीवन में अत्यधिक तीव्र गति से परिवर्तन होना है।" स्पष्ट है कि शिक्षा में और सामाजिक परिवर्तन में द्विपक्षीय सम्बन्ध है क्योंकि एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। एक का दूसरे पर प्रभाव जानने से पहले आपके लिए यह समझ लेना आवश्यक है कि सामाजिक परिवर्तन से हमारा क्या आशय है और इसके विभिन्न रूप कौन-कौन से होते हैं।

इकाई 4.1.1 सामाजिक परिवर्तन की संकल्पना

सामाजिक परिवर्तन का अर्थ है—सामाजिक प्रक्रियाओं में परिवर्तन, उसके प्रतिरूपों में संशोधन और उसके रूप में अदल-बदल। शिक्षा, धर्म और परिवार जैसी अनेक सामाजिक इकाइयों से समाज बनता है। इन इकाइयों की संरचना और इनके कार्यों में फेर-बदल होना समाज में परिवर्तन का लक्षण है। डेविस के अनुसार "सामाजिक परिवर्तन का अर्थ केवल उस फेर-बदल से है जो सामाजिक संगठनों में अर्थात् समाज की संरचना और कार्य में होता है।" जोन्स का यह विचार है कि "सामाजिक परिवर्तन वह शब्द है जिसका प्रयोग सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिरूपों, सामाजिक अंत:क्रियाओं अथवा सामाजिक संगठन के किसी पक्ष में परिवर्तन अथवा फेर-बदल के लिए किया जाता है।" गिलइन और गिलइन के मत में सामाजिक परिवर्तन "जीवन की स्वीकृत रीतियों में अदल-बदल है, चाहे वह अदल-बदल भौगोलिक परिस्थितियों, सांस्कृतिक साज-सज्जा, जनसंख्या स्वरूप या विचारधारा में परिवर्तन के कारण हो, चाहे ये परिवर्तन समूह के अंदर के बिखराव या फूट से हों।" फेयर चाइल्ड के शब्दों में "सामाजिक परिवर्तन का अर्थ है—सामाजिक प्रक्रिया, प्रतिरूप अथवा रूप के किसी पक्ष में परिवर्तन अथवा फेर-बदल"। कुप्पास्वामी इसे सरल शब्दों में समझाते हैं—"जब हम सामाजिक परिवर्तन की बात करते हैं तब हम केवल यह कहना चाहते हैं कि सामाजिक व्यवहार में और सामाजिक संरचना में कुछ परिवर्तन हुआ है।"

विभिन्न सामाजिक चिन्तकों द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन का अर्थ ऐसी प्रक्रिया है जिसमें कुछ नई बातें जुड़ जाती हैं और जिससे कुछ पुरानी बातें हट जाती हैं। जिसके फलस्वरूप सामाजिक संरचनाओं, तकनीकों, लोकरीतियों, व्यवहार-प्रतिरूपों और जीवन-पद्धति में परिवर्तन आ जाता है। फिर

भी यह बात याद रखनी चाहिए कि हर प्रकार के परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। सामाजिक परिवर्तन के रूप में स्वीकृत होने के लिए उसमें पर्याप्त स्थायित्व होना चाहिए। उसमें जनता का व्यापक योगदान रहना चाहिए और उसका उल्लेखनीय प्रभाव होना चाहिए।

इकाई 4.1.2 सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। हमारे समाज में सदा परिवर्तन होते रहे हैं। ये परिवर्तन ही समाज को गतिहीन बनने से बचाते हैं और उसे गतिशील बनाए रखने में सहायक होते हैं। ये परिवर्तन समाज को कठोर बनाने से रोकते हैं और सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल एक लचीले ढंग से स्वयं को ढाल लेने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। परिवर्तनों के कारण समाज 'बंद समाज' नहीं बन पाता बल्कि इन परिवर्तनों से समाज खुला और व्यापक बनता है। गतिशील समाज की वास्तविकता और उसका सतत विकास उसकी निरंतर परिवर्तनशीलता है। जब किसी समाज में परिवर्तन हो रहे होते हैं तब भी उस समाज के सभी पक्षों में और सभी लोगों में समान गति से परिवर्तन नहीं होता। इसे 'सांस्कृतिक पिछड़ापन' कहा जाता है।

व्यक्ति के दृष्टिकोण से भी समाज में परिवर्तन वांछनीय होते हैं। बाद में आप अधिक विस्तार में यह जान सकेंगे कि सामाजिक परिवर्तन में योगदान करने वाला एक महत्वपूर्ण घटक 'व्यक्ति' है। परिवर्तन की आवश्यकता को समझने के लिए आपको यह बात मान लेनी चाहिए कि मनुष्य अपनी प्रकृति से चाहे रूढ़िवादी भले ही क्यों न हो उसमें गतिशील होने की भी प्रवृति रहती है। एक ओर तो वह पारंपरिक आदर्शों से चिपके रहना चाहता है और दूसरी ओर वह अपने ज्ञान में वृद्धि, विचार में आधुनिकता और तकनीक तथा कार्यशैली में प्रगतिशीलता लाने का प्रयास करता है। अतः मनुष्य परिवर्तन चाहता है। वस्तुतः जीवन में सुधार लाने और अपनी समस्याओं के समाधान के लिए मनुष्य द्वारा परिवर्तन के प्रयासों के उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। मनुष्य की जिज्ञासु प्रकृति ने उसे अज्ञात स्थानों का पता लगाने, नए-नए स्थानों की खोज करने और ज्ञान तथा नवीन प्रक्रियाओं के नए-नए क्षेत्रों का पता लगाने के लिए प्रेरित किया है।

इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन को व्यक्ति की उत्कंठा को शांत करने के लिए अज्ञात स्थलों का पता लगाने और अपने चारों ओर के रहस्यों पर से परदा हटाने की उसकी इच्छा को एक सामाजिक तथा वैयक्तिक आवश्यकता के रूप में भी देखा जा सकता है।

इकाई 4.1.3 सामाजिक परिवर्तन के प्रकार

परिवर्तन का क्षेत्र अति विस्तृत और सर्वव्यापी है, अतः समाज में हो रहे परिवर्तनों को आप अनेक रूपों में देख सकते हैं। कृषि, व्यापार, व्यावसाय, बैंकिंग और उद्योग आदि में आर्थिक परिवर्तन दिखाई दे रहे हैं। स्थानीय, राज्य, प्रादेशिक और राष्ट्रीय स्तरों पर प्रशासन व्यवस्था में राजनैतिक परिवर्तन दिखाई दे रहे हैं। धार्मिक परिवर्तनों के अंतर्गत मंदिरों, मस्जिदों, गिरिजाघरों और गुरुद्वारों में कार्यात्मक एवं संरचनात्मक परिवर्तन आते हैं। नई-नई

खोजों और प्रौद्योगिक प्रगति के कारण वैज्ञानिक परिवर्तन हुए हैं। मूल्यों के मानदंड और चिंतन-विधाएँ बदलने से नैतिक परिवर्तन आ चुका है। सांस्कृतिक परिवर्तन को तीन रूपों में देखा जा सकता है: (क) भौतिक संस्कृति में परिवर्तन, (ख) विचारों में परिवर्तन, और (ग) संस्कृति के अन्य रूपों में परिवर्तन। पर यह बात तो सभी जानते हैं कि सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन का एक छोटा रूप है। हैरी जान्सन ने पाँच प्रकार के सामाजिक परिवर्तन बताए हैं यथा—सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन, संस्थागत परिवर्तन, सम्पति और लाभ के वितरण में परिवर्तन, कार्यकर्ताओं में परिवर्तन और कार्यकर्ताओं की योग्यता अथवा दृष्टिकोण में परिवर्तन। सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न प्रकारों को एक अन्य कोण से भी देखा जाता है यथा— योजनाबद्ध अथवा योजनाहीन परिवर्तन, स्थायी अथवा अस्थायी परिवर्तन, हानिकारक अथवा लाभकारी परिवर्तन और प्रगतिशील अथवा प्रतिगामी परिवर्तन। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया जटिल होने के फलस्वरूप प्रत्येक परिवर्तन एक से अधिक उपर्युक्त वर्गों में आता है।

इकाई 4.1.4 सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ

सामाजिक परिवर्तन की भूमिका तब तक पूरी नहीं मानी जाएगी जब तक आप उसकी कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं को नहीं समझ लेते। इस संबंध में एक मुख्य बात याद रखने की यह है कि परिवर्तन अपरिहार्य होते हैं। ये तीव्र हो सकते हैं और उग्र अथवा धीमे भी हो सकते हैं। कभी-कभी हम उन्हें देख भले ही न पाएँ किन्तु यह निश्चित है कि हमारे चारों ओर की वस्तुएँ बदल रही होती हैं। इस परिघटना का एक अन्य उल्लेखनीय लक्षण यह है कि परिवर्तन अपने में सीमित नहीं रहता। उसका प्रभाव अनेक अन्य कार्यकलापों और संस्थाओं पर पड़ सकता है। सामाजिक परिवर्तन की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि सामाजिक प्रक्रियाओं को ठीक ढंग से समझ लेने से तथा उनके पर्याप्त अनुभवों से परिवर्तनों का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। विभिन्न समाजों अथवा समुदायों के रूपों की पृष्ठभूमि की ठीक-ठीक जानकारी से परिवर्तन की गति की तुलना तक की जा सकती है। सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति भिन्न-भिन्न रूपों की हो सकती है जैसे विकासमूलक परिवर्तन, तरंगवत परिवर्तन और चक्रीय क्रम में परिवर्तन।

इकाई 4.1.5 सामाजिक परिवर्तन में योगदान करने वाले घटक

इससे पहले आप पढ़ चुके हैं कि सामाजिक परिवर्तन मूलतः जटिल होते हैं। समाज के किसी एक तत्व में परिवर्तन होने पर अन्य तत्वों में भी परिवर्तन आ सकता है। उदाहरण के लिए समाज में आर्थिक परिवर्तन होने पर जीवन के सामाजिक, यहाँ तक कि धार्मिक रूप में भी अंतर आ सकता है। इस प्रकार के परिवर्तनों में अनेक शक्तियाँ काम करती हैं। महान नेताओं के विचारों और व्यक्तियों द्वारा स्वयं किए गए कार्यकलापों ने सामाजिक और सांस्कृतिक मानदंडों के रूपांतरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस संबंध में भारत के महात्मा गांधी, रूस के लेनिन और चीन के माओ-त्से-तुंग जैसे महापुरुषों के व्यक्तिगत प्रभाव आधुनिक इतिहास के कुछ उत्तम उदाहरण हैं। यदि इनका प्रभाव नहीं होता तो

हमारी दुनिया कुछ और ही होती। समाज में क्रांति से भी बड़े-बड़े परिवर्तन होते हैं और इसका एक समुचित उदाहरण रूस और चीन में साम्यवाद का प्रभाव है। सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करने वाले भौतिक घटकों में उत्पादन शक्तियाँ भी आती है क्योंकि प्रगतिशील अर्थव्यवस्था से प्रतिस्पर्धी समाज का निर्माण होता है जिसके फलस्वरूप समाज में नए-नए संबंध स्थापित होते रहते हैं और नए प्रकार के संघर्ष भी पैदा होते हैं। औद्योगिक प्रगति के कारण संयुक्त परिवार-प्रथा का टूटना समाज में हुए परिवर्तन का उल्लेखनीय उदाहरण है। यदि आप समाजवाद, गांधीवाद और लोकतंत्र के प्रभाव पर दृष्टिपात करें तो आप पाएँगे कि सामाजिक परिवर्तन लाने में विचारधाराओं का प्रभाव भी कम नहीं होता। 'स्वतंत्रता', 'समता' और 'बंधुत्व' जैसे विचारों का फ्रांस की क्रांति में निस्संदेह बहुत बड़ा हाथ रहा है। इसी प्रकार बाढ़, ज्वालामुखी का फटना, आग, सूखा और भूकंप जैसी प्राकृतिक विपदाओं के कारण भौतिक पर्यावरण में परिवर्तन होने से सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में क्रांतिकारी परिवर्तन आ जाता है। प्रौद्योगिक और वैज्ञानिक आविष्कारों का भी लोगों के सामाजिक जीवन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। संचार के द्रुत साधनों ने निश्चय ही प्रादेशिक एवं प्राकृतिक घेरों को तोड़ा है और परस्पर सांस्कृतिक संबंधों को बढ़ावा दिया है। पत्र-पत्रिकाएं, आकाशवाणी और दूरदर्शन ने विश्व के लोगों को एक दूसरे के अधिक निकट ला दिया है। आयुर्विज्ञान, जन-स्वास्थ्य और सामुदायिक संगठन जैसे विभिन्न क्षेत्रों में हो रहे अनुसंधानों का भी सामाजिक परिवर्तन लाने में बड़ा हाथ रहा है।

सामाजिक परिवर्तत लाने में सांस्कृतिक विस्तार भी एक महत्वपूर्ण घटक है। यदि किसी समाज का बाहर से संपर्क टूट जाए तो वह समाज गतिहीन हो जाता है। स्वतंत्रता-पूर्व युग के भारतीय समाज पर जाति, धर्म, संयुक्त परिवार और संकीर्ण सामुदायिक विचारों का प्रभुत्व था जिससे यह समाज अधिक आत्म-केन्द्रित हो गया था। अब यह अंतर स्पष्ट दिखाई दे रहा है क्योंकि वर्ग भेद समाप्त हो रहे हैं और धार्मिक सिद्धांत चर्चा के विषय बन रहे हैं। फलस्वरूप जीवन का धर्मनिरपेक्षीकरण हो रहा है। इसी प्रकार कानूनों का भी सामाजिक परिवर्तनों पर प्रभाव पड़ रहा है। परिवर्तन में प्रतिरोधों को दूर करके और सामाजिक परिवर्तन के अनुकूल लोगों को ढालने में उनकी सहायता करके शिक्षा भी सामाजिक परिवर्तन में एक महत्वपूर्ण घटक का काम कर रही है। यहाँ इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि सामाजिक परिवर्तन लाने में शिक्षा का भी बहुत महत्वपूर्ण हाथ होता है।

इकाई 4.1.6 भारतीय समाज पर सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव

स्वतंत्रता मिलने के बाद से भारत में सामाजिक, आर्थिक और प्रौद्योगिक क्षेत्रों में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं। भारत के संविधान में आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों को मूल रूप में समाविष्ट कर लिया गया है क्योंकि समाजवादी लोकतंत्र को सरकार की प्रणाली और जीवन की पद्धति के रूप में स्वीकार करके इस संविधान ने अवसर-समता का पोषण किया है। योजनाबद्ध सुधारों के फलस्वरूप व्यापक विकास कार्यक्रम चलाए गए हैं। इन सुधारों में भूमि-सुधार, औद्योगिक विकास, लोगों को अधिक सहभागी बनाना, समाज के दलित वर्गों

के लोगों की सहायता के लिए विशेष प्रयास, परिवार नियोजन, शिक्षा प्राप्ति के अधिक-से-अधिक अवसर आदि आते हैं। जनता की गतिशीलता, सामंती बंधनों का टूटना, वैज्ञानिक प्रगति, कृषि में प्रगति, जीवन-यापन में सुधार और राष्ट्रीय विकास में समुदाय की भागीदारी के संदर्भ में इन परिवर्तनों का अपरिमित प्रभाव हुआ है। एक राजनैतिक प्रणाली के रूप में पंचायती राज स्वशासन की दिशा में एक क्रांतिकारी परिवर्तन है। ऊर्जा की सुविधाओं के विस्तार और यंत्रीकरण से हमारी जीवन-पद्धति में उग्र परिवर्तन आए हैं। अन्य सामाजिक परिवर्तन भी अनेक रूपों में देखे जा सकते हैं जैसे ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में विशेषज्ञता युक्त व्यक्तियों के लिए नौकरियों की संख्या में वृद्धि, बड़ी संख्या में महिलाओं का विभिन्न व्यावसायों में प्रवेश और विवाह, तलाक, संपत्ति-उत्तराधिकार और गोद लेने आदि के सम्बन्ध में कानूनी समानता। उपर्युक्त बातों के साथ-साथ संयुक्त परिवारों का विघटन, बढ़ता हुआ व्यक्तिवाद, नैतिक मूल्यों में ह्रास, गतिशीलता में वृद्धि, मुँह बा रही बेरोजगारी और गंदी बस्तियों के फैलाव को भी देखा जा सकता है। आप लोगों के खान-पान, आवास और रहन-सहन के ढंग में भी परिवर्तन देख सकते हैं। साथ ही गांव के संभ्रात व्यक्तियों और युवा नेताओं की नई सामाजिक आवश्यकताओं और मांगों को भी समझ सकते हैं। इन बदलती सामाजिक आकांक्षाओं को दृष्टि में रखते हुए शिक्षा से यह आशा की जाती है कि वह वास्तविक समाज की सामाजिक माँगों की पूर्ति में अपनी पूरी भूमिका निभाएगी।

सारांश

1. परिवर्तन प्रकृति का नियम है। हमारे समाज में तेजी से अथवा धीरे-धीरे सदा परिवर्तन होता रहता है।
2. सामाजिक परिवर्तन का अर्थ है—सामाजिक प्रक्रियाओं में परिवर्तन, उसके प्रतिरूपों में संशोधन और उसके रूपों में अदल-बदल।
3. परिवर्तन के रूप में स्वीकार किए जाने के लिए उसकी प्रक्रिया में ये तीन विशेषताएँ होनी आवश्यक हैं यथा— उसका पर्याप्त टिकाऊपन, उसकी व्यापकता और उसका उल्लेखनीय प्रभाव।
4. परिवर्तन समाज को गतिहीन तथा कठोर बनने से रोकता है और उसे लचीलेपन और अनुकूलन के पथ पर ले जाता है।
5. परिवर्तन व्यक्ति की अज्ञात स्थानों की खोज और आस-पास के रहस्यों पर से परदा हटाने की इच्छा को भी शांत करता है।
6. सामाजिक परिवर्तन का क्षेत्र बहुत विस्तृत है और यह अनेक रूपों में अपने को अभिव्यक्त करता है।
7. परिवर्तन जटिल होते हैं और उनका पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। परिवर्तन की भूमिका का भी पूर्वानुमान लगाया जा सकता है।

8. महापुरूषों के स्वैच्छिक कार्य, प्रौद्योगिक प्रगति, जनसंचार माध्यम, सांस्कृतिक विस्तार का प्रयास और अनुसंधान जैसे अनेक घटकों का सामाजिक परिवर्तन में योगदान रहता है।
9. स्वतंत्रता मिलने के बाद से भारतीय समाज के राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक रूपों पर परिवर्तन के अनेक प्रभाव देखने को मिलते हैं।

विचिंतन प्रश्न

1. सामाजिक परिवर्तन से आप क्या समझते हैं?
2. सामाजिक परिवर्तन की उल्लेखनीय विशेषताएँ कौन-कौन सी हैं?
3. समाज और व्यक्ति की दृष्टि से सामाजिक परिवर्तन क्यों आवश्यक है?
4. क्या शिक्षक को सामाजिक परिवर्तन की अनिवार्यता का अनुभव करना चाहिए? कारण बताइए।
5. सामाजिक परिवर्तन के मुख्य रूपों की व्याख्या कीजिए।
6. सामाजिक परिवर्तन की महत्वपूर्ण विशेषताएँ बताइए।
7. सामाजिक परिवर्तन लाने में व्यक्ति की भूमिका बताइए।
8. सामाजिक परिवर्तन के एक घटक के रूप में जनसंचार के माध्यमों की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
9. स्वतंत्रता के बाद भारत में लोगों के जीवन पर सामाजिक परिवर्तन का जो प्रभाव पड़ा है उसका वर्णन कीजिए।

इकाई 4.2 शिक्षा पर सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव

अब आप यह बात समझ चुके हैं कि शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन द्विपक्षीय विनिमय है। दोनों एक दूसरे पर आश्रित होने से शिक्षा सामाजिक परिवर्तन की सृष्टि और सृष्टा–दोनों हो जाती है। इस प्रकार शिक्षा पर सामाजिक परिवर्तनों का तत्काल प्रभाव पड़ता है और साथ ही यह समाज के रूपांतरण में एक शक्तिशाली साधन का काम करती है। पहले संबंध को अर्थात् शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन किस प्रकार प्रभावित करते हैं समझने के लिए पीछे मुड़कर अतीत में समाज में हुए परिवर्तनों को समझना होगा। संभवतः आपको याद हो कि हमारे देश में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया ब्रिटिश शासन काल में हुई और फिर स्वतंत्रता मिलने के बाद भी हुई। आपने यह भी देखा होगा कि इन परिवर्तनों का शैक्षिक योजना के लक्ष्यों, विभिन्न स्तरों पर शिक्षा के उद्देश्यों, शैक्षिक संस्थाओं के लिए भौतिक सुविधाओं, पाठ्यचर्या की प्रस्तुति, शिक्षण की कार्यप्रणाली और शिक्षकों के चयन तथा प्रशिक्षण आदि पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन परिमाणात्मक और गुणात्मक–दोनों प्रकार से शिक्षा को प्रभावित करते हैं।

शिक्षा के प्रसार के परिमाणात्मक पक्ष पर विचार करने पर हम पाते हैं कि शिक्षा के संबंध में ब्रिटिश प्रणाली के लक्ष्य इस प्रकार

थे: (क) प्रशासन में सहायता कर सकने वाले भारतीयों को शिक्षित करना, (ख) उनके मन में पश्चिमी मूल्यों को बैठाना, और (ग) शिक्षित व्यक्तियों को इस तरह की सहायता प्रदान करना जिससे वे आवश्यक दक्षताएँ प्राप्त कर सरकार की नई प्रणाली के अनुसार अपने को ढाल सकें तथा उसमें योगदान दे सकें। जैसा कि मैकाले का विचार था, वास्तव में इस शिक्षा प्रणाली द्वारा भारत में एक ऐसे वर्ग के निर्माण का प्रयास किया गया "जो जन्म से तो भारतीय हों पर रुचि, व्यवहार और दृष्टिकोण में अंग्रेज हों" ताकि इस वर्ग पर विदेशी शासन का समर्थक होने का भरोसा किया जा सके। इस प्रकार ब्रिटिश शासकों की शिक्षा-नीति केवल कुछ लोगों को ही शिक्षा प्रदान करने की थी और अपने उद्देश्य के अनुकूल उन्होंने अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम रखा। उनका उद्देश्य हर व्यक्ति को शिक्षित करना नहीं था, इसलिए जनता को थोड़ा बहुत शिक्षित करने का काम उन्होने कुछ शिक्षित संभ्रांत व्यक्तियों के हाथों में सौंप दिया। यह नीति "अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत" (डाऊनवर्ड फिलटरेशन थियोरी) के नाम से जानी जाती थी। इस नीति के कारण शिक्षा की सुविधाओं के प्रावधान में भारी विषमता आ गई। सफेदपोश नौकरियाँ देने के लिए उदार शिक्षा पर अधिक बल दिया गया। इससे ऐसी असमानताओं तथा अन्य सामाजिक असमर्थताओं ने जन्म लिया जो पहले नहीं थीं।

1947 में स्वतंत्रता मिलने के बाद भारत लोकतांत्रिक गणराज्य बना। परिमाणात्मक प्रसार और गुणात्मक सुधार–दोनों ही दृष्टियों से शिक्षा पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ा। जनता की प्रत्याशाओं, उसकी माँगों और उसके अधिकारों में क्रांति आ गई। शिक्षा को अब व्यक्ति का जन्म-सिद्ध अधिकार समझा जाता है। अतः प्रारंभिक शिक्षा को सर्वव्यापी बनाने पर विशेष बल दिया गया है। एक स्वतंत्र देश में शिक्षा को कुछ लोगों तक सीमित नहीं रखा जा सकता। इस बड़े सामाजिक परिवर्तन से लोग यह अनुभव भी करने लगे हैं कि शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अधिक धन की आवश्यकता है। अब शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषाएँ हो गई हैं। पाठ्यचर्या में किए गए परिवर्तन इस बात के सूचक हैं कि बदलते हुए सामाजिक परिवेश के साथ-साथ चलने में शिक्षा की सहायता की आवश्यकता है। व्यावसायिक झुकाव का अर्थ शिक्षा के द्वारा राष्ट्रीय विकास के वैज्ञानिक और तकनीकी पक्षों की आवश्यकता पर बल देना है।

एक बड़े परिवर्तन के सर्वव्यापी प्रभाव को दर्शाने के लिए ही स्वतंत्रता के पहले और स्वतंत्रता के बाद शिक्षा पर सामाजिक परिवर्तनों के प्रभाव की यहाँ चर्चा की गई है। जैसा आप जान चुके हैं सामाजिक परिवर्तन किसी समाज की एक सतत परिघटना होती है। अतः सतत सामाजिक परिवर्तनों की विभिन्न प्रक्रियाएँ किस प्रकार हमारे लोगों और उनकी शिक्षा को प्रभावित करती हैं उसे आपको समझना चाहिए। आप इस बात से परिचित होंगे कि किस प्रकार औद्योगिकीकरण से सामाजिक परिवर्तन होता है और किस प्रकार शहरीकरण के फलस्वरूप लोग गाँवों से शहरों की ओर भागते हैं। शिक्षा को धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक सामाजिक आकाक्षाँओं में योगदान का दायित्व स्वीकार करना चाहिए। राजनीतिकरण की प्रक्रिया में विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओं के बारे में जानकारियों का प्रसार करने की और साथ ही

नागरिकों में अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति अधिक जागरूकता पैदा करने की आवश्यकता है। जीवन-शैली में आधुनिक प्रौद्योगिकी को अपनाने के कारण खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, रहन-सहन और मनोरंजन के तरीकों में परिवर्तन आ गया है। इसी प्रकार जाति-पाँति के भेदभावों की उपेक्षा, धार्मिक कट्टरता में अनास्था और विभिन्न समुदायों में परस्पर सद्भावना के फलस्वरूप भारतीयकरण का विकास हो रहा है जो नए सांस्कृतिक मानदंडों को पहचानने की प्रक्रिया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि हम 'आधुनिकीकरण' की प्रक्रिया में चल रहे हैं। जैसा बिल्बर्ट ई. मूर ने कहा है, 'आधुनिकीकरण का अर्थ है—पारंपरिक अथवा प्रागाधुनिक समाज का उस प्रकार की प्रौद्योगिकी में पूर्ण रूपांतरण, जो उन्नत और आर्थिक दृष्टि से संपन्न और पश्चिमी विश्व के राजनैतिक रूप से स्थायी राष्ट्रों की विशेषता है।" स्वभावतः अपेक्षित मूल्यों को मन में बैठाने, आवश्यक दृष्टिकोणों को विकसित करने और व्यक्तियों को विशेष परिवर्तनों के अनुरूप स्वयं को ढाल सकने की आवश्यक दक्षता से सज्जित करने की इस जटिल प्रक्रिया में शिक्षा को अपनी भूमिका निभानी है और अपना योगदान भी करना है। इसके लिए केवल शिक्षा के लक्ष्यों और उद्देश्यों, पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियों में ही परिवर्तन लाने की आवश्यकता नहीं है बल्कि शिक्षक-प्रशिक्षण, पाठ्य-पुस्तकों और पाठ्यचर्या-सामग्री के लेखन, पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाकलापों के आयोजन और विद्यालयों में भौतिक सुविधाओं के प्रावधान के बारे में भी नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता है।

औपनिवेशिक तथा स्वातंत्र्योत्तर काल में शिक्षा पर सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव की जानकारी मिल जाने पर अब आप इस बात को समझ सकते हैं कि समाज के उद्देश्यों की प्राप्ति में शिक्षा एक मूलभूत माध्यम है। इस संबंध में शिक्षा का उपयोग एक माध्यम के रूप में समाज की प्रगति के लिए भी किया जा सकता है। लेकिन आपको यह समझ लेना चाहिए कि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन पर प्रभाव डाले, इसकी अपेक्षा सामाजिक परिवर्तनों का शिक्षा पर प्रभाव डालना अधिक सरल है।

सारांश

1. समाज के उद्देश्यों की प्राप्ति में शिक्षा एक मूलभूत माध्यम है।
2. शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन द्विपक्षीय विनिमय है।
3. सामाजिक परिवर्तनों के शिक्षा पर परिमाणात्मक तथा गुणात्मक—दोनों प्रभाव पड़ते हैं।
4. सामाजिक परिवर्तन शिक्षा के सभी रूपों को प्रभावित करते हैं, यथा—लक्ष्य और उद्देश्य, पाठ्यचर्या, शिक्षक प्रशिक्षण और शैक्षिक नीति।

विचिंतन प्रश्न

1. "सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शिक्षा एक महत्वपूर्ण माध्यम है" इस पर चर्चा कीजिए।
2. औपनिवेशिक शासन से मुक्त हुए भारत के विशेष संदभ में 'सामाजिक परिवर्तन' शिक्षा को किस प्रकार प्रभावित करते हैं इस प्रक्रिया को समझाइए।
3. सामाजिक परिवर्तन किस प्रकार शिक्षा के परिमाणात्मक रूप को प्रभावित करते हैं? इसके दो उदाहरण दीजिए।
4. शिक्षा के गुण पर सामाजिक परिवर्तनों के प्रभाव का उदाहरण सहित वर्णन कीजिए।

इकाई 4.3 सामाजिक परिवर्तनों पर शिक्षा का प्रभाव

पिछले पृष्ठों में शिक्षा के विभिन्न रूपों जैसे—लक्ष्य और उद्देश्य, पाठ्यचर्या, कार्यप्रणाली और शिक्षक-प्रशिक्षण पर सामाजिक परिवर्तनों के प्रभाव का उल्लेख किया गया है। इससे आपको यह जानने में सहायता मिली कि ध्येय, विषय-वस्तु और संचालन कार्यविधि की दृष्टि से शिक्षा किस प्रकार सामाजिक परिवर्तनों से प्रभावित हुई है।

अब आपको शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन के परस्पर संबंध के दूसरे रूप पर अर्थात् समाज में परिवर्तन लाने के लिए शिक्षा का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है अपनी जानकारी बढ़ानी है। सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने में शैक्षिक कार्य किस प्रकार सहायक होते हैं, आप यह जानकारी प्राप्त करें, उससे पहले कोठारी आयोग की रिपोर्ट में उल्लिखित निम्नलिखित प्रासंगिक शब्दों की ओर हम आपका ध्यान आकर्षित करना चाहतें हैं: "शिक्षा से यह आशा की जाती है कि वह लोगों के दृष्टिकोणों और मूल्यों में परिवर्तन लाए और उनमें आगे बढ़ने की भावना पैदा करे"। इस प्रकार आप स्वीकार्य सामाजिक परिवर्तन लाने में मूल्यवान सहायता प्रदान करने के अतिरिक्त शिक्षा की सर्जनात्मक शक्ति के रूप में भूमिका को भी समझ लेंगे।

सामाजिक परिवर्तनों पर शिक्षा के प्रभाव को समझने से पहले आपको यह समझ लेना चाहिए कि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन की मात्र एक सेवक नहीं है। इसकी सर्जनात्मक शक्ति अपेक्षित ढंग से समाज को नया रूप प्रदान करने में भी सहायक होती है। यह शक्ति केवल निर्धारित दिशाओं का अनुसरण ही नहीं करती उनका मार्ग भी प्रशस्त करती है। शिक्षा के इस सर्जनात्मक कार्य का सर्वोत्तम उदाहरण हमारी प्राचीन ब्राह्मण शिक्षा-पद्धति में मिलता है। स्पार्टा और नाजियों के अनुभवों से भी पता चलता है कि एक माध्यम के रूप में समाज में परिवर्तनों के लिए शिक्षा का उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है।

सामाजिक परिवर्तनों पर शिक्षा के प्रभाव को अनेक प्रकार से देखा जा सकता है, जैसे—समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा परिवर्तन को अपनाने में सहायता प्रदान करने में, परिवर्तन के प्रति लोगों के विरोध को दूर कराने में और समाज में नए परिवर्तनों को लाने के लिए नेतृत्व के गुण पैदा करने में।

सबसे पहले अज्ञान, अंधविश्वास, क्षेत्रवाद और जातिवाद, यथास्थिति से संतोष और नए विकासों से असुरक्षा की भावना जैसी लोगों की प्रवृत्तियों और अंकुशकारी मूल्यों में परिवर्तन

लाकर शिक्षा सामाजिक परिवर्तन में योगदान कर सकती है। प्रगति के मार्ग की कमियों तथा रुकावटों को मालूम करने में शिक्षा समाज की सबसे अधिक सहायता करती है। उपयुक्त शिक्षा सामाजिक गतिशीलता द्वारा निचले स्तर के लोगों को सामाजिक पदक्रम में ऊँची सीढ़ी पर चढ़ाकर समाज में समानता लाने में भी सहायता करती है। अत: शिक्षा सामाजिक रूपांतरण में बाधक घटकों को दूर करने और परिवर्तन के प्रति लोगों के प्रतिरोध को समाप्त करने में सहायक हो सकती है। सामाजिक परिवर्तन अपनाने में भी वह समाज की सहायता करती है। जब कभी कोई सामाजिक परिवर्तन होता है तो कुछ लोग तो उसे तुरंत स्वीकार कर लेते हैं, कुछ लोग कुछ समय बाद और अनेक लोग उसका विरोध भी करते हैं। उद्देश्यों और प्रक्रियाओं की बारीकी से जाँच कर परिवर्तन का विश्लेषण करने में शिक्षा सहायक हो सकती है। शिक्षित जन नई योजनाओं और कार्यकलापों के गुण-दोषों को जान सकते हैं। समाज के लिए परिवर्तनों का प्रभाव उपयोगी रहेगा अथवा हानिकारक यह जानने के लिए मूल्यों के निर्णय से काम ले सकते हैं और तदनुसार परिवर्तनों को स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकते हैं।

शिक्षा का सबसे बड़ा योगदान व्यक्ति को सामाजिक परिवर्तन के लिए तैयार करने में है। सामाजिक परिवर्तन लाने वाले घटकों का अध्ययन करते समय आपने देखा होगा कि व्यक्ति के विचार सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए एक सशक्त साधन का काम कर सकते हैं। जैसा कि आप पिछली इकाई में पढ़ चुके हैं व्यक्ति के विकास में शिक्षा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। एकीकृत बाल-विकास कार्यक्रम के रूप में प्राथमिक शिक्षा के लक्ष्य के अंतर्गत व्यक्तित्व के मानसिक, भौतिक, सामाजिक, भावनात्मक, नैतिक और सौंदर्य बोधी पक्षों का संपूर्ण विकास आता है। इस प्रकार शिक्षा स्वस्थ मस्तिष्क तैयार करने का सबसे महत्वपूर्ण कार्य करती है। यह मस्तिष्क न केवल नए विचारों की सृष्टि कर सकता है बल्कि उनका सृजन और अन्वेषण भी कर सकता है। इसके अतिरिक्त शिक्षा सर्जनात्मक चिंतन के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करने में सहायता कर सकती है। इस प्रकार की क्षमता वाला व्यक्ति अतीत की सही-सही व्याख्या कर सकता है, वर्तमान को समझ सकता है और अज्ञात भविष्य का पूर्वानुमान लगा सकता है। शिक्षा के इस कार्य की निष्पत्ति लोकतांत्रिक व्यवस्था में सबसे अच्छे ढंग से की जा सकती है। लोकतांत्रिक समाज में सर्जक व्यक्तियों के विकास के लिए शिक्षा का सर्वोत्तम अवसर प्राप्त होता है क्योंकि इसमें विचारों को व्यक्त करने और आलोचना करने की पूरी स्वतंत्रता होती है, सामाजिक निर्णय लेने में मतैक्य की आवश्यकता पर बल दिया जाता है और लोकतंत्र के बेहतर कार्यसंचालन के लिए सोचने की वकालत की जाती है। इस प्रकार शिक्षा एक ऐसा व्यक्ति तैयार कर सकती है जो हमारे समाज को गतिशील बना सके। समाज में परिवर्तन लाने के लिए शिक्षा सबसे अधिक समर्थ है। फिर भी आपको याद रखना चाहिए कि इस दिशा में उपलब्धियाँ तभी बेहतर और तेज़ी से होती हैं जब शैक्षिक वातावरण में कुछ परिस्थितियों का सुनिश्चिय हो। श्रेष्ठ योजनाकार, प्रशासक और योग्य शिक्षक निश्चय ही बेहतर चिंतक होंगे। अत: वे अपने विद्यार्थियों का इस प्रकार से मार्गदर्शन करने में अधिक समर्थ होंगे कि बड़े होने पर वे सामाजिक परिवर्तनों में योगदान कर सकें। शिक्षकों को अपने कार्य में प्रयोग करने की आवश्यक स्वतंत्रता दे देने से विविध दिशाओं में चिंतन के लिए और भी उचित वातावरण बनेगा जो परिवर्तन का आवश्यक आधार है। शिक्षा

संस्थाओं के लिए उच्चतर स्तर, शिक्षण की सर्जनात्मक विधियाँ और मूल्यांकन की बेहतर प्रणाली भी उचित वातावरण तैयार करने में सहायक होती है। समाज़ में परिवर्तन लाने में सर्जनात्मक शक्ति के रूप में शिक्षा के उभरने में सहायता देने के लिए ये कदम आवश्यक हैं।

सारांश

1. शिक्षा सामाजिक परिवर्तन की मात्र सेवक ही नहीं है। इसकी सर्जनात्मक शक्ति समाज को अपेक्षित ढंग से नया रूप देने में समर्थ है।
2. बाधक मूल्यों और नवीन के प्रति लोगों के दृष्टिकोणों में परिवर्तन लाकर शिक्षा सामाजिक परिवर्तन में योगदान करती है।
3. शिक्षा स्वस्थ एवं सर्जनात्मक मस्तिष्क वाले व्यक्ति को तैयार कर सामाजिक परिवर्तन के लिए उपयुक्त नेतृत्व प्रदान करती है।
4. परिवर्तन लाने में शिक्षा सहायक हो सके इसके लिए कुछ बातों का होना आवश्यक है, यथा—श्रेष्ठ योजनाकार, प्रशासक और योग्य शिक्षक, विद्यालयों में शिक्षकों को प्रयोग के लिए स्वतंत्रता और शिक्षण की सर्जनात्मक विधियाँ।

विचिंतन प्रश्न

1. सामाजिक परिवर्तन के माध्यम के रूप में शिक्षा का उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है इसका एक उदाहरण दीजिए।
2. सामाजिक परिवर्तन के प्रति प्रतिरोध को दूर करने में शिक्षा किस प्रकार सहायक हो सकती है?
3. सामाजिक परिवर्तन हेतु नेतृत्व प्रदान करने के लिए शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति के विकास की प्रक्रिया को समझाइए।
4. शिक्षा सामाजिक परिवर्तन में तेज़ी से और बेहतर परिणाम प्राप्त कराने में समर्थ हो इसके लिए कौन-सी पूर्वापेक्षित बाते आवश्यक है?

इकाई 4.4 सामाजिक परिवर्तन लाने में शिक्षा का कार्य-क्षेत्र और सीमाएँ

पिछले खंड में आप समाज में परिवर्तन लाने से संबद्ध शिक्षा की संभावित भूमिका के बारे में पढ़ चुके हैं। निस्संदेह यह बात सही है कि सामाजिक परिवर्तन लाने के शक्तिशाली माध्यम के रूप मे शिक्षा सबसे अधिक समर्थ है। किन्तु इस कठिन कार्य का निष्पादन प्रभावी ढंग से हो सके इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षा-व्यवस्था एकदम आदर्श रूप में हो, उसके कार्यकर्ता सक्षम हों, उनमे समाज के अन्य संगठनों तथा संस्थाओं के साथ मिल-जुलकर तथा सहयोग से काम करने की योग्यता हो और समाज इस दिशा में शिक्षा की भूमिका को स्वीकार करे।

हमारी शिक्षा-व्यवस्था की विद्यमान सीमाओं

को देखते हुए अनेक आलोचकों का यह विचार है कि शिक्षा-संस्थाएँ सामाजिक परिवर्तन ला सकने में बहुत कमजोर सिद्ध हुई हैं। अतः स्थिति का विश्लेषण करना आवश्यक है। इसमें संदेह नहीं कि आज हमारी शिक्षा व्यवस्था मे सबसे बड़ी बाधा आवश्यक वित्तीय संसाधनों की है। संसाधन सीमित होने के कारण प्रारंभिक विद्यालयों में बच्चों और शिक्षकों—दोनों के लिए सुविधाओं का अभाव है। प्रारंभिक विद्यालय के शिक्षकों की स्थिति न केवल अन्य स्तरों के शिक्षकों की तुलना में वेतनमान के विचार से बल्कि शैक्षिक और व्यावसायिक योग्यता की दृष्टि से भी सबसे नीचे है। आवश्यक धन की कमी के कारण प्रारंभिक विद्यालय भवनों की दयनीय स्थिति पढ़ाई को अरुचिकर बना देती है जिससे इस स्तर पर बरबादी और अवरोध—दोनों में वृद्धि होती है। फलस्वरूप प्रारंभिक विद्यालय विशेषकर सामाजिक परिवर्तन लाने में सबसे कम प्रभावी रहते हैं। शिक्षा संस्थाओं के पदक्रम में नीची स्थिति होने के कारण प्रारंभिक विद्यालयों के लिए स्वभावतः अन्य सामाजिक एजेन्सियों से सहयोग पाने में कठिनाई होती है।

यह कहना भी किसी प्रकार स्थिति को कम करके आँकना नहीं है कि प्रारंभिक विद्यालय के शिक्षक को शैक्षिक एवं व्यावसायिक रूप से अपने को सज्जित कर पाने के लिए पूरे साधन नहीं मिल पाते जिससे वह सामाजिक परिवर्तन में योगदान के लिए प्रबुद्ध शिक्षक की भूमिका निभा सके। प्रारंभिक विद्यालय के शिक्षकों के वेतनमान इतने कम हैं कि विद्यालयों के साधारण छात्र भी शिक्षक बनना पसंद नहीं करते। प्रारंभिक शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं की दुर्दशा और असुविधाओं ने स्थिति को और भी अधिक बिगाड़ दिया है, विशेषकर इसलिए भी कि इस स्तर के शिक्षक-प्रशिक्षकों को शिक्षा के प्रारंभिक स्तर की विशेष जानकारी नहीं होती। सबसे दयनीय स्थिति प्रारंभिक विद्यालय के शिक्षकों के लिए सेवाकालीन शिक्षा सुविधाओं का नितांत अभाव होने की है। इस स्थिति मे उन्हें परिवर्तन का प्रतिरोध करने और विद्यमान ढर्रे को बनाए रखने का दोषी नहीं ठहराया जा सकता। अलग-थलग पड़ा और कुंठित शिक्षक न तो समुदाय के नेता की भूमिका निभा सकता है और न ही परिवर्तन का अग्रदूत बन सकता है।

सामाजिक परिवर्तन लाने में हमारी शिक्षा व्यवस्था की एक अन्य सीमा संभवतः प्रारंभिक विद्यालयों के संगठन और प्रशासन के क्षेत्र में है। प्रशासन व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिससे कार्यकर्ताओं को दिशा और प्रेरणा प्राप्त हो। इसके स्थान पर प्राय. यह आरोप लगाया जाता है कि प्रशासक व्यक्तिगत पक्षपात तथा पूर्वाग्रह के वशीभूत होकर अलोकतात्रिक ढंग से काम करते हैं। प्रारंभिक विद्यालय के प्रशासकों को प्रारंभिक शिक्षा के क्षेत्र मे प्रायः विशेष ज्ञान न होने से यह स्थिति और बिगड़ गई है।

प्रारंभिक विद्यालयों में काम करने की वास्तविक दशाएँ भी इतनी उत्साहप्रद नहीं मालूम होतीं कि परिवर्तन लाने में अपनी सामर्थ्य का परिचय दे सकें। कुछ शिक्षकों का आरोप है कि पाठ्यचर्या यथार्थवादी नहीं होती क्योंकि पाठ्यचर्या बनाने में प्रारंभिक विद्यालयों के शिक्षकों का सहयोग नहीं लिया जाता। यदि कभी उन्हें नीति-निर्णय की बैठकों में बुलाया भी जाता है तो चर्चा-दलों के निरंकुश वातावरण में उनकी बातों पर कोई ध्यान ही नहीं देता। शिक्षा के प्रारंभिक चरण की पाठ्यपुस्तकें प्रायः उच्चतर शिक्षा-स्तर के शिक्षक लिखते हैं। इससे प्रारंभिक विद्यालयों के शिक्षकों की यह शिकायत रहती है कि पाठ्यचर्या न तो छात्रों की और न समुदाय की आवश्यकताओं की ही ठीक से पूर्ति कर पाती है।

बाहरी लोगों से मूल्यांकन कराने की पद्धति बच्चो में सर्जनात्मक कार्य के प्रति उत्साह जगाने में सबसे बड़ी शत्रु कही जाती है। शिक्षक यह भी आरोप लगाते हैं कि विषयों की संख्या और उन्हें पढ़ाने के निर्धारित ढंग इतने बढ़ गए हैं कि छात्रों को उनके समाज की जानकारी दे पाने का शिक्षकों को समय ही नहीं मिल पाता।

सामाजिक परिवर्तन लाने में शिक्षा के क्षेत्र पर अंकुश लगाने वाली जटिल समस्याओं और सीमाओं के बावजूद हमें निराश और हताश नहीं होना चाहिए। जहाँ अंकुशों का ठीक-ठीक विश्लेषण सदा सहायक रहता है वहाँ यथार्थवादी कार्य- नीतियाँ अपनाकर कठिनाईयों को दूर किया जा सकता है। उत्साही शिक्षक उनके प्रभाव को कम कर सकते हैं और सामाजिक परिवर्तन लाने का कार्य वे अपनी सीमाओं के अंदर अपने हाथ में ले सकते हैं।

सारांश

1. सामाजिक परिवर्तन के एक प्रभावी साधन के रूप में काम करने में शिक्षा की कुछ सीमाएँ होती हैं।
2. वित्त की अल्प व्यवस्था से सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा की भूमिका पर अंकुश लगता है।
3. शिक्षकों की नीची व्यावसायिक स्थिति होने से सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा के योगदान का क्षेत्र सीमित हो जाता है।
4. सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए शिक्षा व्यवस्था में कुछ परिवर्तन निश्चय ही शिक्षा सस्थाओं में अनुकूल वातावरण पैदा करने में सहायता कर सकते हैं।

विचिंतन प्रश्न

1. सामाजिक परिवर्तन के एक प्रभावी साधन के रूप में काम करने में शिक्षा की कौन-कौन सी सीमाएँ हैं?
2 परिवर्तन के एजेण्ट के रूप में शिक्षा की भूमिका को सीमित वित्तीय साधन किस प्रकार प्रभावित करते है?
3. क्या शिक्षक की सामाजिक स्थिति सामाजिक परिवर्तन लाने वाले एजेण्ट के रूप में काम करने मे शिक्षा की क्षमता को प्रभावित करती है? उपयुक्त उदाहरण देकर इसकी व्याख्या कीजिए।
4. शिक्षा व्यवस्था में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए जो सामाजिक परिवर्तन लाने में शिक्षा की क्षमता बढ़ा सकें।

निष्कर्ष

बच्चे जिस समाज में पैदा होते हैं उसकी संस्कृति में भी जन्म लेते हैं। सस्कृति मानव निर्मित एक पर्यावरण है और उसमें सामाजिक जीवन के कार्यकलापों की सभी विशेषताएँ शामिल होती हैं। "इस संस्कृति के अंतर्गत एक ओर मनुष्य की सम्पूर्ण भौतिक सभ्यताएँ हैं यथा—औजार, हथियार, कपड़ा, आवास, यंत्र और उद्योग व्यवस्था, दूसरी ओर सभी अभौतिक सभ्यताएँ हैं, जैसे भाषा, साहित्य, कला, धर्म, नैतिकता, कानून और सरकार। यह संस्कृति एक समाज-विशेष के सदस्यों की साझी थाती होती है जिसे वे एक पीढ़ी मे दूसरी पीढ़ी को सौंपते चले जाते हैं।" इस सांस्कृतिक व्यवस्था में विकसित होने वाले बच्चे अपने गुरुजनों से अन्य लोगों के साथ मिलजुल कर रहने के लिए आवश्यक व्यवहार सीखते हैं। इस प्रक्रिया में युवा पीढ़ी एकदम वही जीवन नहीं जीती जिस तरह का जीवन उनके पूर्वजों ने जिया था बल्कि जिस संस्कृति में उन्होंने जन्म लिया है उसकी माँगों के अनुसार जीना सीखती है। ये माँगें अनेक प्रकार से उनके पूर्वजों के समय की माँगों से भिन्न होती है। संस्कृति में परिवर्तन एक सीमा तक समाज के इतिहास, भूगोल, जलवायु की दशा तथा अन्य संसाधनों पर निर्भर करते हैं पर इससे भी अधिक सीमा तक समाज के सदस्यों द्वारा अर्जित किए गए ज्ञान पर निर्भर करते हैं। दक्षता और मनोवृत्तियों के विकास में ज्ञान सहायक होता है। ज्ञान का प्रसार और दक्षता तथा मनोवृत्तियों का विकास जिसे "शिक्षा" के नाम से जाना जा सकता है, पूरी प्रौद्योगिक प्रगति का स्रोत बन जाता है। यह बात समझने की है कि समाज की समृद्धि और प्रगति के साथ-साथ समाज के सदस्यों की वृद्धि और विकास के लिए शैक्षिक सुधारो को सांस्कृतिक परिवर्तनों के साथ कदम मिलाकर चलना होगा।

अतः शैक्षिक उद्देश्यों का विकास सामाजिक दर्शन से (समाज के पोषित आदर्शों से), समकालीन समाज की कठोर वास्तविकताओं की समझ से (उसके सामाजिक प्रकरणों तथा समस्याओं से)और इस अंतर्दृष्टि से होना है कि बच्चों को क्या सीखना चाहिए और वे क्या सीख सकते हैं ताकि जिस समाज मे उन्हें बडे होकर रहना है उसके आर्थिक तथा सामाजिक पर्यावरण को सुधारने की क्षमता का विकास करके वे उपयोगी नागरिक बन सकें। स्पष्ट रूप से प्रस्तुत शैक्षिक उद्देश्य अपेक्षित विकास के लिए (पूरे समाज और उसके व्यक्तिगत सदस्य—दोनों की) दिशा प्रदान करते हैं; विद्यालयों के कार्यक्रमों के चुनाव के लिए (पाठ्यचर्या-और सह-पाठ्यचर्या संबंधी) मानदंड प्रदान करते हैं; और एक ऐसी रूपरेखा तैयार करने में सहायक होते हैं जिसके अन्तर्गत विद्यार्थियों की प्रगति और विद्यालय के कार्यक्रमों की उपयोगिता का मूल्यांकन किया जा सके।

हमारे समाज का कृषि प्रधान समाज से उद्योग प्रधान समाज में रूपांतरण हो रहा है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति के फलस्वरूप हुए ज्ञान के विस्फोट ने परिवर्तन की इस प्रक्रिया पर बहुत प्रभाव डाला है। इन सभी बातों ने आर्थिक दशा और व्यक्ति की सामाजिक वर्ग- स्थिति में सुधार लाने में शिक्षा के दायित्व को और भी अधिक बढ़ा दिया है। दूसरे शब्दों में शिक्षा को अब "मानव संसाधन के विकास" के लिए विनियोग या सामाजिक पूंजी निवेश समझा जाता है।

बदलते समाज की माँग है कि शिक्षा में सुधार

हो और शिक्षा ही एकमात्र ऐसा साधन है जो व्यक्ति की और इस प्रकार समाज की गुणवत्ता में सुधार ला सकती है। इन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि शिक्षक समाज व्यवस्था के साथ शिक्षा के सम्बन्ध की जाँच-पड़ताल करें और उसे समझें। इससे वे जीवन के अन्य पहलुओं तथा समस्याओं के संबंध में शिक्षा की भूमिका को समझ सकेंगे। दूसरे, शिक्षकों के लिए शैक्षिक क्रियाओं और सामाजिक ध्येयों के बीच उठ खड़ी होने वाली संभावित असंगतियों को समझना आवश्यक है ताकि हम उन्हें दूर कर सकें। तीसरे, वैकल्पिक शैक्षिक क्रियाओं तथा कार्यक्रमों का मूल्य जाँचने के लिए जिज्ञासु मस्तिष्क और दृष्टिकोण का विकास करना है। इन शैक्षिक क्रियाओं तथा कार्यक्रमों में इतनी सामर्थ्य होनी चाहिए कि इनके आधार पर शिक्षा की नई दिशाओं के द्वार खुल सकें। शिक्षा के संचालन में शिक्षकों को कभी भी परंपरागत विचारों से संतुष्ट न रह कर सामाजिक प्रगति के संबंध में शैक्षिक विचारों तथा कार्यक्रमों के गुण-दोषों का पता लगाते रहना चाहिए।

तृतीय खण्ड

प्रारंभिक विद्यालयी व्यवस्था में शिक्षक

यह बात तो सही है कि शिक्षक जिस समाज के बच्चों को पढ़ा रहे हैं उन्हें उस समाज की अधिक-से-अधिक जानकारी होनी चाहिए और साथ ही उन्हें इस बात का भी ज्ञान होना चाहिए कि बृहत्तर समाज के अंग के रूप में इस समुदाय में विद्यालयी व्यवस्था (प्रारंभिक विद्यालयी व्यवस्था) को किस तरह कार्यान्वित करना है। प्रत्येक विद्यालयी व्यवस्था को विभिन्न प्रकार की पारिवारिक पृष्ठभूमि तथा वातावरण से, अलग-अलग सामाजिक वर्गों से, विविध जातियों और वर्णों से और भिन्न-भिन्न उप-सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों से संबंधित बच्चों की पढ़ाई तथा उनके विकास के अन्य पक्षों की देखभाल करनी होती है। इन बच्चों की आवश्यकताएँ, आकाँक्षाएँ क्षमताएँ और उपलब्धियाँ अलग-अलग प्रकार की होती हैं। अतः शिक्षा व्यवस्था को साधारणतः और विद्यालयी व्यवस्था को विशेषकर अनेक सामाजिक विवादों तथा समस्याओं का सामना करना पड़ता है। शिक्षकों की योग्यता और क्षमता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि उन्हें किस प्रकार की शिक्षा प्राप्त हुई है, शिक्षा पर सामाजिक शक्तियों के प्रभाव की वे कितनी सूझ-बूझ रखते हैं और समाज में परिवर्तन लाने तथा उसे सुधारने में एक एजेंसी के रूप में विद्यालय व्यवस्था के कार्यान्वयन का उन्हें कितना ज्ञान है। तृतीय खंड का उप-विषय है: प्रारंभिक विद्यालयी व्यवस्था में शिक्षक। इस खंड को 5, 6 और

7—इन तीन अध्यायों में बाँटा गया है। पाँचवें अध्याय में भारत में प्रारंभिक शिक्षा के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का वर्णन किया गया है ताकि उसकी वर्तमान स्थिति को समझा जा सके। छठे अध्याय में प्रारंभिक शिक्षा-व्यवस्था, उसकी भूमिका और कार्य पर ध्यान केन्द्रित किया गया है जिसमें शिक्षक की मुख्य भूमिका रहती है। हमारा समाज जटिल से जटिलतर होता जा रहा है, अतः शिक्षकों से बहुमुखी भूमिका निभाने की आशा की जाती है। सातवें अध्याय में समुदाय में शिक्षकों की बढ़ती हुई भूमिका की तथा इस बात की चर्चा है कि इस भूमिका को किस प्रकार नीरस किताबी शिक्षा के बजाय सजीव शिक्षा देने के लिए अध्यापन-अधिगम का केन्द्र बनाया जाए और आवश्यक हो तो किस प्रकार इन दोनों मार्गों के बीच संतुलन स्थापित किया जाए।

पाँचवाँ अध्याय

भारत में प्रारंभिक शिक्षा की ऐतिहासिक परंपराएँ

प्रारंभिक विद्यालय के छात्राध्यापक के रूप में आपके लिए यह जानना अति आवश्यक है कि इस देश में प्रारंभिक शिक्षा व्यवस्था का कालांतर में धीरे-धीरे किस प्रकास विकास हुआ और उसकी वर्तमान स्थिति के आधार क्या हैं।

इस अध्याय में प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक भारत में प्रारंभिक शिक्षा की बढ़ोतरी और विकास का वर्णन किया गया है। इसका उद्देश्य यह पता लगाना है कि भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न समाजों की अपनी दृष्टि में क्या स्थिति रही है, उनकी सामाजिक आकांक्षाएँ क्या रही हैं और इन मूल्यों ने उनके शैक्षिक दृष्टिकोणों और व्यवहारों को किस प्रकार प्रभावित किया है। अब तक आप इस बात से परिचित हो चुके होंगे कि शिक्षा व्यवस्था वस्तुतः समाज के आदर्शों का दर्पण होती है। साथ ही इस अध्याय के अध्ययन से आप अपने ऐतिहासिक अतीत की मूल्यवान परम्पराओं की जानकारी प्राप्त करते हुए स्वतंत्र भारत की वर्तमान प्रारंभिक शिक्षा व्यवस्था की भी आलोचनात्मक विवेचना कर सकेंगे। इससे आपको वर्तमान समस्याओं और प्रथाओं के प्रकाश में, जिन पर समकालीन भारत के व्यक्तियों और व्यक्ति-समूहों की मनोवृत्तियों तथा मूल्यों का भारी प्रभाव है, प्रारंभिक शिक्षा व्यवस्था के भविष्य की रूपरेखा बनाने के लिए अंतर्दृष्टि भी मिलेगी।

इस अध्याय को चार इकाइयों में बाँटा गया है। इकाई 5.1 में प्राचीन काल के ब्राह्मण एवं बौद्ध युग की मान्याताओं और शैक्षिक प्रथाओं का वर्णन है। इकाई 5.2 में मध्यकालीन भारत में लोगों के आदर्शों और दृष्टिकोणों के अनुरूप किस प्रकार शिक्षा ने रूप ग्रहण किया इसका उल्लेख है। इकाई 5.3 में भारत में यूरोपवासियों के आकर बसने के समय से जुड़ी आधुनिक युग में शिक्षा-संबंधी विचारधारा का वर्णन है। बाद में ब्रिटिश सत्ता द्वारा एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था की स्थापना के प्रयास पर प्रकाश डाला गया है जो हमारे देश की सांस्कृतिक प्रकृति के लिए इतनी पराई थी कि भारतीय जनता इस व्यवस्था का लाभ नहीं उठा सकी। अंत में इकाई 5.4 में भारत के स्वतंत्र होने और भारतीयता की पुनः प्रतिष्ठा स्थापित होने के बाद प्रारंभिक शिक्षा सहित भारतीय शिक्षा व्यवस्था को नया रूप दिए जाने का उल्लेख है।

इकाई 5.1 प्राचीन भारत में प्रारंभिक शिक्षा

1000 ई.पू तक के प्रागैतिहासिक काल तक किसी व्यवस्थित शिक्षा व्यवस्था का प्रमाण नहीं मिलता। संभवतः लोग जो कुछ भी सीखते थे, अपने परिवार में ही सीखते थे। गृहस्वामी अपने पुत्रों को वेदों का ज्ञान करा देता था। बाद में जब जीवन जटिल से जटिलतर बनता गया, कुछ विद्वानों के विशाल ज्ञान-भंडार और ख्याति से कुछ शिष्य उनकी ओर आकर्षित होने लगे और उनके घर जाकर ज्ञानार्जन करने लगे। इस प्रकार धीरे-धीरे शिक्षा-व्यवसायी

के रूप में 'गुरू' और शिक्षा-संस्थाओं के रूप में 'गुरुकुल' अथवा 'आश्रम', समाज के मंच पर उभरे। कालांतर में ब्रह्मणों ने, जो अन्य वर्ण के लोगों की अपेक्षा अधिक विद्वान थे, शिक्षा देने का पूरा काम अपने नियंत्रण में ले लिया और धीरे-धीरे उन्होंने एक ऐसी व्यवस्थित शिक्षा व्यवस्था का विकास किया जिसे ब्राह्मण कालीन शिक्षा व्यवस्था के नाम से जाना गया। इस का उद्देश्य शिष्यों को धार्मिक शिक्षा प्रदान करना और उनकी विशुद्ध पारिवारिक परंपरा (वर्ण) के अनुसार उन्हें भावी व्यवसायों के लिए तैयार करना था।

ब्राह्मणोत्तर काल में जाति और वर्ण व्यवस्था के अधिक प्रबल और कठोर होने पर छोटी जाति वाले शूद्रों को शिक्षा प्राप्त करने के अयोग्य ठहरा दिया गया। अतः वे लोग शिक्षा से बिलकुल वंचित रह गए। अन्य लोगों को दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा भी धीरे-धीरे जटिल कर्मकांडों के जाल में जकड़ती गई। यह शिक्षा संस्कृत भाषा के माध्यम से दी जाती थी जो साधारण लोगों की समझ से परे थी। ब्राह्मणकालीन शिक्षा मूल रूप से धार्मिक थी और उसका लक्ष्य जीवन को धार्मिक आदर्शों के अनुसार ढालना था। गुरुकुल एक शिक्षक वाले आवासीय विद्यालय होते थे। उनका संचालन अधिकांशतः समाज द्वारा दिए गए दान और भिक्षा से होता था। गुरुकुल घनी बस्तियों से दूर शांत-एकान्तिक स्थानों पर होते थे जिससे वहाँ किसी बाहरी उपद्रवों और हस्तक्षेप के बिना शिक्षा के कार्यकलाप चलते रहें। गुरुकुल में प्रवेश के समय शिष्य का 'उपनयन' संस्कार होता था। वहाँ उसका जीवन अत्यंत अनुशासित, सरल और आडम्बररहित होता था। उससे आशा की जाती थी कि वह सूर्योदय के पहले (ब्रह्म मुहूर्त में) उठे, स्नान करे, स्वच्छ वस्त्र पहने और अध्ययन/कार्य प्रारंभ करने से पहले प्रातः कालीन प्रार्थना करे। समुदाय से भिक्षा के रूप में जो मिलता, वही उसका मुख्य भोजन होता था। वेदों का अध्ययन पाठ्यचर्या का सबसे महत्वपूर्ण अंग होता था। शिष्यों को सिखाया जाता था कि संध्या-वंदन और धार्मिक तथा सामाजिक कर्तव्यों को किस प्रकार विधिपूर्वक पूरा करना है। आयु, पद और जाति के अनुसार उसे शारीरिक कार्य भी सिखाए जाते थे। इन सब के अतिरिक्त शिष्य से गुरु और उसके परिवार की व्यक्तिगत सेवा की भी आशा की जाती थी, यथा—वन से लकड़ी लाना, भिक्षावृति कर अनाज लाना, पशुओं को चराना और गुरुकुल को स्वच्छ रखना। इस प्रकार गुरुकुल का जीवन और कार्यकलाप ऐसे होते थे जिनसे शिष्य के व्यक्तित्व के सुसंगत विकास में सहायता मिलती थी। ब्राह्मणकालीन भारत में अध्यापन-अधिगम का कार्य अधिकतर मौखिक होता था। गुरु वैदिक ऋचाओं का गान किया करते थे जिन्हें शिष्य ध्यानपूर्वक सुनकर कंठस्थ कर लेते थे। जब शिष्य इन ऋचाओं को दुहराते थे तो गुरु उनके उच्चारण-पाठ आदि पर विशेष ध्यान देते थे। उस समय अध्यापन-अधिगम की एक और अन्य विधि प्रचलित थी जिसे प्रश्नोत्तर विधि कहा जाता था। इस विधि में कभी गुरु प्रश्न करता और शिष्यों को प्रश्नों के उत्तर देने होते और कभी गुरु शिष्यों की जिज्ञासाओं का समाधान करता। तीसरी विधि प्रदर्शन विधि थी। गुरु भिन्न-भिन्न प्रकार की धार्मिक क्रियाओं और अनुष्ठानों को स्वयं करके दिखाता था। शिष्यों की प्रगति का नित्य मूल्यांकन होता रहता था, अतः वार्षिक परीक्षा का प्रश्न ही नहीं था। शिष्य की भूलचूक पर उसे शारीरिक दंड कभी-कभार ही मिलता था। जब शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी तो गुरु कनिष्ठ शिष्यों के शिक्षण, मंत्रणा और उनके कार्यों तथा अध्ययन का निरीक्षण करने के लिए वरिष्ठ तथा कुशाग्र शिष्यों की सहायता लेने लगे। इस प्रकार इस काल

में शिक्षण की एक नई पद्धति उभर कर सामने आई जिसे आज 'मॉनिटर पद्धति' के नाम से जाना जाता है। ब्राह्मणकालीन शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण रूप था—गुरु और शिष्य के बीच अत्यंत सुखद, मधुर और स्नेहपूर्ण संबंधों का होना। गुरु और शिष्य के इस परस्पर संबंध का शिष्य के ज्ञानार्जन और उसके व्यक्तित्व के विकास पर रचनात्मक प्रभाव पड़ता था। उच्च वर्णों के परिवारों में लड़कों की शिक्षा में कोई रुकावट नहीं थी किन्तु लड़कियों की शिक्षा विशेष स्थितियों में केवल घर पर ही होती थी।

600 ई. पू. तक पूरे भारत में बौद्ध धर्म ने अपनी जड़ें जमा ली थीं। बौद्ध धर्म का विकास मठों में हुआ था जो धार्मिक और शैक्षिक माध्यमों के रूप में भी काम करते थे। प्रारंभ में मठों का उद्देश्य केवल भिक्षु और भिक्षुणियों को शिक्षा देना था किन्तु बाद में इनमें सभी जातियों और वर्णों के बच्चों के लिए शैक्षिक सुविधाओं के द्वार खोल दिए गए। बौद्ध शिक्षा पद्धलि जटिल धार्मिक नियमों से मुक्त थी और शिक्षा का माध्यम पाली (जनता की भाषा) थी। ऐसे समय में जब समाज धार्मिक रीति-रिवाजों, अनुष्ठानों और जाति-प्रथा की कठोरता में जकड़ा हुआ था, यह शिक्षा पद्धति बहुत शीघ्र लोकप्रिय हो गई। बौद्ध शिक्षा पद्धति की पाठ्यचर्या में धर्मनिरपेक्ष विषय भी सम्मिलित थे। गुरुकुलों की भाँति बौद्ध मठों में एकांगी शिक्षा व्यवस्था नहीं थी। छोटे-छोटे शिक्षा-समूह अथवा विद्यालय किसी मठ से सम्बद्ध होते थे। इस अवधि में शिक्षा एक बड़ी सीमा तक व्यवस्थित और संस्थागत हो चली थी।

ब्राह्मणकालीन शिक्षा व्यवस्था की ही भाँति मठ में प्रवेश लेते समय शिष्य का 'पब्बज्जा' संस्कार किया जाता था। इस शिक्षा व्यवस्था में शिक्षण-विधि वही थी जो ब्राह्मणकालीन शिक्षा व्यवस्था में थी। अधिक बल पढ़ने, लिखने और अंकगणित पर दिया जाता था। इस समय तक लेखन-कला विकसित हो चुकी थी, फिर भी लेखन-सामग्री की कमी के कारण वह आम उपयोग में नहीं आती थी। कुल मिलाकर, शिक्षण मौखिक होता था और पाठ को कंठस्थ करने तथा प्रश्नोत्तर विधियों पर अधिक बल दिया जाता था। इस काल में भी मॉनिटर पद्धति और शिष्यों की प्रगति का दैनिक मूल्यांकन प्रचलन में था। ब्राह्मणकालीन शिक्षा पद्धति का एक महत्वपूर्ण रूप गुरु-शिष्य के बीच मधुर संबंध था जो इस अवधि में धीरे-धीरे कम होता गया। गुरु-शिष्य के मधुर संबंध बने हुए तो थे किन्तु उनमें पहले जैसी आत्मीयता नहीं रह गई थी। इसके दो कारण थे : पहला यह कि शिक्षा मठों में दी जाती थी जहाँ बड़ी संख्या में शिक्षक और शिष्य एक साथ रहकर समवेत शैक्षिक जीवन बिताते थे और दूसरा यह कि इस काल के अंतिम चरण में मठों में भक्तों से दान में मिली विपुल धन-सम्पत्ति मठों में संचित होने लगी थी जिसके कारण भिक्षुओं का दृष्टिकोण अधिक भौतिकवादी हो गया था। परिणामतः इस व्यवसाय में अवांछनीय व्यक्तियों का प्रवेश बढ़ गया जिससे शिष्य-शिक्षक के संबंधों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने लगा। किन्तु शिक्षा इस काल में भी निःशुल्क ही रही।

सारांश

1. प्राचीन भारत में गुरु अपने घर अथवा आश्रम में शिक्षा देते थे जिसे गुरुकुल कहते थे।
2. शिष्य के गुरुकुल में प्रवेश के समय उसका उपनयन किया जाता था।

3. गुरुकुल में जीवन सरल और अनुशासित था।
4. शिक्षा मुख्यतः धार्मिक होती थी किन्तु शिक्षा में सांसारिक जीवन के व्यावहारिक उत्तरदायित्वों की उपेक्षा नहीं की जाती थी।
5. शिक्षण मौखिक होता था जिसमें पाठ को कंठस्थ करने पर अधिक बल दिया जाता था। शिष्य की प्रगति का नित्य मूल्यांकन किया जाता था।
6. प्राचीन शिक्षा व्यवस्था में भी मॉनिटर-पद्धति का प्रचलन था।
7. गुरु-शिष्य संबंध परस्पर स्नेह, आदर और सम्मान की भावना पर आधारित थे।
8. शिक्षा निःशुल्क थी और इसका द्वार सभी बच्चों के लिए खुला था। किन्तु परवर्ती काल में छोटी जाति के बच्चों की शिक्षा की अवहेलना होने लगी।
9. लड़कियों की शिक्षा के लिए कोई नियमित व्यवस्था नहीं थी।
10. बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ बौद्ध शिक्षा भी लोकप्रिय हो गई। मठों में धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष—दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती थी।
11. ब्राह्मण और बौद्धकालीन शिक्षा पद्धति में शिक्षक की योग्यता, प्रवेश संस्कार, प्राथमिक स्तर की पाठ्यचर्या, शिक्षण-विधि और शिष्य-शिक्षक संबंध जैसे अनेक रूप समान थे।
12. ब्राह्मण और बौद्धकालीन शिक्षा व्यवस्थाओं में प्रमुख अंतर निम्नलिखित थे:
    (क) गुरुकुल की तुलना में मठ अधिक व्यवस्थित शिक्षा संस्था थे जिनमें शिक्षकों और शिष्यों के निवास आदि की अधिक सुविधाएँ थीं।
    (ख) बौद्ध शिक्षा का द्वार सभी जाति के बच्चों के लिए खुला था।
    (ग) शिक्षा का माध्यम पाली थी जो जन-साधरण की भाषा थी।

विचिंतन प्रश्न

1. गुरुकुलों के कौन-से रूप प्रभावी शिक्षा के अनुकूल थे? गुरु का इतना सम्मान क्यों किया जाता था?
2. "प्राचीन भारत में शिक्षा का लक्ष्य व्यक्तित्व का सुसंगत विकास था।" इस कथन की सत्यता पर प्रकाश डालिए।
3. प्राचीन शिक्षा के उन रूपों और प्रथाओं का उल्लेख कीजिए जो आज भी उपयोगी हो सकती हैं।
4. बौद्ध शिक्षा व्यवस्था की लोकप्रियता के क्या कारण थे? बाद में उसकी लोकप्रियता में गिरावट के क्या कारण रहे?
5. बौद्ध और ब्राह्मणकालीन शिक्षा व्यवस्थाओं में क्या-क्या समानताएँ थीं?
6. बौद्ध शिक्षा व्यवस्था का और अधिक अध्ययन करके इस बात का पता लगाइए कि क्या उसकी किसी शिक्षा प्रथा की आज भी उपयोगिता है?

इकाई 5.2 मध्यकालीन भारत में प्रारंभिक शिक्षा

बारहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक मुसलमानों ने भारत के अधिकांश भाग पर राज किया। मुसलमानी राज में प्रारंभिक शिक्षा सामान्यतः मस्जिदों से जुड़े मक्तबों में दी जाती थी। मस्जिदें पूरे भारत में फैली हुई थीं, अतः जनता को प्रारंभिक शिक्षा सरलता से सुलभ थी। प्रारंभ में केवल मुसलमान बच्चों को ही मक्तबों में दाखिल किया जाता था पर बाद में हिन्दू बच्चे भी इनमें प्रवेश पाने लगे। मध्यकालीन भारत में अधिकांश मक्तब गैर-आवासीय दिन में चलने वाले विद्यालय थे और उन पर एक शिक्षक का नियंत्रण होता था। जिन्हें 'मौलवी' कहा जाता था। ये विद्यालय राज्य और सम्पन्न लोगों—दोनों के ही द्वारा स्थापित किए गए थे।

'मक्तब' में शिष्य का प्रवेश धूम-धाम के साथ 'बिस्मिल्लाह' से होता था। शैक्षिक कार्यक्रमों और प्रथाओं में धार्मिक लक्ष्य की ही प्रधानता रहती थी। हर मक्तब में प्रारम्भिक स्तर की शिक्षा अपने-अपने ढंग से दी जाती थी पर बच्चों को सामान्यतः पढ़ना, लिखना और प्रारंभिक अंकगणित के साथ-साथ कुरान का भी अध्ययन कराया जाता था। उस समय की विद्यालय–पाठ्यचर्या में कुछ खेल-कूद भी सम्मिलित थे। मध्य काल में भी प्राचीन काल से चली आ रही उसी अध्यापन-अधिगम विधि का ही प्रचलन रहा। मॉनिटर पद्धति भी बनी रही। पाठ को रटने पर भी बल रहा किन्तु लेखन कला पर भी ध्यान दिया जाने लगा। बच्चों को लकड़ी की तख्तियों पर अक्षर और अंक लिखने के लिए प्रोत्साहित किया गया। सुलेख पर अधिक महत्व दिया जाता था।

मध्यकालीन भारत में शिक्षकों को समाज में उच्च सम्मान प्राप्त था। उनके विस्तृत ज्ञान और उदात्त चरित्र के कारण शिष्य उनका बहुत आदर करते थे। प्राचीन काल की भाँति इस काल में भी शिक्षा निःशुल्क होती थी पर लड़कियों की शिक्षा की उपेक्षा की जाती थी और उसे आवश्यक या महत्वपूर्ण नहीं माना जाता था। केवल उच्च घरानों की लड़कियों को घर पर शिक्षा दिला दी जाती थी।

सारांश

1. मध्यकालीन भारत में जब भारत के अधिकांश भाग पर मुसलमानों का राज था, इस्लामी शिक्षा का प्रचलन था।
2. प्रारंभिक शिक्षा मक्तबों में दी जाती थी।
3. मक्तब में बच्चे के प्रवेश के समय उसका 'बिस्मिल्लाह' कराया जाता था।
4. प्रारंभिक स्तर की शिक्षा की पाठ्यचर्या में कुरान का अध्ययन, पढ़ना, लिखना और प्रारंभिक अंकगणित सम्मिलित थे।
5. पढ़ाई उसी ढंग से कराई जाती थी जिस ढंग से प्राचीन काल में कराई जाती थी। किन्तु इस समय तक लेखन-कला भी विकसित हो चुकी थी।
6. सभी मुसलमानों के लिए शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य थी।
7. लड़कियों की शिक्षा की उपेक्षा की जाती थी।

विचिंतन प्रश्न

1 (क) शिक्षा-संस्था, (ख) विद्यालय मे प्रवेश, (ग) पाठ्यचर्या, (घ) शिक्षा में धर्म का स्थान, (ङ) शिक्षण-विधि और (च) लड़कियो की शिक्षा के विशेष संदर्भ मे प्राचीन और मध्यकालीन भारत मे प्रचलित प्रारंभिक शिक्षा पर एक तुलनात्मक टिप्पणी लिखिए।

इकाई 5.3 स्वतंत्रता-पूर्व आधुनिक भारत में प्रारंभिक शिक्षा

पहला चरण (1813 से पूर्व)

सोलहवीं शताब्दी के आस-पास यूरोप से पुर्तगाली, डेन, डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज व्यापारी व्यापार करने के विचार से भारत आने लगे थे। बाद में उनकी आकांक्षाएँ व्यापारिक न रहकर राजनैतिक हो गई। अतः उन सभी ने भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने का प्रयास किया किन्तु अत मे अंग्रेज ही अपने प्रयास में सफल हो पाए। उनके शासन-काल में धीरे-धीरे औपचारिक शिक्षा व्यवस्था लागू की गई।

पद्रहवीं शताब्दी के अंत में अंग्रेज व्यापारियों के बाद आने वाले ब्रिटिश धर्म प्रचारक शिक्षा के माध्यम से भारत में ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए धर्मार्थ मिशन विद्यालय चलाने लगे। इन विद्यालयों से शिक्षा की एक नई पद्धति का श्रीगणेश हुआ जो पुरानी देशी शिक्षा व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न थी।

उन्होंने अनेक प्रारम्भिक मिशन विद्यालय खोले। उनमें सप्ताह में छह दिन नियमित पढ़ाई होती थी और क्रमिक कक्षाएँ चलती थीं। इन विद्यालयों मे पढना, लिखना तथा अंकगणित सिखाया जाता था और साथ ही ईसाई धर्म की शिक्षा भी दी जाती थी। शिक्षा का माध्यम उन्होंने भारतीय भाषाओं को बनाया, यद्यपि एक पृथक विषय के रूप में अंग्रेजी भी पढ़ाई जाती थी। ये विद्यालय दान और चंदे पर चलते थे।

इस काल के प्रारंभ में ईस्ट इंडिया कंपनी के निदेशकों की नीति इन प्रारंभिक मिशन विद्यालयों की शिक्षा से तटस्थ रहने और उसमें हस्तक्षेप न करने की रही।

दूसरा चरण (1813-1835)

1813 में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक अधिनियम पारित किया जिसके अंतर्गत भारतीयों को शिक्षा देने का दायित्व पहली बार ईस्ट इंडिया कंपनी पर डाला गया। कंपनी को शिक्षा, साहित्य और विज्ञान के प्रोत्साहन के लिए प्रति वर्ष एक लाख रुपया निर्धारित करने को कहा गया। अधिनियम की यह धारा अस्पष्ट थी क्योंकि इसमें यह स्पष्ट उल्लेख नहीं था कि उक्त धन राशि का उपयोग किस प्रकार किया जाए। इससे शिक्षा के लक्ष्यों और उद्देश्यों, शिक्षा-नीति (वह आम जनता के लिए हो अथवा विशेष वर्गों के लिए), शिक्षण की विषय-वस्तु (प्राच्य या अंग्रेजी शिक्षा), पढ़ाई का माध्यम (अंग्रेजी/भारतीय भाषाएँ/प्राच्य भाषाएँ) और शिक्षा का दायित्व लेने वाली संस्था (राज्य अथवा अन्य कोई संस्था) जैसे अनेक विषयों पर विवाद खड़ा हो गया।

इन्हीं कारणों से 1813 से 1835 तक की अवधि को विवाद की अवधि कहा गया है। इन विवादों का आंशिक समाधान 1835 के मैकॉले के विवरण पत्र द्वारा किया गया। इस विवरण-पत्र का लक्ष्य नागरिकों का एक ऐसा वर्ग तैयार करना था जो रक्त और वर्ण से भारतीय हो किन्तु रुचि, विचारों और बुद्धि से अंग्रेज हो। सरकारी रूप से

यह घोषणा की गई कि भारतीयों में अंग्रेजी के माध्यम से अंग्रेजी साहित्य और विज्ञान को बढ़ावा दिया जाएगा। इसके शीघ्र बाद 1839 में लार्ड आकलैण्ड ने अधोमुखी निस्पंदन सिद्धांत (डाउन वर्ड फिल्टरेशन थियोरी) की स्वीकृति दे दी। इस सिद्धांत के अनुसार कम्पनी का कार्य अंग्रेजी के माध्यम से उच्च वर्ग को शिक्षा देने का था और शिक्षा वहां से छन-छनकर जन साधारण तक पहुँचती थी। इस प्रकार लार्ड मैकॉले के अधोमुखी निस्पंदन सिद्धांत ने सम्पूर्ण शिक्षा योजना में प्रारम्भिक शिक्षा के क्षेत्र को उपेक्षित बना दिया।

तीसरा चरण (1854-1920)

तीसरे चरण को अखिल भारतीय शिक्षा नीति का चरण कहा जा सकता है। उसका प्रारंभ सर चार्ल्स वुड के 1854 के घोषणापत्र से हुआ और 1919 में भारत सरकार अधिनियम पारित होने के साथ उसका समापन हुआ। घोषणापत्र में कहा गया कि अभी तक प्रारंभिक शिक्षा के प्रसार की उपेक्षा करने का दायित्व कम्पनी का है।

इस बात को ध्यान में रखकर कि भारत जैसे विशाल देश की जनता की शिक्षा का पूरा भार सरकार के लिए अकेले उठाना संभव नहीं है, घोषणापत्र में इस शर्त के साथ गैर-सरकारी प्रारंभिक विद्यालयों को सहायता अनुदान देने की सिफारिश की गई कि जनता को शिक्षा-शुल्क के अतिरिक्त विद्यालय के रख रखाव के लिए भी कुछ चंदा देना चाहिए। शिक्षकों के वेतन में वृद्धि, छात्रवृत्ति, भवन-निर्माण आदि जैसे कुछ विशिष्ट कार्यों के लिएं अनुदान देने की सिफारिश की गई। सहायता केवल उन्हीं विद्यालयों को दी जाती थी जो धर्मनिरपेक्ष शिक्षा दें और जिनका स्थानीय प्रबंध ठीक हो। प्रत्येक प्रांत में शिक्षा की प्रगति पर गौर करने के लिए एक शिक्षा विभाग स्थापित करने की एक अन्य सिफारिश की गई। शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण विद्यालय खोलने की भी सिफारिश की गई। यह वास्तव में खेद का विषय रहा कि घोषणापत्र में की गई सिफारिशों के बावजूद सरकार ने इस नीति पर कभी गंभीरता से अमल नहीं किया और बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा उपेक्षित बनी रही।

प्रथम स्वाधीनता सग्राम (1857) के बाद कंपनी का शासन समाप्त हो गया और भारतीय प्रशासन ब्रिटिश सरकार के हाथों में आ गया। भारत के प्रथम राज्य सचिव लॉर्ड स्टैनले ने वुड के घोषणापत्र के फलस्वरूप हुए शैक्षिक विकास की जाँच के लिए 1859 में एक अन्य घोषणापत्र जारी किया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि 1854 के पहले प्रारंभिक शिक्षा के विकास के लिए बहुत ही कम काम किया गया। वुड के घोषणापत्र की सिफारिशों पर प्रारंभ किए गए सहायता अनुदान के अच्छे परिणाम नहीं निकले। एक तो अनुदान के रूप में स्वीकृत राशि बहुत कम होती थी और दूसरे, इस राशि का भुगतान समय पर नहीं होता था। तीसरे, देशी विद्यालयों की अवहेलना कर मिशन के विद्यालयों को अधिक सहायतानुदान दिया जाता था। अतः उन्होंने सुझाव दिया कि सरकार स्वयं प्रारंभिक विद्यालय खोले तथा चलाए और उनके रख-रखाव के लिए स्थानीय शिक्षा-शुल्क लगाए। फिर भी 1855-1881 की अवधि में प्रारंभिक शिक्षा की प्रगति बहुत धीमी रही।

वुड के घोषणापत्र की सिफारिशों के संदर्भ में शिक्षा की प्रगति की समीक्षा के लिए 1882 में विलियम हण्टर की अध्यक्षता में भारतीय शिक्षा आयोग की नियुक्ति की गई। अपने निरीक्षण के आधार पर आयोग को शिक्षा के प्रसार और सुधार के लिए उपाय सुझाने थे। प्रारंभिक शिक्षा के भिन्न-भिन्न पक्षों के संबंध में आयोग ने निम्नलिखित सिफारिशें कीं:

1. मातृभाषा में दी जाने वाली प्रारंभिक शिक्षा

को जन-जीवन से घनिष्ठ रूप से संबंधित समझा जाना चाहिए न कि उसे विश्वविद्यालयी शिक्षा तक पहुँचने की एक सीढ़ी माना जाए। प्रारंभिक शिक्षा पिछड़ी जनजातियों और आदिवासियों को भी दी जानी चाहिए।

2. प्रारंभिक शिक्षा का नियंत्रण सरकार से जिला परिषदों और नगरपालिकाओं को हस्तांतरित कर दिया जाना चाहिए।

3. प्रत्येक प्रांत को अपनी व्यावहारिक आवश्यकताओं के अनुसार अपनी पाठ्यचर्या निर्धारित करने, अपनी पसंद की पाठ्य-पुस्तकों का चयन करने और व्यावहारिक उपयोगिता वाले विषय पढ़ाने की पूरी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए।

4. प्रारंभिक शिक्षा के स्तर को ऊपर उठाने की दृष्टि से उसके शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए और अधिक नार्मल स्कूल खोले जाने चाहिएं।

5. जिला परिषदों और नगरपालिकाओं के पास प्रारंभिक शिक्षा के लिए अलग-निधि रहनी चाहिए। उसमें सरकारी अनुदान का भी योग रहना चाहिए।

6. देशी विद्यालयों के संबंध में आयोग ने सिफारिश की है कि ऐसे विद्यालय सभी वर्गो और जातियों के बच्चों के लिए खुलने चाहिएं। स्थानीय परिषदों को इन्हें शैक्षिक मान्यता प्रदान करनी चाहिए। इन सभी विद्यालयों को उनके परिणामों के आधार पर धन-राशि देने की व्यवस्था अपनाई जानी चाहिए। उनकी पाठ्यचर्या में तत्काल कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

शिक्षा आयोग ने काफी महत्वपूर्ण सिफारिशें की थीं किन्तु प्रारंभिक शिक्षा को स्थानीय परिषदों के नियंत्रण में देने का निर्णय ठीक नहीं था क्योंकि नई-नई स्थापित ये परिषदें न तो वित्तीय दृष्टि से सक्षम थीं और न इस दायित्व को अपने कंधे पर लेने के लिए ठीक से साधन-सम्पन्न थीं। प्रांतीय सरकार का अनुदान भी इतना नहीं था कि स्थानीय परिषदों के विकास में सहायता कर सके।

स्थानीय परिषदों के मान्यता प्रदान करने के कठोर नियमों के कारण देशी विद्यालयों की भी उपेक्षा हुई। परिणाम यह हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी के समाप्त होते-होते भारतीय शिक्षा-पटल से वे भी तिरोहित हो गए।

लार्ड कर्ज़न ने 1904 में एक सरकारी प्रस्ताव के रूप में अपनी शिक्षा नीति प्रकाशित की जिसमें कहा गया था कि अभी तक प्रारंभिक शिक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान न दिये जाने और उसके लिए पर्याप्त राशि नियत न किए जाने के फलस्वरूप पांच गाँवों में से चार में कोई विद्यालय नहीं है, पाँच लड़कों में से तीन को शिक्षा सुलभ नहीं होती और चालीस लड़कियों में से केवल एक लड़की ही किसी विद्यालय में जाती है। नीति में इस बात पर भी बल दिया गया कि प्रारंभिक शिक्षा का तेज़ी से प्रसार करने का प्रमुख दायित्व सरकार का है। अतः यह सिफारिश की गई कि प्रारंभिक विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम बच्चे की मातृभाषा होनी चाहिए। जब तक बच्चा तेरह वर्ष का नहीं हो जाता तब तक उसे अंग्रेजी नहीं पढ़ाई जानी चाहिए। प्रारंभिक शिक्षा में सुधार लाने के लिए निम्नलिखित युक्तियाँ अपनाई गई:

1. स्थानीय परिषदों को निर्देश दिया गया कि शिक्षा के लिए नियत राशि केवल प्रारंभिक शिक्षा पर ही खर्च की जाए। गैर-सरकारी विद्यालयों को शिक्षकों की संख्या, शिक्षक वर्ग की योग्यता, छात्रों की संख्या और पढ़ाए जाने वाले विषयों आदि के आधार पर अनुदान दिया जाने लगा।

2. प्रारंभिक विद्यालयों में शिक्षा के तीन मूल तत्व अर्थात् पढ़ना, लिखना और अंकगणित ही पढ़ाए जाते थे। अब सभी छात्रों के लिए

शारीरिक व्यायाम अनिवार्य कर दिया गया और कृषि को भी अध्ययन का एक विषय बना दिया गया। गांवों के विद्यालयों और शहरों के विद्यालयों की पाठ्यचर्या में अंतर रखा गया। लॉर्ड कर्ज़न की शिक्षा नीति का प्रभाव यह हुआ कि प्रारंभिक शिक्षा में स्पष्ट वृद्धि दिखाई देने लगी। 1902 में सरकारी अनुदान 40 लाख रुपए का था जिसे बढ़ाकर 1905 में 75 लाख रुपए कर दिया गया। फलस्वरूप 1902 से 1912 तक प्रारंभिक विद्यालयों की संख्या दुगनी हो गई। लॉर्ड कर्ज़न की नेकनीयती के बावजूद शिक्षा पर राज्य के नियंत्रण की उसकी नीति की जनता ने निन्दा की।

स्वदेशी आंदोलन (राष्ट्रीय आंदोलन) से पैदा हुई राजनैतिक चेतना ने हमारे राष्ट्र के नेताओं का ध्यान साक्षरता दर में कमी की ओर आकर्षित किया। भारत में ब्रिटिश शासन के 150 वर्ष बाद भी केवल छह प्रतिशत लोग ही साक्षर हो पाए थे। इन परिस्थितियों में भारतीय धारा सभा (इंडियन लेजिस्लेटिव काउंसिल) के सदस्य के रूप में श्री गोपल कृष्ण गोखले ने 1911 में ऐतिहासिक महत्व का एक गैर-सरकारी विधेयक प्रस्तुत किया जिसमें देश में प्रारंभिक शिक्षा नि:शुल्क और अनिवार्य करने की बात कही गई थी। यद्यपि सरकार ने इस विधेयक को अस्वीकार कर दिया तथापि अधिकांश शिक्षित भारतीय जनता प्रारंभिक शिक्षा के महत्व को समझने लगीं। देश में राजनैतिक असंतोष के फलस्वरूप सरकार ने 1913 में प्रकाशित एक प्रस्ताव में अपनी शिक्षा नीति की घोषणा की। उसमें निम्नलिखित सिफारिशें की गई थीं :

1. निम्न और उच्च प्राथमिक विद्यालयों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि होनी चाहिए और ये विद्यालय साफ सुथरे और खुले स्थानों में कम लागत के भवनों में होने चाहिए।

2. सहायता-प्राप्त गैर-सरकारी विद्यालयों को स्थानीय परिषदों द्वारा संचालित विद्यालयों में बदल देना चाहिए। जहाँ ऐसा करना संभव न हो वहाँ गैर-सरकारी विद्यालयों को अपने प्रबंध और निरीक्षण व्यवस्था को सुचारु रूप से प्रभावी करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

3. 'मक्तबों' और 'पाठशालाओं' को उदारता से अनुदान मिलना चाहिए।

4. गाँवों और शहरों के विद्यालयों के लिए अलग–अलग पाठ्चर्या बनाना व्यावहारिक नहीं है। फिर भी, भूगोल के शिक्षण की पर्याप्त गुंजाइश है। शहरी विद्यालयों में भ्रमण के कार्यक्रम लोकप्रिय रहेंगे।

5. शिक्षकों को मिडिल वर्नाक्युलर परीक्षा पास कर लेनी चाहिए और उन्हें एक वर्ष का प्रशिक्षण लेना चाहिए। शिक्षकों के लिए अध्ययन के उन्नत पाठ्यक्रमों की व्यवस्था होनी चाहिए।

6. मिडिल स्कूलों में सुधार होना चाहिए और उनकी संख्या बढ़ाई जानी चाहिए।

7. हर कक्षा में छात्रों की संख्या 30 से 40 के बीच होनी चाहिए।

8. प्रशिक्षित शिक्षकों का वेतन 12 रुपए प्रति मास से कम नहीं होना चाहिए। उनके लिए पैंशन और भविष्य-निधि की व्यवस्था होनी चाहिए।

प्रारंभिक शिक्षा में परिमाणात्मक और गुणात्मक सुधार लाने के लिए की गई ये सिफारिशें यद्यपि ठीक थीं फिर भी सीमित साधनों के कारण आशानुकूल परिणाम प्राप्त नहीं हो पाए।

चौथा चरण (1921-1947)

शिक्षा का चौथा चरण 1919 के भारत सरकार अधिनियम में प्रस्तावित नए संवैधानिक सुधारों के

1921 में लागू होने के बाद प्रारंभ हुआ। अधिनियम के अधीन शिक्षा का पूरा नियंत्रण और दायित्व भारत सरकार से लेकर प्रांतीय सरकारों को सौप दिया गया। 1921-37 के दौरान भारत के शिक्षा मंत्रियों ने प्रारंभिक शिक्षा में सुधार लाने में गहरी अभिरुचि दिखलाई। शिक्षा की समस्याओं पर विचार के लिए विभिन्न समितियां बनाई गईं किन्तु धन की कमी, बढ़ती जनसंख्या, राजनैतिक अशांति और विश्व युद्ध के प्रभावों के कारण उल्लेखनीय सफलता नहीं मिल पाई।

भारत में शिक्षा के सभी रूपों की जाँच-पड़ताल करने के लिए 1927 में गठित की गई हार्टोग समिति ने 1929 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। समिति के विचार से प्रारंभिक शिक्षा को केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण से हटाकर स्थानीय निकायों के नियंत्रण में दिया जाना उचित नहीं था। उसने इस बात की ओर भी ध्यान आकर्षित किया कि गरीबी, अनुपयुक्त पाठ्यचर्या, नीरस विद्यालयी कार्यक्रम, कृषि के धधों में बच्चों का बहुत छोटी आयु से लग जाना आदि ऐसे कारण थे जिनसे प्रारंभिक शिक्षा में अपव्यय और अवरोधन आ गए है। अतः समिति ने सुधार के लिए निम्नलिखित उपाय सुझाए :

1. शिक्षा के प्रसार की नहीं बल्कि उसे ठोस बनाने की नीति अपनाई जानी चाहिए। जो विद्यालय ठीक से न चल रहें हों उन्हें बंद कर दिया जाए और कुशलता से चलने वाले विद्यालयों को प्रोत्साहित किया जाए।

2. प्राथमिक शिक्षा चार वर्षों की अवधि की होनी चाहिए। इसकी पाठ्यचर्या ग्रमीण जीवन से सम्बद्ध होनी चाहिए जिससे बच्चों को सीखने में सुविधा हो।

3. विद्यालय में पढ़ाई के घंटों और अवकाश का निश्चय स्थानीय आवश्यकताओं और जलवायु को ध्यान में रखकर करना चाहिए।

4. प्रारंभिक विद्यालयों में सबसे छोटी कक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिए और अपव्यय तथा प्रगति-अवरोधन को कम करने के लिए ठोस उपाय करने चाहिएं।

5. प्रारंभिक शिक्षा में सुधार लाने का प्रमुख दायित्व सरकार का है। उसे स्थानीय निकायों पर पूर्णरूपेण नहीं छोड़ देना चाहिए।

6. प्रारंभिक विद्यालय के शिक्षकों के शिक्षा-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए सेवाकालीन प्रशिक्षण, नवीकरण पाठ्यक्रम आदि की व्यवस्था की जानी चाहिए। अध्यापकों के वेतन में वृद्धि होनी चाहिए और सेवा की शर्तों में सुधार होना चाहिए।

7. प्रारंभिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए जल्दबाज़ी में कोई कदम नहीं उठाना चाहिए।

इस प्रतिवेदन का सरकारी क्षेत्रों में हार्दिक स्वागत किया गया किन्तु राष्ट्र के नेताओ और भारतीय जनता को उससे संतोष नहीं हुआ। उनका मत था कि शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाने के बहाने जन-शिक्षा के प्रसार को रोकने की यह एक राजनैतिक चाल है।

1935 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा प्रातों को पूर्ण स्वायत्तता मिल जाने पर प्रान्तीय शिक्षा मंत्रियों के हाथ मज़बूत हो गए। 1937 और 1940 के बीच ग्यारह प्रांतों में से सात प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने। उन्होंने प्रारंभिक शिक्षा में सुधार के लिए अनेक योजनाएँ चलाई। स्थानीय निकायों के लिए अतिरिक्त धन स्वीकृत किया गया। प्रारंभिक कन्या विद्यालय खोले गए। अधिक अध्यापकों की नियुक्ति और उनके वेतन में वृद्धि की गई।

1937 में वर्धा में महात्मा गांधी की अध्यक्षता में एक अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन आयोजित किया गया। वहाँ उन्होंने बुनियादी शिक्षा की

योजना पर प्रकाश डाला जिसे आमतौर से वर्धा योजना कहा जाता था। उन्होंने आत्म-निर्भरता पर बल दिया। वे चाहते थे कि प्रारंभिक विद्यालयों में कुछ शिल्पों (क्राफ्ट्स) को सिखाया जाए और तैयार किए गए माल से होनेवाली आय का उपयोग विद्यालय के रख-रखाव में किया जाए। वर्धा योजना की रिपोर्ट 1937 में ज़ाकिर हुसैन समिति ने तैयार की । इस समिति ने निम्नलिखित सिफारिशें कीः

1. सात वर्षों तक अर्थात् 7 से 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य बुनियादी शिक्षा मिलनी चाहिए।
2. संपूर्ण शिक्षा किसी बुनियादी शिल्प पर केन्द्रित होनी चाहिए। शिल्प का चुनाव बच्चों की आवश्यकताओं, अभिरूचियों और पर्यावरण के अनुसार किया जाना चाहिए।
3. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए।
4. छात्रों द्वारा तैयार किए गए माल से होनेवाली आय का उपयोग विद्यालय के व्ययों की पूर्ति में किया जा सकता है।
5. चुने हुए शिल्पों को इस तरह सिखाया जाए कि इन्हें सीख लेने के बाद छात्र अपने पैरों पर खड़े होने योग्य हो सकें और साथ ही समाज में उसकी महत्ता को समझ सकें।
6. पढ़ाई का बच्चो के जीवन से घनिष्ठ संबंध हो।
7. शारीरिक कार्य पर बल दिया जाना चाहिए।
8. पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषय होने चाहिएँ:
(क) बुनियादी शिल्प (ख) मातृभाषा (ग) गणित (घ) समाज शास्त्र (ङ) सामान्य विज्ञान (च) कला कार्य (छ) संगीत और (ज) हिन्दुस्तानी । पाँचवी कक्षा तक लड़के और लड़कियों – दोनों के लिए समान पाठ्यक्रम होना चाहिए। इसके बाद मिडिल कक्षाओं में लडकियों के पाठ्यक्रम में बुनियादी शिल्प के स्थान पर गृहविज्ञान होना चाहिए।
9. पाठ्यक्रम में धर्म का कोई स्थान नहीं होना चाहिए।
10. पाठ्यपुस्तकों और बाहरी परीक्षा का प्रयोग कम होना चाहिए।

संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तरप्रदेश) मध्यप्रांत (वर्तमान मध्यप्रदेश) बिहार, उड़ीसा और बंबई में नए बुनियादी विद्यालय खोलकर अथवा विद्यमान प्रारंभिक विद्यालयों को बुनियादी विद्यालयों में बदलकर बुनियादी शिक्षा योजना का परीक्षण किया गया। इस योजना को लागू करने की दृष्टि से शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के लिए बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय खोले गए। 1939 में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों द्वारा त्यागपत्र दे दिए जाने से यह योजना अधूरी ही रह गई।

बुनियादी शिक्षा योजना पर अपने विचार व्यक्त करने के लिए 1938 और 1940 में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने बी.जी.खेर की अध्यक्षता में दो समितियाँ नियुक्त कीं। इन समितियों ने योजना का समर्थन किया और निम्नलिखित सिफारिशें प्रस्तुत की :

1. बुनियादी शिक्षा योजना ग्रामीण क्षेत्रों में लागू की जानी चाहिए।
2. शिक्षा के लिए आयु-सीमा 6 वर्ष से 14 वर्ष तक हो किन्तु पाँच वर्ष की आयु के बच्चों को भी बुनियादी विद्यालयों में दाखिल किया जा सकता है।
3. यदि छात्र बुनियादी विद्यालय छोड़कर अन्य प्रकार के विद्यालय में शिक्षा लेना चाहे तो पाँचवी कक्षा के बाद उसे उसकी अनुमति होनी चाहिए।
4. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए।
5. बाहरी परीक्षा के स्थान पर आंतरिक परीक्षा होनी चाहिए और सफल छात्रों को पाठ्यक्रम

की समाप्ति पर प्रमाण पत्र दिए जाने चाहिएं।

केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने खेर समिति की अधिकांश सिफारिशें स्वीकार कर लीं और सार्जेण्ट रिपोर्ट में उन्हें व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया।

दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् भारत सरकार के शिक्षा परामर्शदाता सर जॉन सार्जेण्ट से भारत में युद्धोत्तर शिक्षा विकास योजना तैयार करने के लिए कहा गया। उन्होंने प्रारंभिक शिक्षा के संबंध में निम्नलिखित सिफारिशें कीं:

1. 6 से 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य प्रारंभिक अथवा बुनियादी शिक्षा दो चरणों में– अवर (जूनियर) बुनियादी (6-11) और प्रवर (सीनियर) बुनियादी (11-14) बाँटकर दी जाए । प्रथम प्रकार की शिक्षा सभी बच्चों के लिए अनिवार्य रहे और दूसरी प्रकार की शिक्षा केवल उन बच्चों के लिए हो जो हाई स्कूल की शिक्षा प्राप्त करना चाहते हों।
2. शिक्षा सामान्य ढंग की होनी चाहिए। केवल पठन, लेखन और अंकगणित की पढ़ाई नागरिकता के प्रशिक्षण के लिए पर्याप्त नहीं हो सकती। पाठ्यचर्या में खेलकूद और शारीरिक व्यायाम की भी व्यवस्था होनी चाहिए।
3. अवर और प्रवर बुनियादी विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए। प्रवर बुनियादी विद्यालयों में शिक्षा-विभाग की अनुमति लेकर ही अंग्रेजी पढ़ाई जा सकती है।
4. सिखाए जाने वाले बुनियादी शिल्प स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार होने चाहिए।
5. शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए उपस्थिति अधिकारियों की नियुक्ति की जानी चाहिए।
6. बाहरी परीक्षा के स्थान पर आंतरिक परीक्षाएँ होनी चाहिएं।
7. शिक्षकों के प्रशिक्षण के स्तर और सेवा-शर्तों में सुधार होना चाहिए।

यह बहुत उत्साहजनक बात है कि सार्जेण्ट रिपोर्ट में शिक्षा-संबंधी प्रत्येक समस्या का निदान और उसका स्पष्ट समाधान किया गया। सरकार ने भी इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया किन्तु उन्हें लागु किया जा सके, इससे पहले ही 1947 में हमारा देश स्वतंत्र हो गया और तब स्वतंत्र भारत के बच्चों के लिए नई शिक्षा योजनाएँ बनाई जाने लगीं।

सारांश

1. अंग्रेजी मिशनरियों ने इसाई धर्म के प्रसार के लिए मिशन विद्यालय खोले। ये विद्यालय पुराने देशी विद्यालयों से भिन्न थे।
2. 1813 का शासनादेश ईस्ट इंडिया कंपनी के शिक्षा-कार्यकलापों और दायित्वों का आरंभ था। 1813 और 1835 के बीच की अवधि शिक्षा के लक्ष्यों और उद्देश्यों से संबंधित विवादों की अवधि थी।
3. 1835 के मैकॉले के विवरण-पत्र से पहले के विवाद आंशिक रूप से हल हुए और घोषणा की गई कि भारतीयों को अंग्रेजी के माध्यम से अंग्रेजी साहित्य और विज्ञान की शिक्षा दी जाए।
4. अधोमुखी निस्पंदन सिद्धांत (1939) ने उच्च वर्ग के लोगों को उच्च शिक्षा देने में धन और प्रयास लगाने की सिफारिश की थी। इससे प्रारंभिक शिक्षा की उपेक्षा हुई।

5. वुड ने अपने घोषणा पत्र में इस उपेक्षा का उल्लेख करने के साथ यह सिफारिश भी की कि प्रारंभिक शिक्षा का प्रसार किया जाए और उसमें सुधार लाया जाए।
6. 1858 में कंपनी भंग कर दी गई और भारतीय प्रशासन ब्रिटिश सरकार के नियंत्रण में आ गया। स्टैनले के घोषणापत्र (1859), हण्टर आयोग (1883) और शिक्षा नीति पर सरकारी प्रस्ताव (1904) में की गई सिफारिशों के बावजूद प्रारंभिक शिक्षा की प्रगति संतोषजनक नहीं रही। फिर भी 1912 तक प्रारंभिक विद्यालयों की संख्या में और इनमें पढ़ने वाले बच्चों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई।
7. राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए चलाए गए स्वदेशी आन्दोलन के साथ-साथ राष्ट्र-नेताओं ने प्रारंभिक शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य बनाने की भी माँग की। उनकी इस माँग को हार्टोग समिति ने अस्वीकार कर दिया क्योंकि समिति की नीति शिक्षा के प्रसार की नहीं, बल्कि उसे ठोस बनाने की थी।
8. 1921-37 के दौरान भारतीय मंत्रियों ने शिक्षा में गहरी रूचि दिखलाई फिर भी वित्तीय अभाव, बढ़ती हुई जनसंख्या, राजनैतिक असंतोष आदि के कारण प्रारंभिक शिक्षा में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई।
9. महात्मा गांधी द्वारा प्रचारित और ज़ाकिर हुसैन समिति द्वारा विस्तारित बुनियादी शिक्षा योजना (1937) कुछ प्रांतों में लागू की गई। खेर समिति ने भी इस योजना का समर्थन किया।
10. लार्ड सार्जेण्ट ने प्रारंभिक शिक्षा में सुधार लाने के लिए अनेक सिफारिशें कीं पर इन सिफारिशों को लागू किए जाने से पहले ही भारत स्वतंत्र राष्ट्र बन गया। अतः स्वतंत्र भारत में शिक्षा के क्षेत्र में विकास के लिए नए-नए सुझाव दिए गए।

विचिंतन प्रश्न

1. मिशन विद्यालय पुराने देशी विद्यालयों से किन बातों में भिन्न थे?
2. 1813 के शासनादेश से भारत में शिक्षा-संबंधी कार्यकलापों की शुरुआत किस प्रकार हुई?
3. विवादास्पद मामलों पर मैकॉले के विवरण-पत्र का क्या प्रभाव पड़ा?
4. सर चार्ल्स वुड जन-शिक्षा का प्रसार करना और उसमें सुधार लाना चाहते थे। इस संबंध में उनकी क्या सिफारिशें थीं?
5. प्रारंभिक शिक्षा के प्रसार और सुधार के संबंध में हण्टर आयोग की मुख्य-मुख्य सिफारिशें कौन-कौन सी थीं?
6. "हार्टोग समिति की रिपोर्ट के आ जाने से निःशुल्क और अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा की माँग ढीली पड़ गई।" क्या आप उपर्युक्त कथन से सहमत हैं? यदि हाँ/नहीं तो क्यों?

इकाई 5.4 स्वतंत्र भारत में प्रारंभिक शिक्षा का बदलता स्वरूप

स्वतंत्रता मिलने के साथ ही हमारे ऊपर नए उद्‌देश्य, नई माँगें और नए दायित्व आ गए। स्वतंत्रता से पूर्व देश के सामने सबसे बड़ी चुनौती व्यापक निरक्षरता की थी। इसने स्वतंत्र भारत के संविधान-निर्माताओं को सविधान में शिक्षा संबंधी निदेशक सिद्धांत सम्मिलित करने के लिए बाध्य किया जिससे कि लोकतांत्रिक सामाजिक व्यवस्था का निर्माण किया जा सके। संविधान के अनुच्छेद 45 में प्रावधान है कि 1960 तक राज्य सब बालकों को चौदह वर्ष की अवस्था तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने का प्रयास करेगा। यह इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि लोकतांत्रिक, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष समाज में प्रबुद्ध नागरिक का निर्माण करने की दृष्टि से नेताओं ने प्रारंभिक शिक्षा को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना है।

आइए, अब हम स्वतंत्र भारत में प्रारंभिक शिक्षा के बदलते स्वरूप को पहचानने का प्रयास करे। इसे निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है :

1. सभी बच्चों को शिक्षा का समान अवसर प्रदान करके और प्रारंभिक शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य बनाकर एक निश्चित अवधि में इस शिक्षा का सार्वजनिक प्रसार।

2. सार्वजनीन प्रसार के साथ-साथ प्रारंभिक शिक्षा में गुणात्मक सुधार।

3. नई शिक्षा नीति—अनौपचारिक और अंशकालिक शिक्षा।

प्रारंभिक शिक्षा के बदलते केन्द्र-बिन्दु के इन तीन पक्षों पर क्रमशः इकाई 5.4.1, 5.4.2, और 5.4.3 में विस्तार से चर्चा की गई है।

इकाई 5.4.1 प्रारंभिक शिक्षा का सार्वजनीन प्रसार

प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का अर्थ है देश के एक निश्चित आयु-वर्ग के सभी बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराना। इससे यह अर्थ निकलता है कि बच्चे चाहे धनी घर के हों या गरीब घर के, चाहे वे कितनी ही दूर की छोटी बस्ती और दुर्गम स्थानो के रहने वाले क्यों न हों, उन सभी को प्रारंभिक शिक्षा की सुविधा प्रदान की जानी चाहिए। इसका तात्पर्य शिक्षा-विकास के संबंध में स्वतत्रता-पूर्व की नीति में परिवर्तन लाना हुआ जो कुछ चुने हुए थोड़े से लोगों के लिए ही थी। अब यह बात मान ली गई है कि शिक्षा हर बच्चे का जन्म-सिद्ध अधिकार है।

जैसा इस इकाई के प्रारंभ में कहा गया है, भारत के संविधान में उल्लिखित राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांतो के अनुच्छेद 45 में सभी बच्चों को प्रारंभिक शिक्षा उपलब्ध कराने के राष्ट्रीय सकल्प का संकेत है। देश में प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का महत्व एवं अनिवार्यता भारत के संविधान के इस प्रावधान से परिलक्षित है। इस प्रावधान के अनुसार प्रारंभिक शिक्षा का सार्वजनीकरण 1960 तक पूरा हो जाना चाहिए था। इस दिशा में बहुत प्रयास किए गये परन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति अभी तक भी नहीं हो पायी। अतः समय बीतने के साथ इसका महत्व बढ़ता गया ।

प्रारंभिक शिक्षा के संवैधानिक प्रावधान को समझने के लिए इस प्रावधान में सन्निहित तीन महत्वपूर्ण तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है। प्रथम तथ्य यह है कि शिक्षा के इस चरण को कोई नाम देने के संबध में यह अनुच्छेद मौन है। उसमें केवल 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों के लिए शिक्षा का प्रावधान करने का उल्लेख है। संविधान को अपना लेने के बाद ही शिक्षा के इस चरण को प्रारंभिक शिक्षा कहा जाने लगा।

संवैधानिक प्रावधान के संबंध में दूसरा विचारणीय तथ्य यह है कि इसमें शिक्षा उपलब्ध कराने के संबंध में बच्चों की आयु की ऊपरी सीमा का ही उल्लेख है । इस बात का उल्लेख नहीं है कि किस आयु से बच्चों की शिक्षा प्रारंभ की जाए। ऐसा करने का कारण इस संबंध में अलग-अलग राज्यों का निचली आयु सीमा को अलग-अलग निश्चित करना था। कुछ राज्यो में तो बच्चे को विद्यालय में प्रवेश कराने की आयु 5 वर्ष रखी गई है तो कुछ राज्यों में 6 वर्ष। संविधान के अनुसार विद्यालय स्तर की शिक्षा राज्य का विषय है और राज्यों को उसके संबंध में अपने नियम बनाने का अधिकार है। अतः संविधान में इस बात का उल्लेख कहीं नहीं है कि किस आयु से बच्चों की शिक्षा का शुभारंभ करना चाहिए ।

संवैधानिक प्रावधान के संबंध में तीसरा विचारणीय तथ्य निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा पर बल दिया जाना है। प्रारंभिक शिक्षा का सार्वजनीकरण तभी संभव है जबकि शिक्षा पर होने वाले खर्चे का भार छात्र को न उठाना पड़े अन्यथा केवल शुल्क देने तथा पुस्तकें, लेखन सामग्री आदि खरीदने की आर्थिक स्थिति में न होने के कारण गरीब घरों के बच्चे शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाओं से वंचित रह सकते हैं। शिक्षा को निःशुल्क बनाने का तात्पर्य यह है कि बच्चों से शिक्षा शुल्क नहीं लिया जाएगा। पर केवल शुल्क की छूट दे देना ही समाज के गरीब वर्गों के बहुसंख्यक बच्चों के लिए शिक्षा की सुविधाओं का लाभ उठाने के लिए पर्याप्त नहीं है। यही कारण है कि हमारी इस स्थिति में निःशुल्क शिक्षा में यह बात भी निहित है कि समाज के गरीब वर्ग के बच्चों को पाठ्य-पुस्तकें और लेखन-सामग्री मुफ्त दी जाए और अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के बच्चों को छात्रवृत्ति भी दी जाए जिससे उनके पढ़ाई की अवधि में पारिवारिक धंधा न कर पाने के कारण माता-पिता को जो आर्थिक क्षति होती हो उसे कम किया जा सके।

सभी बच्चों को अनिवार्य शिक्षा देने की बात पर संवैधानिक प्रावधान में इसलिए बल दिया गया है क्योंकि हो सकता है निःशुल्क शिक्षा उपलब्ध होने के बावजूद अनेक माता-पिता विभिन्न कारणों से अपने बच्चों को पढ़ने के लिए विद्यालय न भेजें। उदारहरणार्थ, विशेष रूप से समाज के गरीब वर्गों के बहुसंख्यक निरक्षर माता-पिता परिवार में पढ़ने-लिखने की परंपरा न होने के कारण अपने बच्चों को शिक्षा देने की आवश्यकता को न समझ पाएँ। कुछ माता-पिता तो यहाँ तक सोचते हैं कि विद्यालय जाने से उनके बच्चे परिवार से दूर हो जाते हैं। उन पर सफेदपोश नौकरियाँ पाने की धुन सवार हो जाती है जिन्हे प्राप्त कर पाना आज बहुत कठिन हो गया है। लड़कियों की शिक्षा के बारे में यह प्रतिरोध और भी अधिक है क्योंकि ग्रामीण जनता का एक बड़ा भाग अब भी रूढ़ियों से जकड़ा हुआ है।

फिर भी यह देखा जा सकता है कि हमारे देश में प्रारंभिक शिक्षा का पर्याप्त प्रसार हुआ है। स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में शिक्षा संस्थाओं, शिक्षकों और छात्रों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई है। 1951 से 1961 तक की अवधि में प्रारंभिक शिक्षा पर दुगने से भी अधिक प्रत्यक्ष व्यय किया गया फिर भी सार्वजनीन भरती का लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सका। ऐसा होने का एक मुख्य कारण जनसंख्या में तीव्र वृद्धि रहा। इस तथ्य से आप यह देख सकते हैं कि 1980-81 में प्रारंभिक विद्यालयों में 6-11 आयु वर्ग के बच्चों की संख्या 1961 में बच्चों की कुल संख्या से भी कहीं अधिक थी। जनसंख्या में तीव्र वृद्धि से गरीबी बढ़ती है जो कम आय-वर्ग के बच्चों को बाध्य करती है कि वे विद्यालय पढ़ने न जाएँ या जो जाते भी हैं वे एक-दो साल के अंदर पढ़ाई छोड दें। यह बात समझने की

आवश्यकता है कि यह समस्या केवल शैक्षिक समस्या नहीं है बल्कि सामाजिक-आर्थिक समस्या भी है क्योंकि विद्यालयों में बच्चों की भरती न होने का एक मुख्य कारण गरीबी है। अतः यदि हमें अपने प्रयास में सफल होना है तो हमें एक ऐसी कार्यनीति अपनाने की आवश्यकता है जिसमें सामाजिक-आर्थिक कारक सहित अन्य आयामों का भी ध्यान रखा जाए। इस प्रकार 6-14 वर्ष के आयु-वर्ग के सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने के उद्देश्य की प्राप्ति में हमें अभी काफी लंबा रास्ता तय करना है।

प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के संबंध में एक अन्य महत्वपूर्ण प्रावधान अनिवार्य शिक्षा का है। इसका तात्पर्य ऐसे कानुन बनाना है, जिनके अंतर्गत माता-पिता के लिए अपने बच्चों को विद्यालय भेजना अथवा उन्हें किसी अन्य साधन से शिक्षा दिलाना अनिवार्य किया जा सके। यदि कोई बच्चा शिक्षा की सुविधाओं का लाभ नहीं उठा रहा हो तो इन कानुनों का प्रयोग करके बच्चे के माता-पिता को दंडित किया जा सके।

बच्चों के लिए अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा का विचार पहले-पहल संभवतः 1838 में उभरा। तब विलियम आदम ने सिफारिश की थी कि सरकार यह कानुन बनाकर कि हर गाँव में विद्यालय खोला जाए, प्रारंभिक शिक्षा अनिवार्य बनाने की दिशा में प्रयास कर सकती है। किन्तु इस दिशा में सबसे पहला कदम तत्कालीन बड़ौदा रियासत ने उठाया। वहाँ के प्रबुद्ध शासक स्वर्गीय महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ ने 1893 में अपनी रियासत के अमरेली तालुक में परीक्षण के रूप में अनिवार्य शिक्षा लागू की थी और इसके उत्साहजनक परिणाम प्राप्त होने पर उन्होंने 1906 में रियासत के सभी भागों में अनिवार्य शिक्षा लागू कर दी। वास्तव में इस परीक्षण ने ही स्वतंत्र भारत के हमारे नेताओं को प्रेरणा दी और उनके मन में यह विश्वास पैदा किया कि भारत मेंअनिवार्य शिक्षा का प्रावधान असंभव नहीं है बल्कि एक यथार्थ तथा व्यावहारिक प्रस्ताव है।

1902 में बंबई विधान परिषद् में बंबई शहर के लिए अनिवार्य शिक्षा लागू करने की माँग की गई। सरकार ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार 1910 और 1911 में श्री गोपाल कृष्ण गोखले द्वारा केन्द्रीय धारा सभा में किए गए प्रयासों को अस्वीकृति का सामना करना पड़ा। फिर भी इन प्रयासों ने भारतीय जनता के मन में भारी उत्साह पैदा कर दिया और 1930 में भारत के प्रायः सभी प्रांतो में, जिन्हें 1950 में भारत के संविधान में 'ए' श्रेणी के राज्य माना गया था अनिवार्य शिक्षा अधिनियम पारित हो गए। कार्यक्रमों को लागू करने में प्राप्त अनुभवों के आधार पर इन अधिनियमों में समय-समय पर उपयुक्त संशोधन किए गए। तत्कालीन भारतीय रियासतें जो बाद में संविधान के अनुसार 'बी' और 'सी' श्रेणी के राज्य बनीं, इन अधिनियमों को पारित करने में शिथिल रहीं । यद्यपि जैसा पहले कहा जा चुका है बड़ौदा रियासत ही 1893 में अनिवार्य शिक्षा अधिनियम पारित कर इस क्षेत्र में अग्रदूत रही। अब ये अधिनियम लगभग सभी राज्यों/संघीय क्षेत्रों में पारित हो गए हैं और समय-समय पर इनमें उपयुक्त संशोधन भी हुए हैं।

अनिवार्य शिक्षा अधिनियम की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैः

1. अनिवार्यता के क्षेत्र का उल्लेख। इसमें उन भौगोलिक क्षेत्रों को इंगित किया गया है जहाँ ये अधिनियम लागू किए जाने हों।
2. अनिवार्यता में आनेवाले बच्चों के आयु-वर्ग तथा लिंग का उल्लेख। इसमें अनिवार्य शिक्षा के लिए बच्चों की निचली और ऊपरी आयु

सीमा का उल्लेख किया गया है। यद्यपि अधिकांश राज्यों में निम्न आयु-सीमा 6 वर्ष है और कुछ राज्यों में 5 वर्ष, तथापि प्रायः सभी राज्यों/संघीय क्षेत्रों में ऊपरी आयु-सीमा 14 वर्ष ही है। प्रारंभिक चरण में आयु-वर्ग में पर्याप्त अंतर था क्योंकि अनिवार्यता की अवधि कम यानि 3 वर्ष रखी गई थी, जिसमें 6 से 9 वर्ष तक की आयु के बच्चे आते थे। बाद में उसे बढ़ाकर 6 से 11 वर्ष तक के बच्चों पर अथवा 6 से 14 वर्ष तक के बच्चों पर लागू किया गया। इसी प्रकार प्रारंभिक चरण में अनेक स्थानों पर अनिवार्यता केवल लड़कों के लिए थी जिसे बाद में सभी बच्चों पर जिनमें लड़कियाँ भी शामिल थी लागू कर दी गई।

3. उन परिस्थितियों का उल्लेख जिनमें बच्चों का विद्यालय में प्रवेश न लेना अथवा बच्चों का विद्यालय से लगातार अनुपस्थित रहना नियमानुसार अपराध माना जाए। इन परिस्थितियों के अतंर्गत बीमारी, बीमार माता-पिता की देखभाल करना, परिवार का अकेला कमाऊ व्यक्ति होना जैसी विशेष कठिनाइयों में अनिवार्यता से छूट का प्रावधान है।

4. दोषी माता-पिताओं के लिए, जिनके बच्चे या तो विद्यालय में प्रवेश नहीं लेते या लंबी अवधि तक अनुपस्थित रहते हैं, दंड का उल्लेख।

5. उस प्राधिकारी का उल्लेख जो ये दंड देने के लिए सक्षम हो। ये प्राधिकारी ग्राम पंचायतें, नगरपालिका समितियाँ आदि हो सकती हैं।

6. कानून के अधीन दण्ड देने से संबद्ध मामलों को दर्ज करने के लिए अपनाई जाने वाली प्रक्रिया का उल्लेख।

कानून बनाना अपेक्षाकृत सरल कार्य है। सबसे बड़ी कठिनाई कानूनों को लागू करने में आती है, जिसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं:

1. विद्यालय में प्रवेश न लेने वाले बच्चों का पता लगाने के लिए अनिवार्य आयु-वर्ग के बच्चों के आज तक के आकंडे रखने का काम शिक्षकों का है। गाँवों में जन्म-रिकार्ड न होने से बच्चों की ठीक-ठीक आयु मालूम करने में कठिनाई होती है।

2. घर पर काम करने वाले बच्चों के बारे में उनके माता-पिता जानकारी को छिपा लेना चाहते हैं। अतः बच्चों की सूची तैयार करने वाले शिक्षकों को ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करने में काफी कठिनाई होती है।

3. अधिकांश दोषी माता-पिता समाज के गरीब वर्गों के लोग होते हैं, अतः उन पर जुर्माना लगाना परिवार को कठिनाई में डालना होता है।

4. धनी लोग बच्चों को अपने यहाँ नौकर बनाकर रखते हैं, उन्हें विद्यालय नहीं जाने देते और बदले में जुर्माना भर देते हैं।

5. जुर्माना वसूलने वाली व्यवस्था की स्थापना पर भारी व्यय बैठता है। जुर्माने की राशि बहुत अल्प होती है क्योंकि गरीब माता-पिताओं पर भारी जुर्माना नहीं लगाया जा सकता। अतः जुर्माना वसूलने की अनुवर्ती क्रिया में समस्याएँ पैदा होती हैं।

इन्हीं कारणों तथा ऐसे ही अन्य कारणों से अनिवार्य शिक्षा अधिनियम माता-पिताओं को बच्चों को विद्यालय भेजने के लिए बाध्य करने में अप्रभावी रहे हैं। दोषी माता-पिताओं, विशेष रूप से गरीब माता-पिताओं के विरूद्ध अधिनियम में प्रावधान होने के बावजूद उन पर दंडनीय कार्रवाई नहीं की जाती क्योंकि इससे पूरे परिवार को कठिनाई होती है। अतः इन माता-पिताओं को बाध्य करने के स्थान पर उन्हें समझाने-बुझाने का सहारा लेना उचित होगा ताकि वे अपने बच्चों को

विद्यालय भेजने लगे। यह तो सभी समझते हैं कि और समझाने-बुझाने की भी अपनी एक सीमा होती है और प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के लक्ष्यों की प्राप्ति में निरंतर विलम्ब होता जा रहा है। फिर भी, अनिवार्य शिक्षा अधिनियमों ने बच्चों की शिक्षा के महत्व के प्रति लोगों में जागरूकता पैदा की है। इन कानूनों के लागू होने से यह बात भी स्पष्ट हो गई है कि केवल कानून के द्वारा समाज में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। सार्वजनिक शिक्षा-कार्यक्रमों की सफलता इन कार्यक्रमों में लोगों के भाग लेने की इच्छा पर निर्भर करता है और इस इच्छा को लोकतांत्रिक व्यवस्था में एक मुख्य प्रयास के रूप में समझा-बुझा कर ही पैदा किया जा सकता है।

भारत के संविधान में लिंग, जाति अथवा संप्रदाय के किसी भेद-भाव के बिना सभी लोगों को शिक्षा के समान अवसर प्रदान किए गए हैं। लडकियों की शिक्षा की समस्या दीर्घकाल से सरकार के लिए चिन्ता का विषय रही है। लड़कियों की शिक्षा समस्या का गहराई से अध्ययन करने और लड़कों और लड़कियों की शिक्षा के बीच के अंतर को दूर करने के उपयुक्त उपाय सुझाने के लिए 1958 में राष्ट्रीय महिला-शिक्षा समिति की नियुक्ति की गई। समिति की सिफारिश पर लड़कियों की शिक्षा में सुधार लाने तथा उसका प्रसार करने से संबद्ध नीतियाँ बनाने और कार्यक्रम लागू करने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय महिला शिक्षा परिषद् की और राज्य स्तर पर राज्य महिला शिक्षा परिषदों की स्थापना की गई।

इसके अतिरिक्त लडकियाँ विद्यालयों में अधिक संख्या में प्रवेश लें और अपनी पढ़ाई जारी रखें, इसके लिए राज्य ने छात्राओं को मुफ्त पाठ्यपुस्तकें और कपड़े देना, उन्हें छात्रवृत्ति देना, कन्या विद्यालय खोलना, महिला शिक्षकों की नियुक्ति करना, छात्राओं के लिए छात्रावास बनाना आदि अनेक युक्तियाँ अपनाई हैं। इन सभी प्रयासों के बावजूद आज भी तीन लड़कियों में से एक लड़की विद्यालय में पढ़ने नहीं जाती और पहली कक्षा में प्रवेश लेने वाली 100 लड़कियों में से केवल तीस लड़कियाँ ही पाँचवीं कक्षा तक पहुँच पाती हैं।

विद्यालयों में छात्रों और छात्राओं के प्रवेश की संख्या की तुलना करने पर हम पाते हैं कि छात्रों की अपेक्षा छात्राओं की संख्या अब भी बहुत कम हैं। प्राथमिक कक्षाओं (1 से 5 तक) में छात्रों और छात्राओं के प्रवेश का अनुपात 3:2 का और मिडिल कक्षाओं में 2:1 का है जिससे छात्रों और छात्राओं के प्रवेश की संख्या में उल्लेखनीय अंतर का संकेत मिलता है ।

आप जानते ही हैं कि अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पहाड़ों तथा पिछड़े क्षेत्रों में गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की समाज में बहुत पिछड़ी हुई स्थिति है। यही बात अधिकतर इन वर्गों के लोगों के पिछड़ेपन का कारण है। स्वतंत्रता के बाद इन वर्गों के बच्चों को शिक्षा के समान अवसर प्रदान कर उनके आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करने का पर्याप्त प्रयास किया गया है। इन बच्चों को विद्यालयों में लाने के लिए छात्रवृत्ति, वर्दी, पुस्तकें, लेखन-सामग्री, छात्रावास-शुल्क, दोपहर का भोजन आदि प्रोत्साहन एवं सुविधाएँ उपलब्ध कराई गई हैं।

सारांश

1. प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का अर्थ है—विद्यालय जाने वाली आयु के सभी बच्चों को उनकी सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों अथवा भौगोलिक निवास स्थानों का

विचार किए बिना प्रारंभिक शिक्षा उपलब्ध कराना।
2. भारत के संविधान में 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान है।
3. संवैधानिक प्रावधान में इस बात का उल्लेख नहीं है कि बच्चों की अनिवार्य शिक्षा के लिए आयु की निचली सीमा क्या हो।
4. प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के महत्व के प्रति चेतना पैदा होने से 1938 से ही अनिवार्य शिक्षा की माँग उठने लगी।
5. सभी राज्यों/संघीय क्षेत्रों में अनिवार्य शिक्षा अधिनियम पारित किए गए जिनमें अपने बच्चों को विद्यालय न भेजनेवाले माता-पिताओं के लिए अर्थ-दंड के प्रावधान हैं।
6. विभिन्न सामाजिक-आर्थिक कारणों से अनिवार्य शिक्षा अधिनियमों की दंड-संबंधी धाराओं को लागू नहीं किया जा सका। अतः इस कार्य के लिए मुख्यतः उन्हें समझाने-बुझाने का सहारा लिया गया।
7. फिर भी अनिवार्य शिक्षा अधिनियम बच्चों की शिक्षा के महत्व के प्रति जनता में जागरूकता पैदा करने में सफल रहे हैं।

विचिंतन प्रश्न

1. यदि आपकी बस्ती के सभी बच्चों को विद्यालय में प्रवेश दिला दिया जाए तो कौन-कौन सी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं?
2. सभी बच्चों (लड़कियों सहित) की शिक्षा के प्रश्न पर कुछ माता-पिताओं से चर्चा करके यह पता लगाइए कि वे अपने बच्चों को विद्यालय क्यों नहीं भेजना चाहते?
3. सभी बच्चों को विद्यालय में लाने के लिए एक शिक्षक के रूप में आप क्या कर सकते हैं?
4. क्या आप समझते हैं कि आपके क्षेत्र के लिए अनिवार्य शिक्षा अधिनियम पारित किया गया? इस अधिनियम का अध्यन्न करने के लिए इसकी एक प्रति आप स्थानीय प्राथमिक विद्यालय से कुछ दिनों के लिए माँग लाइए। यदि प्रति वहाँ उपलब्ध नहीं है तो पता लगाइए, वह आपको और कहाँ से मिल सकती है।
5. अनिवार्य शिक्षा अधिनियम का अध्ययन करके यह मालूम कीजिए कि उसके प्रावधानों को किस सीमा तक लागू किया जा रहा है। यदि लागू नहीं किया जा रहा हो तो पता लगाइए कि ऐसा क्यों है।
6. आपकी बस्ती में माता-पिता किन कारणों से अपने बच्चों को विद्यालय नहीं भेजते? क्या आपके विचार से अनिवार्य शिक्षा अधिनियम लागू करके इन्हें अपने बच्चों को विद्यालय भेजने के लिए बाध्य किया जा सकता है? कुछ उन मुख्य समस्याओं का उल्लेख कीजिए जो अधिनियम को लागू करने में सामने आएँगी।

इकाई 5.4.2 प्रारंभिक शिक्षा में गुणात्मक सुधार

पिछली उप-इकाई 5.4.1 में आपने देश में विद्यालय जाने वाली आयु के सभी बच्चों को प्रारंभिक शिक्षा उपलब्ध कराने पर दिए गए बल के संबंध में अध्ययन किया है। इसके साथ-साथ शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार लाने का भी प्रयास किया गया है जिससे वह लोगों की आवश्यकताओं के अधिक अनुकूल हो और उनके पर्यावरण से मेल खाती हो। इन प्रयासों का कोई अन्त नहीं है। क्योंकि शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार एक सतत् प्रक्रिया है। यह कभी नहीं कहा जा सकता कि शिक्षा गुणवत्ता के अंतिम चरण में पहुंच गई है और उसमें अधिक सुधार न सम्भव है, न अपेक्षित।

इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार लाना एक धीमी और क्रमिक प्रक्रिया है क्योंकि इसमें पाठ्यपुस्तकों में सुधार लाना, शिक्षण और मूल्यांकन की बेहतर विधियों को अपनाना, उपलब्ध सुविधाओं का भरपूर उपयोग करना, समुदाय के साथ संपर्क बनाए रखना, छात्रों को व्यक्तिगत मार्गदर्शन देना, उनके मन में सामाजिक और नैतिक मूल्यों को बैठाना आदि कुछ ऐसे कार्य हैं जिनमें भौतिक अथवा आर्थिक दृष्टि से अधिक कुछ करने की आवश्यकता नहीं होती। शैक्षिक गुणवत्ता में अनेक कार्यक्रम सम्मिलित होते हैं। जे. पी. नायक के अनुसार इन कार्यक्रमों की सफलता मुख्यत: शिक्षक की क्षमता और उस की अपने छात्रों की अभिरुचियों के विषय में जानकारी पर निर्भर है।

विकसित देशों से भिन्न, जहाँ कक्षाओं में टेपरिकार्डर और स्लाइड प्रोजेक्टर जैसे गैजटों का प्रयोग बहुतायत में होता है, हमें पढ़ाने के लिए मुख्यत: पाठ्यपुस्तकों पर ही निर्भर करना पड़ता है। एक बड़ी सीमा तक छात्रों की उपलब्धि के स्तर का निर्णय पाठ्यपुस्तकों की गुणवत्ता से होता है। अत: शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार का प्रयास करने के लिए विद्यालय में काम आने वाली पाठ्यपुस्तकों की गुणवत्ता के सुधार पर ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है।

पाठ्यपुस्तक की गुणवत्ता में सुधार लाने का अर्थ है– (1) विषय वस्तु में सुधार, (2) प्रस्तुतीकरण की शैली में सुधार, (3) प्रयुक्त चित्रों की गुणवत्ता और मात्रा में सुधार और (4) छपाई की गुणवत्ता में सुधार। आइए, अब हम देखें कि स्वतंत्रता के बाद की अवधि में प्रारंभिक विद्यालयों के लिए उपलब्ध पाठ्यपुस्तकों में इन चार पक्षों की दृष्टि से कितना सुधार हुआ है।

प्रारंभिक शिक्षा सहित शिक्षा के सभी चरणों की पाठ्यपुस्तकों की विषय वस्तु में स्वतंत्रता के बाद की अवधि में निम्नलिखित कारणों से सुधार हुआ है:

शिक्षा के उद्देश्यों में पर्याप्त परिवर्तन आया है। शिक्षा के प्राथमिक चरण पर यह परिवर्तन विशेष रूप से देखा जा सकता है। उपनिवेशी शासन में पढ़ना, लिखना और अंकगणित की जानकारी होना पर्याप्त माना जाता था पर देश में लोकतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था अपना लेने पर अब यह जानकारी बहुत ही कम मानी जाती है। अत: इस बात पर बल दिया गया है कि शिक्षा का लक्ष्य बच्चे के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना होना चाहिए। इसके लिए पाठ्यपुस्तकों की विषय वस्तु में परिवर्तन लाने के अतिरिक्त विद्यालयों में विविध सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक कार्यक्रम आयोजित करने की आवश्यकता है। बच्चों में वैज्ञानिक एवं विवेकपूर्ण दृष्टिकोण के विकास पर भी बल दिया गया है। जो परीक्षण और अन्वेषण के द्वारा ही संभव है। पहले शिक्षा की

'जमाखाता (बैंकिंग) संकल्पना' में बच्चों के मस्तिष्क में ज्ञान का भंडार जमा करना था। कोई तथ्य 'क्यों' हुआ और 'कहाँ से' हुआ यह जानने की गुंजाइश प्रदान करने के लिए उक्त संकल्पना में परिवर्तन होना ही था। उद्देश्यों में इस परिवर्तन के आने से पाठ्यपुस्तकों की विषयवस्तु में परिवर्तन लाना भी आवश्यक हो गया।

प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण पर अधिक बल देने से भी पाठ्यपुस्तकों में नई विषयवस्तु को सम्मिलित करना आवश्यक हो गया जिससे विद्यार्थियों की आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा को अधिक अर्थपूर्ण और प्रासंगिक बनाया जा सके। इस संदर्भ में नागरिकता की शिक्षा और राष्ट्रीय एकता पर अधिक बल देने के लिए समाज विज्ञान की विषयवस्तु में किए गए परिवर्तनों को देखा जा सकता है। इसी प्रकार सामान्य विज्ञान में 'करके सीखो' और 'पर्यावरण के अन्वेषण' पर अधिक बल देकर उसकी विषयवस्तु का पुनर्गठन किया गया है। प्रारंभ में शिल्प शिक्षा के रूप में और बाद में 'समाजोपयोगी उत्पादक कार्य' के रूप में उत्पादन कौशल विकसित करने के उद्देश्य से पढ़ाई में एक नए क्षेत्र को समावेश करने का श्रेय भी शैक्षिक दृष्टिकोण में हुए इस परिवर्तन को जाता है।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की प्रगति से हुए ज्ञान विस्फोट ने पूरे संसार में शैक्षिक कार्यक्रमों को प्रभावित किया है। यह अनुभव किया जा रहा है कि ज्ञान में अत्यधिक तीव्र गति से वृद्धि हो रही है। अतः पढ़ाई को ज्ञान तथ्यों की जानकारी तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। उसका लक्ष्य विद्यार्थियों को इस योग्य बनाना होना चाहिए कि वे निरंतर उत्तर खोजते हुए उन बातों का अन्वेषण कर सकें जिनका ज्ञान अभी अपूर्ण है। इसके फलस्वरूप विद्यालय स्तर पर ज्ञान-बोध का स्तर ऊपर उठा है। पहले जो विषय शिक्षा के उच्च स्तर पर पढ़ाए जाते थे अब वे ब्रूनर के प्रयोगों के प्रभाव से कहीं नीचे के स्तरों पर पढ़ाए जाने लगे हैं। ब्रूनर के कथनानुसार विकास के किसी स्तर पर किसी भी व्यक्ति को उचित ढंग से कोई भी विषय पढ़ाया जा सकता है। पूरे विश्व में भिन्न-भिन्न चरणों पर शिक्षा के स्तर की लगातार समीक्षा की जा रही है और इस प्रयास में भारत पीछे नहीं रह सकता। इस कारण से भी विद्यालय की पाठ्यपुस्तकों की विषयवस्तु में संशोधन हुआ है।

सीखने की गति और बच्चे के सामाजिक वातावरण के संदर्भ में विकास के चरणों के साथ उसके संबध को समझने के लिए विश्व भर में हलचल सी मच गई है। अतः शिक्षण की विधियों पर पहले से कहीं अधिक ध्यान दिया जा रहा है। इसके लिए भी पाठ्यपुस्तकों की विषयवस्तु में परिवर्तन की आवश्यकता हुई है।

इन्हीं सब कारणों से हमारे देश में और अन्य देशों में भी पाठ्यपुस्तकों का समय-समय पर संशोधन किया जाता रहा है। इसके फलस्वरूप शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार हुआ है। लगभग सभी राज्यों में पाठ्यपुस्तकें तैयार करने के लिए विशेष एजेंसियाँ स्थापित की गई हैं।जो समय-समय पर विद्यमान पुस्तकों की समीक्षा करके उन्हें सुधारती रहती हैं। वस्तुतः यही कारण है कि शिक्षकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे इन एजेंसियों द्वारा तैयार की गई नई सामग्री का विस्तृत अध्ययन कर इन परिवर्तनों के साथ तालमेल बनाए रखें।

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है पाठ्यपुस्तकों की विषयवस्तु की प्रस्तुति शैली में भी पर्याप्त परिवर्तन आया है जिससे जीवन के विभिन्न चरणों में सीखने की प्रक्रिया और बढ़ते हुए ज्ञान के साथ उसका तालमेल रह सके। शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन आने से भी प्रस्तुति शैली

में अंतर आया है। अब विषयवस्तु की प्रस्तुति इस दृष्टि से नहीं की जाती कि छात्र उसे कंठस्थ करें बल्कि उसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि छात्र अर्जित ज्ञान का उपयोग अपनी आवश्यकताओं से सम्बद्ध और अधिक ज्ञान प्राप्त करने में कर सकें। आधुनिक पाठ्यपुस्तक को नई प्रस्तुति शैली का एक उदाहरण माना जा सकता है। छात्रों से पुस्तक में दिए गए विचिंतन प्रश्नों के उत्तर मालूम करने को कहा जाता है। तथ्यों को कंठस्थ करने के स्थान पर कोई बात 'क्यों और कैसे' हुई इसे समझाने का प्रयास किया जाता है।

प्रस्तुतिशैली में परिवर्तन के कुछ अन्य कारण भी रहे हैं। इस बात का अधिकाधिक अनुभव किया जाता रहा है कि विशेष रूप से छोटे बच्चों के लिए केवल पाठ्यपुस्तकें ही पढ़ने का एकमात्र स्रोत नहीं होनी चाहिएँ। यदि अभ्यास के लिए 'अभ्यास पुस्तिकाएँ' स्व-अध्ययन के लिए 'स्वाध्याय सामग्री' तैयार की जाए जिनका छात्र सुविधा और समय के अनुसार प्रयोग कर सकें तो शिक्षकों से अधिक सहायता लिए बिना ही बच्चों की विषयवस्तु को सीखने में सहायता की जा सकती है। इसी कारण पूरक पाठ्यपुस्तकें जिन्हें कक्षाओं में पढ़ाया जाना आवश्यक नहीं है और साथ ही ऐसी अभ्यास पुस्तिकाएँ तथा स्वाध्याय सामग्रियाँ तैयार की गई है जिनका उपयोग छात्र सुविधानुसार कर सकते हैं।

कुछ अच्छे-अच्छे उदाहरण-चित्रों के उपयोग से भी पाठ्यपुस्तकों की गुणवत्ता में धीरे-धीरे सुधार हुआ है। इस बात का अधिकाधिक अनुभव करते हुए कि पाठ्यपुस्तकों का कार्य बच्चों को सीखने में सहायता करना है, उनमें प्रयुक्त उदाहरण-चित्रों की गुणवत्ता में भी सुधार हुआ है। अधिक समय नहीं हुआ जब पाठ्यपुस्तकों के उत्पादन का कार्य मुख्यतः निजी प्रकाशकों के हाथ में था। वे सस्ती पुस्तकों का उत्पादन कर अधिकतम लाभ कमाने का प्रयास करते थे। अतः वे अपनी पुस्तकों में बड़ी-बड़ी आकृतियों और उदाहरण-चित्रों का उपयोग नहीं करते थे। राज्यों में पाठ्यपुस्तक ब्यूरों की स्थापना हो जाने से पाठ्यपुस्तकों के उत्पादन से लाभ कमाने की प्रवृति समाप्त हुई है। अतः शिक्षा की विषयवस्तु को समझाने के लिए चित्रों के उपयोग में पर्याप्त सुधार हुआ है।

पाठ्यपुस्तकों, विशेषकर शिक्षा के प्रारंभिक चरण की पाठ्यपुस्तकों की छपाई की गुणवत्ता में भी सुधार हुआ है। बच्चों के लिए उन्हें अधिक आकर्षक बनाने की दृष्टि से अब रंग-बिरंगी पुस्तकें छापी जाती हैं। बच्चों की आयु तथा अन्य बातों को ध्यान में रखते हुए छापे के उपयुक्त टाइपों के उपयोग पर भी ध्यान दिया जाता है। छोटे बच्चों की पाठ्यपुस्तकों में मोटे टाइपों का उपयोग किया जाता है और शब्दों के बीच अधिक अंतर भी छोड़ा जाता है। कुछ अधिक आयु के बच्चों की लगभग सभी पाठ्यपुस्तकों में रंगीन एवं अधिक आकर्षक चित्रों से काम लेने की प्रवृत्ति उभर रही है। विभिन्न आयु-वर्ग के बच्चों के लिए छापे के कौन-से टाइप और रंग उपयुक्त रहेंगे, इसका निर्णय करने के लिए काफी अनुसंधान कार्य हुआ है जो पाठ्यपुस्तकों की छपाई में मार्ग-दर्शन करता है। इन प्रयासों के फलस्वरूप बच्चों को पाठ्यपुस्तकें अब नीरस तथा अनाकर्षक नहीं लगतीं।

इस प्रकार पिछले कुछ वर्षों में उत्पादन की गुणवत्ता तथा शिक्षण की विषयवस्तु और विधियों की दृष्टि से अध्ययन सामग्री की गुणवत्ता में सुधार हुआ है। बेहतर अध्ययन सामग्री के उत्पादन से अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए अब पाठ्यपुस्तकों के साथ-साथ 'शिक्षक संदर्शिकाएँ' भी उपलब्ध हैं जिनमें शिक्षण की विधियों की चर्चा होती है और पाठ्यपुस्तकों से

प्रभावी ढंग से काम लेने में वे शिक्षकों की सहायता करती हैं। प्राय: इन प्रयासों के साथ शिक्षकों के लिए नवीकरण पाठ्यक्रम भी चलाए जाते हैं जिनमें शिक्षकों की कठिनाइयों को दूर किया जाता है। इन प्रयासों से अध्ययन-सामग्री के उत्पादन और शिक्षकों की बेहतर तैयारी तथा प्रशिक्षण की दृष्टि से शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार की प्रवृत्ति आई है।

छात्रों के ज्ञानार्जन का मूल्यांकन करने के लिए अपनाई गई परीक्षा प्रणाली एक बड़ी सीमा तक कक्षा में शिक्षण की प्रणाली को प्रभावित करती है। एक समय था जब वार्षिक परीक्षा में छात्रों के परिणामों के आधार पर शिक्षकों को वेतन मिलता था। इस प्रथा में अध्ययन के माप- पक्ष पर अधिक बल देने की प्रवृति थी और विद्यार्थियों के व्यक्तिगत गुणों के विकास की उपेक्षा कर दी जाती थी। धीरे-धीरे पढ़ने, लिखने और अंकगणित के शिक्षण के स्थान पर बच्चों के पूर्ण व्यक्तित्व के विकास पर अधिक बल दिया जाने लगा। फलस्वरूप, यह आवश्यक हो गया कि व्यक्तित्व के विकास के विभिन्न पक्षों का नियमित मूल्यांकन किया जाए। इसमें ज्ञान-क्षेत्र का विकास भी सम्मिलित है। वार्षिक परीक्षा को मिला अनुचित महत्व धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। हर मास के अंत में बच्चों के व्यक्तित्व-विकास के सभी पक्षों का मूल्यांकन करने और प्रत्येक बच्चे की प्रगति का एक संचित रिकार्ड रखने की आजकल सामान्य प्रथा है। यह रिकार्ड इसलिए रखा जाता है जिससे विद्यालय की पढ़ाई पूरी कर लेने के बाद अथवा अन्य किन्हीं कारणों से जब बच्चा दूसरे विद्यालय में जाए तो उसका रिकार्ड भी दूसरे विद्यालय को भेज दिया जाए। इस प्रकार शिक्षक के पास प्रत्येक छात्र के व्यक्तिगत गुणों का रिकार्ड रहता है। जिसकी सहायता से वह छात्र की कमियों को जानकर उन्हें दूर करने और व्यक्तिपरक पढ़ाई पर ध्यान देने लगता है। इस प्रकार देश में शिक्षा के प्रारंभिक चरण मे शिक्षण के व्यक्तिकरण की प्रवृत्ति उभर कर सामने आ रही है।

बच्चों की उपलब्धियों के नियमित मूल्यांकन के महत्व को समझते हुए देश में शिक्षक-निर्मित परीक्षणों पर अधिक बल दिया जा रहा है जिसके लिए शिक्षकों को सेवापूर्व और सेवाकालीन शिक्षा कार्यक्रमों में विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है। पिछले कुछ वर्षो में कुछ राज्यों में एक अन्य महत्वपूर्ण बात जो देखने में आई है वह है—वर्ष के अंत में पास/फेल घोषित करने की पद्धति को समाप्त कर देने की। इसका उद्देश्य वार्षिक परीक्षा में फेल हो जाने पर छात्रों में निराश होकर पढाई छोड़ देने की प्रवृत्ति को रोकना है। इस प्रवृत्ति के प्रभाव के फलस्वरूप अब विद्यालयों में उपचारी शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है जिसके अन्तर्गत अतिरिक्त कक्षाएँ लेकर शिक्षक कमजोर छात्रों की कठिनाईयों को दूर करते हैं।

इन प्रयासों से वार्षिक परीक्षा प्रणाली का दुष्प्रभाव कम होने लगा है और शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार आया है। किन्तु ये परिवर्तन अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग तरह से हो रहे हैं। अत: इन परिवर्तनों के प्रभाव को समझने के लिए कुछ विद्यालयों की कार्य-प्रणाली का अध्ययन करना ठीक रहेगा।

इस बात से तो सभी परिचित हैं कि किसी भी शैक्षिक योजना के निर्धारण में प्रारंभिक विद्यालयों और उनके शिक्षकों को कभी सम्मिलित नहीं किया गया। यही बात माध्यमिक विद्यालयों और उनके शिक्षकों के साथ है। यदि शिक्षा की गुणवत्ता में बड़े पैमाने पर वृद्धि करनी है तो शिक्षा योजनाओं के निर्धारण में प्रारंभिक विद्यालयों के शिक्षकों को सम्मिलित करना आवश्यक है। कक्षा की पढ़ाई में उन योजनाओं को लागू करने में

शिक्षकों का सहयोग अपेक्षित है। इससे विद्यालयों में विद्यमान शिक्षा संसाधनों के बेहतर उपयोग में और परस्पर वृद्धि और विकास के लिए उपलब्ध सामुदायिक संसाधनों के अधिकतम उपयोग में सहायता मिलेगी। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि शिक्षा के आयोजन को व्यापक और विकेन्द्रित बना कर शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार लाने के सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त होते हैं। इसमें प्रशासन के चार स्तरों का योगदान रहता है : संस्थागत स्तर, जिला स्तर, राज्य स्तर और राष्ट्रीय स्तर। एक अन्य विधि जिससे विद्यालय के मानव और भौतिक संसाधनों का अधिकतम उपयोग हो सकता है वह है वरिष्ठ एवं कुशल शिक्षकों द्वारा विद्यालय का 'पैनल निरीक्षण'। वे विद्यालय के सभी कार्यों का मूल्यांकन कर सकने की स्थिति में होते हैं और विद्यालय के सभी पक्षों में सुधार के लिए मार्गदर्शन भी कर सकते हैं। अत: इस कार्य को वे प्रभावशाली ढंग से पूरा कर सकें इसके लिए शिक्षकों में कौशल और अंतर्दृष्टि विकसित करने के लिए उन्हें विशेष रूप से प्रशिक्षित किया जाना चाहिए।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में कहा गया है कि शिक्षकों का स्तर तथा उनकी व्यावसायिक क्षमता में सुधार शैक्षिक पुनर्रचना की आधारशिला होगी। उसमें अध्यापक शिक्षा की एक निरंतर प्रक्रिया के रूप में परिकल्पना की गई है। उसके सेवापूर्व तथा सेवाकालीन अंशों को अभिन्न माना गया है। उक्त नीति में इस बात पर भी बल दिया गया है कि उसमें परिकल्पित प्रमुख बातों को अमल में लाने के लिए शिक्षकों की आवश्यकता है। प्रारंभिक अध्यापक शिक्षा को व्यावसायिक समर्थन प्रदान करने के लिए उसमें जिला शिक्षा तथा प्रशिक्षण संस्थान (डी.आई.ई.टी.) स्थापित करने का सुझाव है जिनमें प्राथमिक विद्यालय के शिक्षकों के लिए और अनौपचारिक तथा प्रौढ़ शिक्षा के कार्यकत्ताओं के लिए सेवापूर्व तथा सेवाकालीन प्रशिक्षण की व्यवस्था होगी।

अध्यापक प्रशिक्षण कार्यक्रम के लिए राष्ट्रीय स्तर पर एन.सी.ई.आर.टी. और राज्य स्तर पर एस.सी.ई.आर.टी. शैक्षिक समर्थन प्रदान कर रही है। किन्तु अधिकाँश राज्यों में जिला शिक्षा स्तर पर इस प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। जिला शिक्षा तथा प्रशिक्षण संस्थानों की स्थापना से इस अभाव की पूर्ति हो जाएगी। उक्त संस्थानों के कार्यों में निम्नलिखित बातें सम्मिलित रहेंगी:

1. प्रारंभिक विद्यालय शिक्षकों की सेवापूर्व तथा सेवाकालीन शिक्षा।
2. संसाधन समर्थन का प्रावधान—इसमें अनौपचारिक तथा प्रौढ़ शिक्षा के लिए निरीक्षकों और पर्यवेक्षकों की प्रवेश-स्तर की शिक्षा तथा उनकी निरंतर शिक्षा की बात भी सम्मिलित है।
3. जिला शिक्षा बोर्डों (डी.बी.ई) द्वारा नियोजन और प्रबंध।
4. क्रियात्मक शोध (ऐक्शन रिसर्च) तथा प्रयोग संबंधी कार्य।
5. प्राथमिक तथा पूर्व-प्राथमिक विद्यालयों के लिए और साथ ही अनौपचारिक तथा प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों के लिए मूल्यांकन केन्द्र के रूप में काम करना।
6. शिक्षकों के लिए संसाधन तथा ज्ञानार्जन केन्द्र की सेवाओं का प्रावधान।
7. जिला-स्तर पर शैक्षिक प्रौद्योगिक तथा कम्पयूटर-शिक्षा।

यद्यपि प्रत्येक जिले में एक जिला शिक्षा तथा प्रशिक्षण संस्थान की स्थापना होगी, तथापि संभवत: जिले के आकार और वहाँ पूरे किए जानेवाले कार्यों के अनुसार इसमें अंतर हो सकता है।

सारांश

1. शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार लाना एक मंद किन्तु क्रमिक प्रक्रिया है।
2. इसमें (1) शिक्षक की गुणवत्ता, (2) शिक्षण प्रक्रिया, (3) अध्ययन-सामग्री, (4) मूल्यांकन प्रणाली, (5) विद्यालय का प्रशासन और पर्यवेक्षण और (6) विद्यालय और समुदाय के बीच परस्पर-संबंधों में सुधार लाना सम्मिलित हैं।
3. शिक्षक की गुणवत्ता केवल उसकी शिक्षण क्षमता पर ही नहीं बल्कि कार्य एवं छात्रों के प्रति उसकी अनुकूल अभिवृत्ति पर भी निर्भर है।
4. पाठ्यपुस्तकों की गुणवत्ता में सुधार लाने में विषय-वस्तु, प्रस्तुति-शैली, पुस्तक में प्रयुक्त चित्रों की गुणवत्ता और संख्या तथा छपाई की गुणवत्ता में सुधार सम्मिलित हैं।
5. वार्षिक परीक्षा को मिले अनुचित महत्व में धीरे-धीरे कमी हो रही है और अब नियमित मूल्यांकन, शिक्षक-निर्मित परीक्षणों और उपचारी शिक्षण पर अधिक बल दिया जा रहा है।
6. व्यापक एवं विकेन्द्रित शिक्षा-आयोजन को शिक्षा के स्तर में सुधार लाने का एक साधन माना जाता है।
7. प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक के व्यावसायिक विकास को और सामान्यत: प्रारंभिक शिक्षा को समर्थन प्रदान करने के लिए जिला शिक्षा तथा प्रशिक्षण संस्थानों (डी.आई.ई.टी.) की स्थापना का प्रस्ताव किया गया है। इनके लिए धन की पूरी व्यवस्था संघ सरकार करेगी।

विचिंतन प्रश्न

1. स्थानीय विद्यालय में विभिन्न कक्षाओं में पढ़ाई जा रही पाठ्यपुस्तकों की जाँच कीजिए। आपके समय में प्रारंभिक कक्षाओं में जो पाठ्यपुस्तकें पढ़ाई जाती थीं उनकी तुलना में छपाई की गुणवत्ता और प्रस्तुति-शैली में अंतर पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
2. किसी पाठ्यपुस्तक की 'शिक्षक संदर्शिका' का अध्ययन कीजिए और पाठ्यपुस्तक के प्रभावी ढंग से उपयोग करने में वह किस सीमा तक सहायक है इस पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
3. छात्रों के लिए आयोजित पाठ्यक्रम सहगामी कार्यक्रमों का पता लगाने के लिए किसी विद्यालय में जाइए। इनमें से किसी एक कार्यक्रम की उपयोगिता पर निम्नलिखित दृष्टिकोण से विचार प्रकट कीजिए:
   (1) बच्चों के व्यक्तित्व का विकास और (2) पाठ्यक्रम संबंधीं कार्यक्रमों में इसका योगदान।
4. पता लगाइए कि क्या आपकी बस्ती के विद्यालय के शिक्षक 'शिक्षक-संदर्शिका' का अध्ययन करते हैं। इन पुस्तिकाओं के प्रयोग में किस तरह सुधार लाया जा सकता है?

5. स्थानीय विद्यालय के संचित रिकार्ड का अध्ययन करके उसकी उपयोगिता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
6. स्थानीय प्राथमिक विद्यालय में बीच में पढ़ाई छोड़कर बैठ जाने वाले छात्रों की दर मालूम कीजिए। यह पता लगाने के लिए कि क्या परीक्षाओ में अनुत्तीर्ण हो जाने के कारण उन्होंने विद्यालय छोड़ा है, उनमें से कुछ छात्रों के माता-पिताओं से बात कीजिए। क्या आपके विचार से 'फेल' करने की पद्धति को समाप्त कर देने से बीच में विद्यालय छोड़ देनेवालों की संख्या में कमी आ सकेगी।
7. आपके विचार से जिला शिक्षा तथा प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना से प्राथमिक शिक्षक की शिक्षा में किस प्रकार गुणात्मक सुधार होगा? इन संस्थानों के उत्तरदायित्व के कार्यक्षेत्र कौन-कौन से हैं?

इकाई 5.4.3 नई शैक्षिक कार्य नीति–अनौपचारिक और अंशकालिक शिक्षा

पिछले पृष्ठों में हमने यह देखा है कि सभी प्रकार के बच्चों को शिक्षा देने में विद्यालयों की क्या-क्या सीमाएँ होती हैं। विद्यालयों में, जो शिक्षा की औपचारिक सस्थाएँ हैं, पढ़ाई के नियमित घंटे, अध्ययन के नियत पाठ्यक्रम और वार्षिक पाठ्यक्रम होते हैं। इससे कुछ वर्गों के बच्चों को विद्यालय में प्रवेश लेने अथवा पढ़ाई जारी रखने में बाधाएँ आती हैं। आगे के अनुच्छेदों में इन बाधाओं पर प्रकाश डाला गया है।

1. **पूर्णकालिक शिक्षण:** विद्यालय में बच्चों से आशा की जाती है कि वे पढ़ने में पूरा समय लगाएँ। उन्हें नियमित रूप से दिन के कुछ नियत घंटों में विद्यालय में रहना होता है। जो बच्चे किसी प्रकार के काम -धंधे में लगे होते हैं, वे उन नियत घंटों में विद्यालय नहीं जा पाते।

2. **नियत पाठ्यक्रम:** बच्चों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखे बिना विद्यालयों में उन सभी के लिए एक नियत पाठ्यक्रम होता है। अध्ययन के लिए पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें पहले से ही निश्चित कर दी गई होती हैं। बच्चों को या तो पूरा पाठ्यक्रम लेना पड़ता है या उसे बिल्कुल छोड़ देना पड़ता है। इससे भी उन बच्चों पर सीमाबंधन लगता है जो पूरी पढ़ाई के लिए इतना समय नहीं निकाल पाते।

3. **वार्षिक पाठ्यक्रम:** विद्यालयों में कक्षा का ढाँचा एक वर्ष की पढ़ाई के आधार पर होता है। बच्चे एक कक्षा से दूसरी कक्षा में वर्ष पूरा होने पर ही जाते हैं। बच्चे को निम्न प्रारंभिक शिक्षा चरण पूरा करने में चार से पाँच वर्ष तक लगते हैं। गरीब घरों के और काम-धंधों में लगे बच्चों में इतना धैर्य नहीं होता कि ऐसी शिक्षा से लाभ उठाने के लिए वे इतने समय तक विद्यालय में रहें। अतः शिक्षा के इस चरण को पूरा किए बिना ही वे विद्यालय छोड़ देते हैं।

4. **प्रमाणपत्रोभिमुखी शिक्षा:** विद्यालयों में पढ़ाई प्रमाणपत्रोभिमुखी है। वर्ष की पढ़ाई पूरी कर लेने के बाद बच्चे को कक्षा-विशेष पास कर लेने का प्रमाणपत्र मिलता है। जीविका के लिए काम करने वाले बच्चों के लिए इन प्रमाणपत्रों का कोई महत्व नहीं है। इसलिए वे विद्यालय में अधिक समय तक नहीं रूकते।

5. **एकसूत्री प्रवेश:** बच्चे की आयु कुछ भी हो उसे पहली कक्षा में प्रवेश दिया जाता है। सभी बच्चों को वार्षिक पाठ्यक्रम पूरे करते हुए आगे की कक्षाओं में जाना होता है। ऐसा कोई प्रावधान नहीं है कि कुछ मास तक अथवा पूरे

वर्ष विद्यालय में उपस्थित न रहनेवाले बच्चे को अगली कक्षा में चढ़ा दिया जाए, भले ही इस अवधि में उसने विद्यालय के बाहर रहकर अध्ययन किया हो। इस प्रथा के कारण विद्यालय से अनुपस्थित रहने अथवा निर्धारित अवधि के लिए उपस्थित न रहने के कारण बड़ी संख्या में बच्चे पढ़ाई से वंचित रह जाते हैं।

विद्यालयों जैसी शिक्षा की औपचारिक संस्थाओं की ये विशेषताएँ गरीब घरों के बच्चों के मार्ग में जो छोटी आयु में ही काम पर लग जाते हैं बाधक होती हैं। जो बच्चे इस समय विद्यालय नहीं जा रहे उनके लिए शिक्षा की व्यवस्था तभी की जा सकती है जब शिक्षा-कार्यक्रमों में निम्नलिखित विशेषताएँ हों :

1. **उपयुक्त समय-निर्धारण** : कार्यक्रमों को प्रातः अथवा सायं अथवा किसी अन्य सुविधाजनक समय में आयोजित किया जाए जब बच्चों को काम से अवकाश हो।

2. **कम अवधिः** कार्यक्रम विशेष केवल थोड़े समय के लिए आयोजित किया जाए।

3. **भाग लेने में लचीलापन** : कार्यक्रम को इस तरह आयोजित किया जाए कि बच्चों को जब भी अवकाश मिले उसमें आकर भाग लें। नित्य की नियमित उपस्थिति पर बल न दिया जाए। उन्हें अपने हिसाब से आगे बढ़ने का अवसर दिया जाए।

4. **संक्षिप्त पाठ्यक्रमः** पूरा पाठ्यक्रम विस्तार से पढ़ाने के स्थान पर इन बच्चों को संक्षिप्त पाठ्यक्रम दिए जाएँ जिन्हें वे थोड़े समय में पूरा कर लें। इसमें विषयवस्तु के चयन का बहुत महत्व है।

5. **विद्यार्थियों की आवश्यकताओं के लिए प्रासंगिकताः** कार्यक्रमों का निर्धारण इस प्रकार किया जाए कि उनमें भाग लेना बच्चे अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के लिए प्रासंगिक समझें। इन कार्यक्रमों को आवश्यकता-आधारित पाठ्यचर्या कहा जाता है।

6. **विद्यालयी पाठ्यक्रम से समकक्षताः** ऊपर उल्लेख किए गए अंतरों के बावजूद ये पाठ्यक्रम बच्चों को उतना ही सक्षम बनाने में सहायक होने चाहिए जितने सक्षम पूर्णकालिक पढ़ाई करने वाले बच्चे होते हैं ताकि ये बच्चे 'जैसे' और 'जब चाहें' अथवा 'जब भी परिस्थितियाँ अनुकूल हों', शिक्षा की मुख्य धारा में प्रवेश कर सकें।

इन विशेषताओं को अनौपचारिक और अंशकालिक शिक्षा की कार्य नीति का निर्धारण करते समय ध्यान में रखा जाता है ताकि जो बच्चे सामाजिक-आर्थिक कारणों से विद्यालयों की सुविधाओं का लाभ नहीं उठा पाते, उन्हें उनकी सुविधाजनक शिक्षा पाने में सहायता मिल सके। अंशकालिक शिक्षा-कार्यक्रम का लक्ष्य बच्चों को उनके काम में बाधा पहुँचाए बिना खाली समय में पढ़ाई करने के लिए प्रोत्साहित करना है। ये कार्यक्रम विद्यार्थियों की सुविधा के समय तथा उपयुक्त स्थानों पर चलाए जाते हैं। मोटे तौर पर इनमें औपचारिक विद्यालयों के पाठ्यक्रमों का ही अनुसरण किया जाता है यद्यपि ये पाठ्यक्रम संक्षिप्त होते हैं। ये पाठ्यक्रम उन विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त होते हैं जो कुछ समय के लिए विद्यालय से अनुपस्थित रहने के कारण पढ़ाई से वंचित रह गए हों और इसे पूरा कर पुनः शिक्षा की मुख्य धारा में प्रवेश करना चाहते हों। दूसरी ओर अनौपचारिक शिक्षा-कार्यक्रमों का लक्ष्य विद्यार्थियों को कार्यात्मक शिक्षा-कार्यक्रम उपलब्ध कराना है। इन कार्यक्रमों का लक्ष्य विद्यार्थियों का औपचारिक विद्यालयों के समकक्ष स्तर तक लाना नहीं है। इनमें अधिक बल व्यवहारिकता और जीवन में इसकी उपयोगिता

पर दिया जाता है। इन कार्यक्रमों में न तो नियमित दैनिक उपस्थिति पर बल दिया जाता है और न एक कक्षा से दूसरी कक्षा में चढ़ाने के उद्देश्य से कार्यक्रम के अंत में परीक्षा के लिए बँधे-बँधाए आधार पर इन केन्द्रों में काम करने के इच्छुक शिक्षक करते हैं। वैकल्पिक रूप में बस्ती के किसी शिक्षित व्यक्ति को केन्द्र का भार दे दिया जाता है। इन सभी बातों के पीछे यही उद्देश्य है कि विषम परिस्थितयों के कारण विद्यालय में औपचारिक पढ़ाई न कर पाने के बावजूद इन बच्चों को पढ़ने में सहायता प्रदान करना।

अभी यह नीति निर्माणाधीण चरण में है। इससे उन छोटी-छोटी बस्तियों के बच्चों को भी शिक्षा उपलब्ध कराई जा सकती है जहाँ विद्यालय खोलना संभव नहीं है। इन कार्यक्रमों को चलाने में बहुत अल्प साधनों की आवश्यकता होती है। फिर भी, इसमें एक ओर उपयुक्त पाठ्यक्रम और अध्ययन सामग्री का विकास करने में और दूसरी ओर अध्यापन-अधिगम की नई विधियों के लिए शिक्षकों को प्रशिक्षित करने में कठिनाई हो रही है। इन कठिनाइयों के बावजूद प्रायः सभी राज्य समाज के अभावग्रस्त वर्गों के बच्चों को शिक्षा दिलाने के लिए यह कार्यनीति अपना रहे हैं।

पाठ्यक्रम चलाए जाते हैं। देश में अनौपचारिक और अंशकालिक शिक्षा के लिए बनाई गई कार्य नीति में इन दो पक्षों पर विद्यार्थियों के स्वभाव और इनकी आकांक्षाओं के अनुरूप ध्यान दिया जाता है। वर्तमान विचारधारा यही है कि जहाँ तक संभव हो बच्चों को औपचारिक विद्यालयों में पढ़ने के लिए और जब अनिवार्य हो तभी उन्हें अनौपचारिक अथवा अंशकालिक शिक्षा के पाठ्यक्रमों को पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

विभिन्न राज्यों में उपयुक्त स्थानों पर ऐसे अनेक केन्द्र काम करने लगे हैं। इनके कार्य के घंटे विद्यार्थियों की सुविधा के अनुसार निश्चित किए जाते हैं। विद्यालयों में चलाए जा रहे पाठ्यक्रमों को उपयुक्त रूप से संक्षिप्त किया जा रहा है और स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार उन्हें ढाला जा रहा है। इन केन्द्रों का संचालन अंशकालिक

सारांश

1. अपनी बँधी-बँधाई शिक्षा-प्रणाली के कारण औपचारिक विद्यालयी संरचना समाज के गरीब और कमजोर वर्गों के बच्चों की शैक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ है।
2. बच्चों को उनकी परिस्थिति-जन्य सीमाओं में ही शिक्षा दिलाने के लिए अत्याधिक लचीले, अनौपचारिक और अंशकालिक शिक्षा-कार्यक्रमों को तैयार किया जा रहा है।
3. अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रमों में अध्ययन-सामग्री तैयार करने और शिक्षकों को प्रशिक्षण देने की समस्याएँ आड़े आ रही हैं।

विचिंतन प्रश्न

1. आपके क्षेत्र में बच्चों के विद्यालय मे प्रवेश लेने में कौन-सी मुख्य समस्याओं का सामना करना पड़ता है?
2. आपके क्षेत्र के अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र मे किस प्रकार के कार्यक्रम आयोजित किए जाने चाहिए?
3. अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र में लड़को और लड़कियों के कार्यक्रम समान होने चाहिए अथवा भिन्न? लड़के और लडकियों के लिए उपयुक्त कार्यक्रमों के स्वरूप अलग-अलग रूप से बताइए।
4. यदि आपको अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र मे शिक्षक के रूप में काम करना पड़े तो आप अपनी बस्ती में काम करना चाहेगे अथवा अपनी बस्ती से बाहर? ऐसा क्यों?
5. एक अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र का दौरा करके वहाँ चलाए जा रहे कार्यक्रमो का अध्ययन कीजिए।
6. एक विद्यालय और एक अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र की अध्यापन विधि मे अंतर पर टिप्पणी लिखिए।

छठा अध्याय

भारत में प्रारंभिक विद्यालयी व्यवस्था

शिक्षा व्यवस्था समाज की देन है, अतः प्रारंभिक विद्यालयी पद्धति की उत्पत्ति प्रकृति से नहीं, संस्कृति से हुई है। प्रायः देखने में आता है कि सामाजिक वर्ग-संरचना का प्रभाव विद्यालयी व्यवस्था पर और विशेष रूप से प्रारंभिक विद्यालयी व्यवस्था पर पड़ता है। दूसरे, समाज को अनेक सामाजिक वर्ग एक साथ रह सकें और मिलजुल कर कार्य कर सकें। समाज चाहता है कि इस कार्य की पूर्ति में विद्यालयी व्यवस्था साधारणतः और सामाजिक वर्ग एक साथ रह सके और मिलजुलकर कार्य कर सकें। समाज चाहता है कि इस कार्य की पूर्ति में विद्यालय व्यवस्था साधारणतः और प्रारंभिक विद्यालयी व्यवस्था विशेष रूप से एक महत्वपूर्ण सामाजिक शक्ति बने। तीसरे, समाज यह भी चाहता है कि प्रारंभिक विद्यालय विभिन्न जातीय एवं क्षेत्रीय समूहों की लोकतांत्रिक एवं बहुरूपी संस्कृति में अपना सही स्थान ग्रहण करने के लिए पथ-प्रदर्शक केन्द्र का काम करे।

इस अध्याय में भारत में प्रारंभिक विद्यालयी व्यवस्था के इन सभी पक्षों पर विचार किया गया है और प्रारंभिक शिक्षा व्यवस्था की विद्यमान भूमिका और कार्यकलाप की ओर तथा उपरोक्त लक्ष्यों को ध्यान में रखकर, इनमे सुधार किस प्रकार लाया जा सकता है, इस ओर शिक्षक का ध्यान केन्द्रित किया गया है। इकाई 6.1 में वर्तमान प्रारंभिक विद्यालय व्यवस्था का वर्णन है। इकाई 6.2 में प्रारंभिक विद्यालयों से संबद्ध सामाजिक-शैक्षिक मामलों का उल्लेख है। इकाई 6.3, 6.4 और 6.5 में क्रमशः प्रारंभिक विद्यालयों के नियंत्रण, समर्थन, प्रशासन, संगठन एवं पाठ्यचर्या की चर्चा है। इसका उद्देश्य यह ज्ञात करना है कि जिस कार्य के लिए विद्यालय खोले गए हैं, उसकी पूर्ति कहाँ तक हो सकी है। इकाई 6.6 में प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक के मूलभूत कर्तव्यों का उल्लेख है। ये कर्तव्य संतोषजनक ढंग से निष्पादित हों, इसके लिए प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक को व्यावसायिक रूप से तैयार करना अति आवश्यक है। इकाई 6.7 में शिक्षक की भूमिका और कर्तव्यों से संबद्ध व्यावसायिक तैयारी का वर्णन है। अंत में इकाई 6.8 में परिवर्तन लाने वाले एजेण्ट के रूप में प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक के कार्यों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है और उसके नए भावी कार्यों का पूर्वानुमान प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 6.1 प्रारंभिक विद्यालय और शैक्षिक संरचना

प्रारंभिक विद्यालय संगठन शिक्षा के दो चरणों का योग है जिन्हें पहले प्राथमिक विद्यालय चरण और मध्य (मिडिल) विद्यालय चरण कहा जाता था। 1964-66 के शिक्षा आयोग ने निम्न प्राथमिक विद्यालय चरण (कक्षा 1 से 4/5 तक)और उच्च प्राथमिक विद्यालय चरण (कक्षा 5/6 से 7/8 तक) को एक चरण में समन्वित कर इसे अधिक शैक्षिक

गौरव प्रदान किया। शिक्षा आयोग द्वारा प्रदत्त इस नए अर्थ के अनुसार प्रारंभिक शिक्षा शब्द का उपयोग उसी अर्थ में किया जाता है जिस अर्थ में प्राथमिक शिक्षा (निम्न और उच्च—दोनों को एक साथ मिलाकर) का उपयोग किया जाता था। पुराने प्राथमिक और मध्य (मिडिल) विद्यालय चरणों की शिक्षा-अवधि में अथवा नए निम्न और उच्च प्राथमिक विद्यालय चरणों की शिक्षा-अवधि में विभिन्नता रही है। उदाहरणार्थ कुछ राज्यों में निम्न प्राथमिक विद्यालय चरण में कक्षा 1 से कक्षा 4 तक पढ़ाई होती है तो कुछ अन्य राज्यों में कक्षा 1 से कक्षा 5 तक पढ़ाई होती है। इसी प्रकार कुछ राज्यों में उच्च प्राथमिक विद्यालय चरण में कक्षा 5 से कक्षा7 तक की पढ़ाई होती है तो कुछ अन्य राज्यों में कक्षा 6 से कक्षा 8 तक। इस प्रकार शिक्षा का प्रथम चरण (जिसके अंतर्गत निम्न और उच्च प्राथमिक विद्यालय चरण आते हैं) बच्चा 13 अथवा 14 वर्ष की आयु तक पूरा कर लेता है। प्रारंभिक शिक्षा की सार्वजनीनता के संवैधानिक प्रावधान के संबंध में हम इसे 6 से 14 वर्ष के आयुवर्ग के बच्चों के लिए मानते हैं। यह निम्न प्राथमिक विद्यालय चरण और उच्च प्राथमिक विद्यालय चरण के समकालिक ठहरता है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में सुझाव दिया गया है कि सुविधा के लिए प्रारंभिक विद्यालय चरण को दो उपचरणों में बाँटा जा सकता है: कक्षा 1 से 5 तक प्राथमिक चरण तथा कक्षा 6 से 8 तक उच्च प्राथमिक चरण।

सारांश

1. प्रारंभिक शिक्षा का आशय उन सभी प्रक्रियाओं और संरचना से है जिनमें 14 वर्ष की आयु तक के बच्चों को शिक्षा दी जाती है।
2. प्रारंभिक शिक्षा के चरणों का वर्गीकरण अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग है। किन्तु राष्ट्रीय शिक्षा नीति में इन चरणों का इस प्रकार वर्गीकरण किया गया है: कक्षा 1 से 5 तक प्राथमिक चरण, और कक्षा 6 से 8 तक उच्च प्राथमिक।

विचिंतन प्रश्न

यदि हमें शिक्षा की नीति-1986 की परिकल्पना के अनुसार राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का विकास करना हो तो क्या आपके विचार से प्रारंभिक शिक्षा की समान संरचना लाभकारी रहेगी?

1. आपके विचार से क्या आपकी बस्ती की सभी लड़कियाँ विद्यालय जाती हैं? यदि नहीं तो उन कारणों का पता लगाइए जिनसे कुछ माता-पिता अपनी लडकियों को विद्यालय भेजने मे हिचकिचाते हैं।
2. क्या आपके विचार से आपके क्षेत्र में कमज़ोर वर्गों के बच्चों के साथ विद्यालयों में समता का व्यवहार किया जाता है? इन बच्चों के विद्यालय जाने पर उनके सामने क्या-क्या कठिनाइयाँ आती हैं?

इकाई 6.2 प्रारंभिक विद्यालयों से संबद्ध सामाजिक-शैक्षिक समस्याएँ

प्रारंभिक विद्यालयों को तीन मुख्य क्षेत्रों में समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जिन्हें सामाजिक-शैक्षिक समस्याएँ कह सकते हैं। वे इस प्रकार हैं–

(i) सभी के लिए शैक्षिक सुविधाओं का प्रावधान,

(ii) सभी बच्चों का विद्यालयों में प्रवेश।

(iii) जब तक बच्चे प्रारंभिक शिक्षा पूरी नहीं कर लेते अथवा जब तक वे 14 वर्ष के नहीं हो जाते, विद्यालय में उनकी पढ़ाई जारी रखना।

आइए, अब हम इन तीनों क्षेत्रों में किए गए प्रयासों और उनके लिए अपनाई गई कार्य नीतियों पर विचार करें।

आप इस बात से परिचित हो चुके हैं कि प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के लिए ज़ोरदार प्रयास करने के बावजूद स्वतंत्रता मिलने के समय तक केवल शहरों, कस्बों और बड़े-बड़े गाँवों में ही विद्यालयों के रूप में शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध थीं। इन सुविधाओं के केवल शहरी क्षेत्रों और बड़े-बड़े गाँवों तक ही सीमित होने का कारण पर्याप्त वित्तीय साधनों का सुलभ न होना और विदेशी शासकों की उदासीनता थी। सुविधाएँ सीमित थीं, अतः सीमित संख्या में ही लोग विद्यालयों में पढ़ने जाते थे। 6 से 14 वर्ष के आयुवर्ग के बच्चों से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे पैदल चलकर दो-तीन किलोमीटर से अधिक दूर विद्यालय में पढ़ने जाएँ। अतः यह आवश्यक समझा गया कि सुदूर क्षेत्रों और छोटी-छोटी बस्तियों सहित सभी स्थानों पर विद्यालय खोले जाएँ जिससे विद्यालय जाने के लिए बच्चों और उनके माता-पिताओं का समझाया-बुझाया जा सके।

हमारे जैसे देश में, जहाँ 76 प्रतिशत जनता गाँवों में रहती है, यह कार्य सरल नहीं था। नए विद्यालय खोलने की योजना बनाने के लिए सबसे पहले यह जानना आवश्यक था कि किन-किन स्थानों में विद्यालय विद्यमान हैं और किन-किन स्थानों से वे एक-से तीन किलोमीटर तक की पैदल दूरी के भीतर नहीं हैं। यह कार्य सभी बस्तियों का विस्तृत सर्वेक्षण करके ही किया जा सकता था जिससे (छोटी-बड़ी) बस्तियों की संख्या, बस्तियों के बीच की दूरी और प्रत्येक बस्ती की जनसंख्या के बारे में जानकारी मिल सके। इस प्रकार के सर्वेक्षण का सुझाव 1911 में भी दिया गया था किन्तु स्वतंत्रता मिलने तक इस दिशा में कोई कार्रवाई नहीं की गई।

प्रथम अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण का कार्य 1959 में पूरा कर लिया गया था। इस सर्वेक्षण से यह पता लगाने में सहायता मिली कि कहाँ-कहाँ पर और कितनी संख्या में प्राथमिक और मिडिल स्कूल अधिकतम बस्तियों का हित-साधन कर सकते हैं। सर्वेक्षण से पता चला कि प्राथमिक विद्यालयों की वर्तमान संख्या 2,29,023 थी जबकि आवश्यकता 3,32,311 विद्यालयों की थी। अर्थात अभी 1,03,288 नए विद्यालय और खोलने की आवश्यकता थी। इस प्रावधान के बावजूद 4,80,366 बस्तियाँ (57.2 प्रतिशत) ऐसी रह जातीं जिनमें विद्यालय पदयात्रा की सीमा में होते और 27,356 बस्तियाँ (3.2 प्रतिशत) फिर भी इस सीमा के बाहर ही रह जातीं। इन बस्तियों के संबंध में भ्रमणशील शिक्षक का परीक्षण करने का सुझाव दिया गया। इससे पहले बंबई में भ्रमणशील शिक्षक का परीक्षण किया गया था। इस परीक्षण के अंतर्गत शिक्षक एक से अधिक बस्तियों में पढ़ाता है। वह एक दिन एक बस्ती में और दूसरे दिन दूसरी बस्ती में पढ़ाने पहुँचता है या

कुछ दिन एक बस्ती मेंऔर कुछ दिन दूसरी बस्ती में रहकर पढा सकता है। बजाय इसके कि बच्चों से प्रतिदिन लम्बी दूरी पैदल तय करके विद्यालय आने के लिए कहा जाए, भ्रमणशील शिक्षक को एक बस्ती से दूसरी बस्ती में जाना होता है।

सर्वेक्षण से उन स्थानों को छाटँने में भी सहायता मिली जहाँ मिडिल स्कूल खोले जा सकते थे। यह निर्णय लिया गया कि 1500 या इससे अधिक की जनसंख्या के लिए एक मिडिल स्कूल खोला जाए। यह विद्यालय एक ही बस्ती या बस्तियों के एक समूह की माँग पूरी कर सकता था। पता चला कि 31 मार्च 1957 को देश में 26,267 मिडिल स्कूल विद्यमान थे, जबकि आवश्यकता 47,992 विद्यालयों की थी। इसका अर्थ यह हुआ कि अभी और 21,735 मिडिल स्कूल खोले जाने थे। फिर भी 91,535 बस्तियाँ (कुल बस्तियों का 10.95 प्रतिशत) ऐसी रह जातीं जिनके आसपास पैदल चलकर विद्यालय आने की सामान्य सीमा में कोई मिडिल स्कूल उपलब्ध नहीं होता।

इस सर्वेक्षण की जानकारी से उपयुक्त स्थानों पर नए विद्यालय खोलने में भारी सहायता मिली। नवीनतम आकँड़े प्राप्त करने के लिए तब से तीन और विस्तृत सर्वेक्षण पूरे किए गए हैं। इस प्रकार सभी बच्चों के लिए पढ़ाई की सुविधाएँ सुलभ कराने का प्रयास किया गया है। इस संबंध में सबसे बड़ी समस्या बड़ी संख्या में छोटी-छोटी बस्तियाँ होने की रही है। इन बस्तियों में बच्चों की संख्या पूरी न होने के कारण विद्यालय खोलना संभव नहीं है।

नए विद्यालय खुल जाना ही पर्याप्त नहीं है जब तक उस क्षेत्र के सभी बच्चों को विद्यालय में भरती कराने के प्रयास न किए जाएँ।एक बड़ी समस्या लड़कियों को विद्यालयों में, विशेषकर सहशिक्षा विद्यालयों में, भेजने में माता-पिता के प्रतिरोध की है। गरीब माता-पिता तो अपने लड़कों को भी विद्यालय भेजना नहीं चाहते क्योंकि वे परिवार के काम में उनका हाथ बटा रहे होते हैं। इसीलिए प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों पर बल दिया गया जिससे प्रौढ़ों को साक्षर बनाया जा सके। आशा की गई कि साक्षर प्रौढ़ अपने बच्चों को विद्यालय भेजने में रूकावट नहीं डालेंगे। इसके साथ ही लोगों को शिक्षा की महत्ता समझाने और उन्हें अपने बच्चों को विद्यालय भेजने के लिए प्रवेश-अभियान भी चलाए गए। इन अभियानों में शिक्षकों ने घर-घर जाकर 6-14 वर्ष के आयुवर्ग के बच्चों की सूची तैयार की। इन अभियानों से शिक्षा के प्रति माता-पिता के प्रतिरोध को बड़ी सीमा तक दूर करने में सहायता मिली। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के चतुर्थ अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण के अनुसार 30 सितम्बर 1978 को 6-10 वर्ष के आयु वर्ग के 82.31 प्रतिशत बच्चे प्राथमिक विद्यालयों में पढ़ रहे थे। हिमाचल प्रदेश, केरल, महाराष्ट्र, मणिपुर, मेघालय, नागालैण्ड, पंजाब, सिक्किम, तमिलनाडु, दादरा और नगर-हवेली, गोआ, दमन तथा दीव, लक्षद्वीप, मिजोरम और पांडिचेरी जैसे कुछ राज्यों और संघीय क्षेत्रों में कुल भरती का अनुपात 100 से भी अधिक था। जिससे संकेत मिलता है कि नियत आयु वर्ग से कम और अधिक आयु के बच्चों को भी बड़ी संख्या में विद्यालय में कक्षा एक से कक्षा पाँच तक प्रवेश मिला हुआ था। 11-13 वर्ष के आयु वर्ग के बच्चों के लिए यह अनुपात 37.94 था। पूरे आयु वर्ग के लिए कुल भरती का सबसे अधिक अनुपात (91.36 प्रतिशत) केरल में और सबसे कम अनुपात (21.15 प्रतिशत) बिहार में था।

शिक्षा का कम-से-कम प्रथम चरण पूरा करने तक बच्चों को विद्यालय में बनाए रखना सबसे कठिन समस्या है। जिन बच्चों को कह-सुनकर

पहली कक्षा में प्रवेश दिलाया जाता है उनमें से बच्चों की एक बड़ी संख्या बहुत दिन तक विद्यालय में नहीं टिक पाती। जो बच्चे अपने परिवार में पढ़ने-वाले पहले बच्चे होते हैं वे भी बहुत दिन तक विद्यालय में नहीं टिक पाते। उनके घरों में शिक्षा की परंपरा ही नहीं होती। उनके माता-पिता उन्हें पढ़ने के लिए प्रोत्साहित नहीं करते। घर पर उन्हें घरेलू काम में लगा दिया जाता है। और वहां उन्हें पढ़ने-लिखने का कोई वातावरण नहीं मिलता। परिणाम यह होता है कि वे परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाते हैं और उन्हें अगले वर्ष भी उसी कक्षा में पढ़ना पड़ता है। हतोत्साहित होकर वे विद्यालय छोड़ देते हैं। कुछ बच्चे विद्यालय जाना इसलिए भी छोड़ देते हैं क्योंकि उनकी पढ़ाई-लिखाई में उनके माता-पिता और शिक्षक कोई रुचि नहीं लेते। ये बच्चे विद्यालय न जाने वाले अन्य बच्चों के साथ खेलने के लिए कक्षा में नहीं जाते। कोई भी इस बात की ओर ध्यान नहीं देता कि बच्चा कक्षा में उपस्थित है या नहीं। कुछ दिनों के बाद ये बच्चे कक्षा में अपने को पिछड़ा हुआ पाते हैं। इससे उन्हें विद्यालय छोड़ने का बहाना मिल जाता है क्योंकि वे जानते हैं कि घर पर उनकी पढ़ाई की कमी को पूरा कराने वाला कोई नहीं है। उनके विद्यालय छोड़ने का एक अन्य कारण यह भी है कि जैसे ही वे 10 वर्ष की आयु के आस-पास पहुँचते हैं, घर के कामकाज में उनकी उपयोगिता महसूस होने लगती है। लड़कियों को लड़कों से भी कम आयु में ही अपने छोटे भाई-बहनों की देखभाल करनी होती है। अपनी माँ के कामकाज में हाथ बँटाना होता है। छोटी आयु में विवाह हो जाने के फलस्वरूप भी बच्चे विद्यालय जाना छोड़ देते हैं।

इन्हीं सब कारणों से बच्चों की एक बड़ी संख्या प्राथमिक शिक्षा पूरी करने के लिए पाँच वर्ष तक भी विद्यालय में नहीं टिक पाती। अनुमान लगाया गया है कि पहली कक्षा में प्रवेश लेने वाले 100 बच्चों में से लगभग 30 बच्चे ही पाँचवीं कक्षा तक टिक पाते हैं और केवल 15 बच्चे आठवीं कक्षा तक टिकते हैं। यह बात समझी जा सकती है कि निम्न प्रारंभिक शिक्षा चरण को पूरा किए बिना बीच में ही पढ़ाई छोड़ देने वाले अधिकांश बच्चे बहुत शीघ्र निरक्षरों के वर्ग में सम्मिलित हो जाएंगे और इनकी शिक्षा पर लगाए गए प्रयास और धन बरबाद हो जाएँगे। इन दो समस्याओं—अपव्यय (निम्न प्राथमिक शिक्षा पूरी किए बिना बीच में ही विद्यालय छोड़ देना) और अवरोधन (एक ही कक्षा में फेल हो जाने के कारण बार-बार पढ़ते रहना) के कारण प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के क्षेत्र में प्रगति धीमी पड़ गई है।

जिन तीन क्षेत्रों की समस्याओं की चर्चा की गई है वे आज भी विद्यमान हैं। जो बच्चे अभी भी शिक्षा प्राप्त नहीं कर रहे हैं वे सबसे कठिन समस्या पैदा कर देते हैं जिनका हल निकालना सरल नहीं होता। प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि इन बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराई जाए। शिक्षक के रूप में आपको इन समस्याओं का सामना करना पड़ सकता है। अतः आपसे अपेक्षा है कि आप इन समस्याओं पर विचार करें और उनका हल ढूँढने का प्रयास करें।

लड़कियों की और विशेषकर समाज के कमज़ोर वर्ग के बच्चों की शिक्षा ने प्रारंभिक शिक्षा के लक्ष्य को प्राप्त करने में कठिन समस्याएँ पैदा की हैं। बहुत प्रयास करने के बावजूद शिक्षा-कार्यक्रमों में अन्य बच्चों की अपेक्षा इन बच्चों और लड़कियों की संख्या कम है। आगे के पृष्ठों में हम इन समस्याओं पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

शिक्षा-कार्यक्रमों के अंतर्गत जितने बच्चों को विद्यालय में लाना है उनमें लड़कियों की संख्या मोटे तौर पर आधी है। विभिन्न कारणों से बड़ी संख्या में लड़कियाँ विद्यालयों में नहीं जातीं। इससे

प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के लक्ष्य की प्राप्ति में भारी बाधा पहुँचती है। इसके कुछ कारण निम्नलिखित हैं :-

1. **पारंपारिक पूर्वाग्रह** : परंपरा के अनुसार माता-पिता, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों के माता-पिता अपनी लड़कियों को पढ़ने के लिए विद्यालय नहीं भेजते। इन परंपराओं की पकड़ अब धीरे-धीरे ढीली होती जा रही है। लोग सामान्यत: 11 वर्ष से अधिक आयु की लड़कियों की शिक्षा पर आपत्ति करते हैं।

2. **पृथक विद्यालयों का अभाव** : सामान्यत: माता-पिता अपनी युवा लड़कियों को मध्य विद्यालयी चरण में सहशिक्षा वाले विद्यालयों में भेजना नहीं चाहते, यद्यपि अधिकांश स्थानों पर निम्न प्रारंभिक विद्यालय चरण में यह समस्या नहीं होती। सीमित संसाधन होने के कारण हर जगह लड़कियों के लिए अलग विद्यालय खोलना संभव नहीं है। अत: लड़कियों की एक बड़ी संख्या या तो पढ़ाई से बैठा ली जाती है अथवा उन्हें विद्यालय भेजा ही नहीं जाता।

3. **महिला शिक्षकों की कमी** : अनेक माता-पिता यह नहीं चाहते कि उनकी लड़कियों को पढ़ाने के लिए पुरुष शिक्षक हों। वे चाहते हैं कि केवल महिला शिक्षक ही उनकी लड़कियों को पढ़ाएँ। ये महिला शिक्षक लड़कियों की कठिनाई को आसानी से समझ भी सकती हैं। कम-से-कम ऐसी महिला शिक्षकों का मिलना एक समस्या है जो दूरस्थ ग्रामीण क्षेत्रों में जाकर काम करने को तैयार हों फिर भी शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ इस स्थिति में पर्याप्त सुधार होता जा रहा है।

4. **घरेलू काम** : लड़कियों को विद्यालय नहीं भेजे जाने में घरेलू कामकाज भी एक मुख्य कारण है। माता-पिता यह सोचते हैं कि लड़कियों के लिए घर संभालना पहला दायित्व है और उन्हें कम आयु से ही घर के कामकाज में लगा देना चाहिए। गरीब घरों की लड़कियों को घर का कामकाज करने के अलावा अपने छोटे भाई-बहनों की भी देखभाल करनी पड़ती है। विशेषकर गाँवों में अनेक माता-पिता यह प्रश्न उठाते हैं : लड़कियों को पढ़ने के लिए विद्यालय भेज दिया जाए तो घर का कामकाज कौन करेगा?

5. **गरीबी** : माता-पिता की गरीबी भी एक कारण है। रोजी-रोटी जुटाने के लिए माता-पिता बच्चों से मजदूरी कराने को या स्वयं बाहर काम के लिए जाने पर उन्हें घर का कामकाज संभालने को विवश हो जाते हैं। गरीब माता-पिता के लिए बच्चों के लिए विद्यालय की वर्दी और लेखन-सामग्री जुटाना भी भार मालूम होता है। प्राय: लड़कियों को विद्यालय से उठा लिया जाता है और लड़कों को पढ़ाई जारी रखने की अनुमति जैसे-तैसे मिल जाती है।

6. **बाल-विवाह** : कुछ लड़कियों का विवाह विशेष रूप से गाँवों में कम आयु में कर दिया जाता है। इसके कारण उन्हें पढ़ाई छोड़ देनी पड़ती है। अब इस स्थिति में धीरे-धीरे परिवर्तन आ रहा है और अब पहले-जैसी बात नहीं रह गई है।

7. **घर से दूरी** : उन स्थानों पर जहाँ लड़कियों को पढ़ने के लिए दूरस्थ विद्यालयों में जाना पड़े प्राय: पढ़ाई से उठा लिया जाता है। माता-पिता लड़कियों को सुदूर विद्यालयों में भेजने का विचार पसंद नहीं करते। इस कारण प्राय: ऐसे स्थानों की लड़कियों को जहाँ पैदल चल कर पहुँचने की सीमा में कोई विद्यालय न हो, दूर के विद्यालय में नहीं भेजा जाता।

8. **अनुपयुक्त पाठ्यक्रम** : लड़कियों को क्या पढ़ाया जाना चाहिए, इस प्रश्न का उत्तर पाना

भी सरल नहीं है। कुछ लोगों का मत है कि लड़कियों के लिए घर का कामकाज करना और रसोई संभालना अधिक महत्वपूर्ण है। कुछ अन्य लोगों का विचार है कि लड़कियों के लिए भी वे पाठ्यक्रम होने चाहिए जो लड़कों के लिए हैं जिससे कि लड़कों और लड़कियों में समानता रह सके। ग्रामीण क्षेत्रों में लोग चाहते हैं कि लड़कियों के लिए विशेषकर मध्य विद्यालयी चरण में पाठ्यक्रम अलग रहें। इस मांग को पूरा करना संभव नहीं है क्योंकि तब लड़के और लड़कियों के लिए अलग-अलग अध्ययन-सामग्री तैयार करनी होगी। अतः उपयुक्त पाठ्यक्रम न होने के कारण भी कुछ लड़कियों को विद्यालय से उठा लिया जाता है।

प्रत्येक क्षेत्र में इनमें से कुछ अथवा सभी कारणों का प्रभाव लड़कियों की पढ़ाई पर पड़ता है। प्रारंभिक शिक्षा की सार्वजनीनता के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक क्षेत्र से संबद्ध इन कारणों को समझ लिया जाए जिससे इन समस्याओं का हल निकाला जा सके। यह बात तो बिलकुल स्पष्ट है कि इन कठिनाईयों को दूर करके जब तक सभी लड़कियों को पढ़ने के लिए विद्यालय नहीं पहुँचाया जाता तब तक प्रारंभिक शिक्षा की सार्वजनीनता के लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

समाज के कमजोर वर्ग के अंतर्गत (1) अनुसूचित जातियाँ (2) अनुसूचित जनजातियाँ (3) विमुक्त जनजातियाँ (4) घुमंतू जनजातियाँ और (5) गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले अन्य लोग आते हैं। समाज के इन वर्गों के बच्चों को शिक्षा के अवसर प्रदान करने में अनेक समस्याएँ आ रही हैं।

शताब्दियों से अनुसूचित जातियों को अस्पृश्य माना जाता रहा है और उन्हें समाज की मुख्य धारा से अलग रखा जाता रहा है। फलस्वरूप उन्हें निकृष्ट काम करना पड़ता था और वे हमेशा गरीब बनी रहीं। स्वतंत्रता के बाद उनकी आर्थिक दशा में सुधार लाने और समाज में समानता का स्थान दिलाने के लिए किए गए प्रयासों से उनकी स्थिति पर्याप्त सुधर गई है। अस्पृश्यता की बुराई को बड़ी सीमा तक नियंत्रित कर लिया गया है। यद्यपि कुछ लोगों के मन में अभी भी यह भावना प्रच्छन्न रूप से घर किए हुए है। अब शिक्षा देते समय उनके बच्चों के साथ पहले की तरह भेदभाव नहीं बरता जाता। उन्हें छात्रवृत्ति, वर्दी, किताबें और लेखन-सामग्री तथा रोजगार के अवसरों में आरक्षण जैसे प्रोत्साहन मिलने से अब स्थिति में पर्याप्त सुधर आ गया है। फिर भी अन्य गरीब लोगों की भाँति इन्हें भी गरीबी के हौए से जूझना पड़ता है। ये लोग इतने दीर्घकाल से गरीबी से जूझते रहे हैं और समाज से अलग रहे हैं कि उनके मन में अपनी दशा में सुधार की सभी आशाएँ और उत्साह मर चुका है। उन्होंने अपनी गरीबी की स्थिति से समझौता कर लिया जान पड़ता है। फलस्वरूप निःशुल्क शिक्षा, छात्रवृत्ति आदि की सुविधाएँ उपलब्ध होने पर भी अभी तक इन वर्गों के बच्चे बड़ी संख्या में उनका लाभ नहीं उठा पाते। गरीबी से दबे होने के कारण इस वर्ग के बच्चों को परिवार के भरण-पोषण के लिए कामकाज करना पड़ता है। विद्यालय जाने का सुख उनके भाग्य में नहीं होता। परन्तु अब वे धीरे-धीरे अपने समता के अधिकारों के प्रति सचेत होते जा रहे हैं। शिक्षा के प्रसार से उनके विरूद्ध सामाजिक भेदभाव समाप्त हो रहे हैं। फिर भी शैक्षिक गतिविधियों में उनका योगदान अपेक्षित स्तर से अभी बहुत कम है। अनुसूचित जातियों के सभी बच्चे पढ़ने के लिए विद्यालय जाएँ, इसके लिए यह आवश्यक है कि उन्हें समझाने-बुझाने का जमकर प्रयास किया जाए और उनके क्षेत्र की आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार उन्हें सुविधाएँ प्रदान की जाएँ। इन जातियों की

लड़कियों की शिक्षा की समस्या तो और भी विषम है।

दूसरी ओर अनुसूचित जानजातियों की प्रबल पारंपरिक संस्कृति रही है। उनकी सांस्कृतिक विभिन्नताओं के कारण इन विद्यालयों में इनके बच्चों की शिक्षा का मेल सरलता से नहीं बैठ पाता। उदाहरणार्थ अधिकांश जनजातियों की अपनी बोली होती है। यदि शिक्षक उनकी बोली नहीं समझता तो उसके और उसके छात्रों के बीच संवाद में कठिनाई होती है। उनके जीवन का रंग-ढंग एकदम अलग होता है और उनको अपनी जीवन-विधा बदलने में कोई रूचि नहीं होती। शिक्षा के प्रसार के विचार से उन्हें विशेष छात्रवृत्तियाँ देकर उनके बच्चों को शिक्षित बनाने के प्रयासों के भी सीमित परिणाम ही निकले हैं। शिक्षित हो जाने पर ये बच्चे अपनी जनजाति में लौटना नहीं चाहते और उससे दूर हो जाते हैं। जनजातियाँ एक दूसरी से और समाज की मुख्य धारा के अन्य अंगों से दूर छोटी-छोटी बस्तियों में रहती हैं। जनजातीय क्षेत्रों में ऐसे स्थानों पर विद्यालय खोलना, जहाँ प्रत्येक बच्चा पैदल पहुँच सके, एक कठिन समस्या है। इन क्षेत्रों के लिए शिक्षक तैयार करने में भी अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। पहले तो इन शिक्षकों को जनजतियों के जीवन और संस्कृति से परिचित कराना होता है और यदि वे जनजातियों की संस्कृति को पसंद नहीं करें तो उसके प्रति उनमें सहिष्णुता के भावना पैदा करनी पड़ती है। दूसरे, शिक्षकों को ऐसे जनजातीय क्षेत्रों में रहने के लिए तैयार करना पड़ता है। जहाँ जीवन की सामान्य सुविधाएँ भी सरलता से उपलब्ध नहीं होतीं। तीसरे, उन्हें जनजातियों की बोली को जानना और समझना पडता है। जनजातीय बच्चों की अध्यंयन-सामग्री तैयार करने में इसी प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं। इन सब कठिनाइयों को देखते हुए इन बच्चों की शिक्षा के लिए आश्रम विद्यालय अधिक उपयुक्त समझे गए हैं। बच्चों को पूरी शिक्षा के दौरान आश्रम विद्यालयों में रखा जाता है और उनके रहने और खाने का व्यय सरकार वहन करती है। किन्तु घर से इस अलगाव का एक फल यह होता है कि पढ़ाई पूरी कर लेने के बाद बच्चे अपने परिवार में पुनः लौटना नहीं चाहते। इस प्रकार जनजातीय लोगों की शिक्षा एक जटिल समस्या है और उस पर एक साथ अनेक दृष्टिकोणों से विचार करना पड़ता है।

घुमन्तू जनजातियाँ यद्यपि संख्या में अधिक नहीं हैं, फिर भी सबसे अधिक कठिनाई पैदा करती हैं। ये लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते हैं। अतः उनके बच्चों को शिक्षा प्रदान करने के लिए यही संभव है कि या तो चल-विद्यालय खोला जाए जो उनके साथ-साथ चलता रहे अथवा इनके बच्चों को शिक्षा की पूरी अवधि के लिए आश्रम विद्यालयों में रखा जाए।

समाज के कमज़ोर वर्गों की इन विशिष्टताओं के अतिरिक्त एक सामान्य समस्या उनके लिए उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल और उनकी सांस्कृतिक परिस्थितियों से सम्बद्ध उपयुक्त शैक्षिक-कार्यक्रम बनाने की है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक क्षेत्र की स्थानीय परिस्थितियों और आवश्यकताओं का अध्ययन करने के बाद विशेष पाठ्यक्रम बनाए जाएँ जिससे समाज के इन वर्गों में अपने बच्चों को विद्यालय भेजने के लिए उत्साह पैदा हो। देश में विभिन्न क्षेत्रों के लिए ऐसी अध्ययन-सामग्री तैयार करने में प्रशिक्षण संस्थानों के छात्र-शिक्षकों को सम्मिलित करने का प्रयास किया जा रहा है। प्रशिक्षण कार्यक्रम के अंग के रूप में आपको भी इन कार्यकलापों में सम्मिलित किया जाएगा। फिर भी, यह समझ लेना आवश्यक है कि जब तक समाज के कमज़ोर वर्ग के बच्चों को उनकी आवश्यकताओं और

परिस्थितियों के अनुसार शैक्षिक सुविधाएँ उपलब्ध नहीं कराई जातीं तब तक प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो पाएगी।

सारांश

1. पारंपरिक और सामाजिक-आर्थिक कारणों से लड़कियाँ शैक्षिक कार्यक्रमों में भाग नहीं ले पातीं।
2. समाज के कमज़ोर वर्गों की अपनी विशिष्ट संस्कृति होती है, अतः इन बच्चों को उनकी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार शैक्षिक कार्यक्रम और सुविधाएँ उपलब्ध कराई जानी चाहिएँ।
3. प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समाज के कमज़ोर वर्गों के लड़के और लड़कियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

विचिंतन प्रश्न

1. आपके विचार से क्या आपकी बस्ती की सभी लड़कियाँ विद्यालय जाती हैं? यदि नहीं, तो उन कारणों का पता लगाइए जिनसे कुछ माता-पिता अपनी लड़कियों को विद्यालय भेजने में हिचकिचाते हैं।
2. क्या आपके विचार से आपके क्षेत्र में कमज़ोर वर्गों के बच्चों के साथ विद्यालयों में समता का व्यवहार किया जाता है? इन बच्चों के विद्यालय जाने पर उनके सामने क्या-क्या कठिनाइयाँ आती हैं?

इकाई : 6.3 प्रारंभिक विद्यालयों का नियंत्रण और संरक्षण

प्रारंभिक शिक्षा की प्रशासन व्यवस्था को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह जान लें कि देश में कितने प्रकार के प्रारंभिक विद्यालय हैं। नाम की दृष्टि से विद्यालयों को दो वर्गों मे बांटा जा सकता है–

1. सरकारी विद्यालय (जिनमें नगरपालिका/जिला परिषदों के विद्यालय भी हैं।)
2. गैर-सरकारी विद्यालय (जिनमें पब्लिक स्कूल भी हैं।)

प्रथम श्रेणी के विद्यालयों को राज्य सरकारें तथा नगरपालिका अथवा जिला परिषद् जैसे स्थानीय निकाय चलाते हैं। इन विद्यालयों के शिक्षक सरकारी अथवा स्थानीय निकायों के कर्मचारी होते हैं और ये एजेंसियाँ ही इन विद्यालयों के पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें निर्धारित करती हैं। इन विद्यालयों की संख्या बहुत बड़ी है क्योंकि संविधान के अनुसार यह राज्य (जिसमें केन्द्र और राज्य सरकारें सम्मिलित हैं) का दायित्व है कि वह 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराए। इस संबंध में आप संविधान के अनुच्छेद 45 को देख सकते हैं जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

गैर-सरकारी विद्यालय कुछ विशिष्ट उद्‌देश्यों को ध्यान में रखकर तथा सामान्यतः समाज के किसी विशिष्ट वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विभिन्न संस्थाओं ने स्थापित किए हैं। संविधान के अनुच्छेद 30 (i) में प्रावधान है कि अल्पसंख्यक वर्गों को, चाहे धर्म के आधार पर अथवा भाषा के आधार पर, अपनी इच्छा की शिक्षा-संस्थाओं को खोलने तथा चलाने का अधिकार है। अतः इन विद्यालयों को विभिन्न स्वयंसेवी संस्थाएँ चला रही हैं और अधिकांश के नाम दानदाताओं के नाम पर होते हैं।

ये विद्यालय शिक्षकों की नियुक्ति स्वयं करते हैं और इन्हें बच्चों से शुल्क लेने की अनुमति है। इन विद्यालयों को नियंत्रित करने वाली संस्थाएँ ही उनके पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों का निर्धारण करती हैं।

गैर-सरकारी विद्यालयों की स्थापना के लिए सरकार से मान्यता प्राप्त करनी होती है। यदि ये विद्यालय भवन, फर्नीचर, सफाई-व्यवस्था, योग्य स्टाफ, वित्तीय सामर्थ्य और उपयुक्त पाठ्यक्रम जैसी कुछ शर्तों को पूरा कर देते हैं तो उन्हें मान्यता प्राप्त हो जाती है। मान्यता प्राप्त हो जाने पर ये विद्यालय अपने छात्रों को स्थानांतरण प्रमाणपत्र दे सकते हैं जिन्हें सरकारी विद्यालय स्वीकार कर लेते हैं। मान्यता प्राप्त होने से बच्चों के माता-पिता भी इस बात से संतुष्ट हो जाते हैं कि इन विद्यालयों में उनके बच्चों को अच्छी शिक्षा मिल रही है। अतः इन विद्यालयों के पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें या तो वही होती हैं जो सरकारी विद्यालयों की हैं या उनसे बेहतर होती हैं। जिन विद्यालयों को मान्यता प्राप्त नहीं होती, उनमें अधिक बच्चे प्रवेश नहीं लेते। फलस्वरूप ऐसे विद्यालय शिक्षा की निजी दुकानें बनकर रह जाते हैं।

इन गैर-सरकारी विद्यालयों को पुनः दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है (1) सरकार से सहायता प्राप्त करने वाले और (2) सहायता प्राप्त न करनेवाले विद्यालय। सहायता प्राप्त विद्यालय वे विद्यालय होते हैं जिन्हें अपने संचालन के लिए सरकार से सहायता-अनुदान मिलता है। सहायता-अनुदान के अंतर्गत सामान्यतः शिक्षकों के वेतन, भवनों की मरम्मत, उपकरणों की खरीद तथा फर्नीचर के मूल्य जैसे विद्यालय के आवर्ती व्यय का अधिकांश अंश आता है। इन विद्यालयों को सहायता-अनुदान इसलिए दिया जाता है जिससे वे उन स्थानों पर अच्छी तरह से काम कर सकें जहाँ विद्यालय का होना समाज के हित में हो। ऐसे विद्यालय सामान्यतः परोपकारी संस्थाएँ चलाती हैं जो भवन के निर्माण और उपकरणों पर प्रारंभिक व्यय तो कर देती हैं किन्तु आय का कोई स्रोत न होने के कारण उन्हें शिक्षकों के वेतन और उपकरणों तथा फर्नीचर के रख-रखाव जैसे आवर्ती व्यय को पूरा करने में कठिनाई होती है। इस प्रकार के विद्यालय सरकार की दृष्टि से भी लाभदायक रहते हैं। भवन और उपकरणों पर प्रारंभिक अनावर्ती व्यय का वहन स्वयंसेवी संस्थाएँ कर लेती हैं और जनता को एक ऐसा विद्यालय मिल जाता है जिसमें सरकार को अपने निजी विद्यालयों की अपेक्षा बहुत कम व्यय करना होता है। विद्यालय के संचालन में सहायता प्राप्त विद्यालय सामान्यतः सरकार द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करते हैं। इन विद्यालयों का निरीक्षण सरकार द्वारा नियुक्त निरीक्षक करते हैं। दूसरी ओर, सहायता प्राप्त न करनेवाले विद्यालय इन नियमों से बंधे नहीं होते पर व्यापक रूप से सरकार द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों का अनुगमन करते हैं। उन्हें अपनी इच्छा से काम का संचालन करने की पूरी स्वतंत्रता होती है।

अनेक संस्थाओं द्वारा संचालित पब्लिक स्कूलों को सहायता न पानेवाले गैर-सरकारी विद्यालयों की श्रेणी में रखा जा सकता है, यद्यपि इन

विद्यालयों में और सरकार द्वारा स्वीकृत सहायता प्राप्त विद्यालयों में अनेक प्रकार से भिन्नताएँ होती हैं। पब्लिक स्कूलों की शिक्षा का माध्यम अनिवार्यतः अंग्रेजी होता है और ये अपने छात्रों से शुल्क लेते हैं। अनेक पब्लिक स्कूलों का रूप आवासीय होता है। छात्रों को भारी सुविधाएँ उपलब्ध होने तथा इन विद्यालयों को समाज के संभ्रांत वर्गों की संस्था समझा जाता है और इन विद्यालयों की सार्वजनिक आलोचना होती है। उदाहरणार्थ उनके 'पब्लिक' नाम को लेकर इन विद्यालयों की आलोचना की जाती है 'जबकि ये विद्यालय 'पब्लिक' या 'जनसाधारण' के लिए नहीं, बल्कि संभ्रांत और धनी लोगों के लिए होते हैं। इन विद्यालयों के विरोध में यह भी तर्क दिया जाता है कि ये वर्ग-भेद को बढ़ावा देते हैं और हमारे संविधान में सन्निहित समाज के समाजवादी ढाँचे से मेल नहीं खाते। प्रायः सुझाव दिया जाता है कि इन विद्यालयों की संभ्रांत प्रकृति में परिवर्तन लाने के लिए सरकार उनमें गरीब और प्रतिभावान छात्रों को प्रवेश दिलाए और उनकी शुल्क तथा अन्य व्ययों को वहन करे। इन विद्यालयों में शुल्क वहन किए जाने की तीव्र आलोचना होती है क्योंकि संविधान के अनुच्छेद 45 के अनुसार सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराना राज्यों का दायित्व है। किन्तु संविधान के इस अनुच्छेद की व्याख्या अब तक इस प्रकार की गई है कि सरकार ऐसे विद्यालयों की व्यवस्था तो करेगी जिनमें निःशुल्क शिक्षा दी जाए और जहाँ सभी बच्चों को सरलता से प्रवेश मिल सके किन्तु वह गैर-सरकारी विद्यालयों को खोलने के रास्ते में तब तक रोड़ा नहीं अटकाएँगी जब तक माता-पिता अपने बच्चों की शिक्षा के लिए अपनी इच्छा से व्यय करने को तैयार हों। इस प्रकार देश में सरकारी और गैर-सरकारी विद्यालय समानांतर रूप से चल रहे हैं।

विद्यालयों को उनके आकार के अनुसार भी वर्गीकृत किया जा सकता है। एक मोटा विभाजन बड़े विद्यालय और छोटे विद्यालय के रूप में हो सकता है किन्तु इस प्रकार के वर्गीकरण का कोई विशेष अर्थ नहीं है। विद्यालयों का शिक्षकों की संख्या के अनुसार वर्गीकरण करना अधिक उचित होगा। इस वर्गीकरण के अनुसार एक-शिक्षक विद्यालय, दो-शिक्षक विद्यालय और बहु-शिक्षक विद्यालय होते हैं। इस वर्गीकरण से इन विद्यालयों के शिक्षकों की विशेष समस्याओं को समझने में सहायता मिलेगी। एक-शिक्षक विद्यालय छोटी बस्तियों में होते हैं जहाँ की कुल जनसंख्या 300 या इसके आसपास होती है। इन बस्तियों में विद्यालय जाने योग्य आयु (6 से 11 वर्ष) के बच्चों की संख्या 30 से 40 तक होती है। यह संख्या सभी कक्षाओं में पढ़ रहे बच्चों की कुल संख्या होती है और एक ही शिक्षक को सभी कक्षाओं को पढ़ाना पड़ता है। इन शिक्षकों को अलग-अलग कक्षाओं को पढ़ाने में अपना समय बाँटने के लिए विभिन्न तकनीकों से काम लेना होता है। सामान्यतः ये शिक्षक एक कक्षा को पढ़ाने के लिए शेष कक्षाओं के बच्चों को स्वाध्याय में लगा देते हैं। कभी-कभी कक्षाओं को एक साथ मिला दिया जाता है और बच्चों को कार्य में व्यस्त रखने के लिए वे ऊँची कक्षाओं के छात्रों की सहायता लेते हैं। प्रशासन की दृष्टि से एक-शिक्षक विद्यालयों की अनेक समस्याएँ होती हैं। इन विद्यालयों के सुदूर क्षेत्रों में स्थित होने के कारण जब शिक्षक एक या दो दिन की छुट्टी पर जाता है तब उसके स्थान पर किसी अन्य शिक्षक को भेजना कठिन होता है। शिक्षक के अनुपस्थित हो जाने पर ये विद्यालय सामान्यतः बंद ही रहते हैं। शिक्षक की बारबार अनुपस्थिति से इन छात्रों का उत्साह भी मंद हो जाता है। वे सामान्यतः अपने घर में पढ़ने वालों की पहली पीढ़ी से होते हैं और उन्हें अपने माता-पिता से पढ़ने के लिए

शायद ही कोई प्रोत्साहन मिल पाता है।

शैक्षिक दृष्टि से भी ये विद्यालय विशिष्ट समस्याएँ खड़ी करते हैं। अधिकांश स्थानों में इन विद्यालयों के शिक्षकों के लिए विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रम नहीं चलाए जाते। सेवा-पूर्व शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में शिक्षकों को होने वाली कठिनाईयों से ही इस बात की समुचित शिक्षा मिल पाती है कि एक या दो से अधिक कक्षाओं को एक साथ किस प्रकार सँभाला जाए। फलस्वरूप इन विद्यालयों के शिक्षकों को एक ही समय पर चार-पाँच कक्षाओं को पढ़ाने की अच्छी तकनीक स्वयं बनानी पड़ती है। इन शिक्षकों का अलग से कोई संवर्ग भी नहीं होता जिससे विशेष सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रम उपलब्ध कराया जा सके। शिक्षकों का एक विद्यालय से दूसरे विद्यालय में बार-बार स्थानांतरण होते रहने के कारण इन विद्यालयों में सभी प्रकार के शिक्षक पहुँचते हैं। फलस्वरूप इन विद्यालयों के छात्रों की उपलब्धि की तुलना प्राय: अच्छे और बहु-शिक्षक विद्यालयों से नहीं की जा सकती। प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के प्रयास के फलस्वरूप भी ऐसे विद्यालयों के काम की ओर उचित ध्यान देना आवश्यक हो गया है। इस प्रकार के विद्यालयों की अवांछनीयता के प्रति अनुभूति बढ़ती जा रही है। प्राय: सभी राज्यों और संघीय क्षेत्रों में स्थित विद्यालयों में छात्रों की संख्या का विचार किए बिना उन्हें दो-शिक्षक विद्यालयों में परिवर्तित करने का प्रयास किया जा रहा है। यह उल्लेखनीय है कि अधिकांश राज्यों में प्रारंभिक शिक्षा के लिए उपलब्ध साधन सीमित होने के कारण ही ये विद्यालय अभी भी चल रहे हैं।

दो-शिक्षक विद्यालय सामान्यत: उन बस्तियों में होते हैं जहां की जनसंख्या लगभग 500 होती है और जहाँ विद्यालय जाने वाले बच्चों की संख्या 50-60 होती है। एक-शिक्षक विद्यालयों की तुलना में ये विद्यालय अधिक व्यवस्थित होते हैं। फिर भी कक्षा में पढ़ाई के संबंध में इनकी भी वही सीमाएँ होती हैं जो एक-शिक्षक विद्यालयों की होती हैं। बहुसंख्यक बस्तियों के विद्यालयों में बच्चों की कम संख्या होने कारण इन विद्यालयों के लिए अतिरिक्त शिक्षकों की व्यवस्था करना संभव नहीं होता। अत: सभी प्राथमिक-विद्यालय-शिक्षकों को एक ही समय पर एक से अधिक कक्षाओं को सँभालने का प्रशिक्षण देने की आवश्यकता है।

बहु-शिक्षक विद्यालय बड़ी-बड़ी बस्तियों अथवा शहरी क्षेत्रों में होते हैं। इनमें से कुछ विद्यालयों में एक विशेष समस्या बड़ी-बड़ी कक्षाओं को सँभालने की है। अनुभव से पता चलता है कि शिक्षण को सुचारु रूप से चलाने के लिए प्राथमिक विद्यालय की कक्षा में छात्रों की संख्या 40 से अधिक नहीं होनी चाहिए। कुछ विद्यालयों में एक-एक कक्षा में 55-60 तक छात्र होते हैं। उनमें शिक्षकों की कमी के कारण कक्षा को दो भागों में बाँटना संभव नहीं होता। एक ही शिक्षक के लिए प्रत्येक छात्र की पढ़ाई पर समुचित ध्यान दे पाना भी सम्भव नहीं होता। बड़ी-बड़ी कक्षाओं की समस्याओं के निराकरण के लिए इन कक्षाओं को पढ़ाने वाले शिक्षकों को भी विशेष सेवाकालीन प्रशिक्षण प्रदान करने की आवश्यकता है।

इस ढंग से विद्यालयों का वर्गीकरण करने से इन विद्यालयों से संबद्ध विशेष शैक्षिक एवं प्रशासनिक समस्याओं को समझने में सहायता मिलती है। दूर-दूर विशेषकर गाँवों में, बड़ी संख्या में विद्यमान एक-शिक्षक और दो- शिक्षक विद्यालयों के एकाकी स्वरूप को अनुभव कर शिक्षा आयोग (1964-66) ने यह सुझाव दिया था कि मिडिल स्कूल अथवा माध्यमिक विद्यालय के साथ कई प्राथमिक विद्यालयों को जोड़कर एक विद्यालय

संकुल (स्कूल कौम्पलैक्स) बनाया जाए, जहाँ विद्यालय एक परिवार के सदस्य के रूप में काम करें और विभिन्न समस्याओं को हल करने में एक दूसरे की सहायता करें। यह सुझाव स्वीकार कर लिया गया है और अधिकांश राज्यों में विद्यालय संकुल बना दिए गए हैं, जहाँ विद्यालयों की अनेक समस्याओं का हल स्थानीय स्तर पर कर लिया जाता है।

विद्यालयों के प्रकारों का अध्ययन करते हुए आपने इस बात पर ध्यान दिया होगा कि देश में केवल ऐसे ही विद्यालय नहीं हैं जो सरकार के अथवा स्थानीय निकायों के नियंत्रण में हों बल्कि ऐसे विद्यालय भी हैं जो अन्य स्वयंसेवी संस्थाओं के नियंत्रण में हैं। सरकार न केवल ऐसे विद्यालयों को मान्यता प्रदान कर बल्कि कुछ मामलों में उनके रख-रखाव के लिए सहायता अनुदान देकर भी स्वयंसेवी संस्थाओं के प्रयासों को प्रोत्साहित करती है। ऐसा आंशिक रूप से इसलिए करना पड़ता है क्योंकि संविधान के अनुच्छेद 45 के अनुसार सभी लोगों को उपलब्ध कराई जाने वाली शिक्षा के लिए देश की सभी बस्तियों में विद्यालय खोलने और उनके रख-रखाव के लिए सरकार के पास साधनों की कमी है। साथ ही संविधान के अनुच्छेद 30 (1) और 46 के अनुसार अल्पसंख्यक वर्गों को अपने बच्चों की शिक्षा के लिए अपनी इच्छा के विद्यालय स्थापित करने की अनुमति है। इस स्थिति से विद्यालयों के नियंत्रण में दोरुखापन आ गया है और शिक्षा के लिए वित्तीय व्यवस्था कुछ जटिल हो गई है। अगले पृष्ठों में हम प्रारंभिक शिक्षा के नियंत्रण और समर्थन में केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, स्थानीय निकायों और स्वयंसेवी संस्थाओं की भूमिका का एक-एक कर विश्लेषण करेंगे।

प्रारंभिक शिक्षा की वित्त-व्यवस्था और नियंत्रण के संदर्भ में भारत सरकार और राज्य सरकारों की भूमिकाओं में अंतर समझ लेना आवश्यक है। भारत के संविधान में केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों के विभिन्न विषयों संबंधी विधायी अधिकारों के इस विभाजन का प्रावधान है। विभाजन की तीन श्रेणियां हैं : (1) संघीय सूची, (2) राज्य सूची और (3) समवर्ती सूची। संघीय सूची में वे विषय हैं जिन पर भारत सरकार और 'संसद' का एकमात्र नियंत्रण रहता है। राज्य सूची में उल्लिखित विषय राज्य सरकारों के विधायी क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं और समवर्ती सूची में उल्लिखित विषयों पर केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार—दोनों कानून बना सकते हैं। इस वर्गीकरण के अनुसार विद्यालय शिक्षा को राज्य सूची में रखा गया था परन्तु 1976 में इसे समवर्ती सूची में रखा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि विद्यालय शिक्षा पर केवल राज्य सरकारों का नियंत्रण था और भारत सरकार का इस संबंध में न तो प्रत्यक्ष दायित्व था और न ही उसके पास कोई विधायी अधिकार था। किन्तु संविधान के अनुच्छेद 45 में 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने का दायित्व 'राज्य' पर रखा गया है। इस अनुच्छेद में प्रयुक्त 'राज्य' शब्द की व्याख्या अनुच्छेद 12 में दी गई है। उसके अनुसार 'राज्य' के अंतर्गत "भारत की सरकार तथा संसद तथा राज्यों मे से प्रत्येक की सरकार और विधान मंडल, तथा भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर अथवा भारत सराकर के नियंत्रण के अधीन सब स्थानीय और अन्य प्राधिकारी भी है।" इस प्रकार भारत सरकार पर प्रारंभिक शिक्षा का परोक्ष दायित्व है जबकि राज्य सरकारों का प्रारंभिक शिक्षा पर सीधा नियंत्रण और अधिकार है। अपना दायित्व निभाने में भारत सरकार न केवल एक समन्वयकर्ता का काम करती है बल्कि (1) राज्य सरकारों द्वारा व्यापक क्रियान्वयन के लिए विशेष मार्गदर्शी योजनाएँ बनाती है, (2) शिक्षा के समान

अवसर प्रदान करने के उद्देश्य से भिन्न-भिन्न राज्यों के लिए निम्नतम लक्ष्यों का निर्धारण करती है और (3) इस प्रकार से वित्तीय सहायता करती है कि दुर्बल अथवा कम सुविधाएँ प्राप्त राज्य उन्नत राज्यों के समकक्ष आ सकें या कम-से-कम प्रारंभिक शिक्षा के संबंध में राज्यों के बीच की भारी विषमताएँ कम हो सकें। किन्तु भारत सरकार प्रारंभिक शिक्षा के लिए प्रत्यक्ष वित्त-व्यवस्था नहीं करती। इसलिए तिब्बती विद्यालय संगठन और केन्द्रीय विद्यालय सगठन को छोड़, उसका प्रारंभिक शिक्षा पर सीधा नियंत्रण नहीं है। इन दो संगठनों को भारत सरकार से इस कारण धन मिलता है और वे इसलिए उसके नियंत्रण में हैं क्योंकि यह दायित्व किसी राज्य सरकार पर नहीं डाला जा सकता था। तिब्बती विद्यालय संगठन की स्थापना तिब्बती शरणार्थियों की शैक्षिक आवश्यकताओं को तब तक के लिए पूरा करने की दृष्टि से की गई थी जब तक तिब्बती-शरणार्थी समस्या का अंत नहीं हो जाता। देश भर में केन्द्रीय विद्यालयों की स्थापना स्थानांतरण और पदोन्नति होने पर एक से दूसरे स्थान पर जाने वाले केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों के बच्चो के लाभ के लिए समान पाठ्यक्रम की व्यवस्था करने की दृष्टि से की गई थी। इस तरह प्रारंभिक शिक्षा राज्य सरकार के नियंत्रण में होती है और उसका व्यय मुख्यत: राज्य सरकारें अपने संसाधनों से वहन करती है। इसकी पूर्ति एक ओर केन्द्रीय अनुदान से और दूसरी ओर स्थानीय निकायों और स्वयंसेवी संस्थानों के संसाधनों से होती है।

प्रारंभिक शिक्षा के समर्थन और नियंत्रण के लिए राज्य सरकारों को व्यापक रूप से निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना होता है :—

1. उसे प्रारंभिक शिक्षा के लिए सभी वित्तीय संसाधन जुटाने होते हैं। उनकी पूर्ति केन्द्रीय अनुदानों और स्थानीय निकायों तथा स्वयंसेवी संस्थाओं के अंशदानों से की जाती है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में प्रारंभिक विद्यालयों में सुधार के लिए केन्द्रीय सरकार की ओर से एक पूँजी निवेश का उल्लेख है। इस कार्यक्रम को ''आपरेशन ब्लैक बोर्ड'' का नाम दिया गया है। इसमें यह परिकल्पना है कि ''प्राथमिक विद्यालयों में आवश्यक सुविधाओं की व्यवस्था की जाएगी। इनमें हर मौसम में काम आ सकनेवाले कम-से-कम दो बड़े कमरे, आवश्यक खिलौने, ब्लैक बोर्ड, चार्ट, नक्शे तथा अन्य शिक्षण सामग्री शामिल है। प्रत्येक विद्यालय में कम-से-कम दो अध्यापकों का प्रावधान होगा, जिनमें एक महिला होगी। यथासंभव जल्दी ही प्रत्येक कक्षा के लिए एक-एक अध्यापक की व्यवस्था की जाएगी।

2. उसे प्रारंभिक शिक्षा पर नियंत्रण बनाए रखने के लिए आवश्यक कानून पारित करना होता है। सोलह राज्यों और तीन संघीय क्षेत्रों ने अनिवार्य शिक्षा के कानून पारित कर लिए हैं। ये राज्य हैं— आन्ध्र प्रदेश, असम, गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, कर्नाटक, केरल, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु, उत्तरप्रदेश तथा पश्चिम बंगाल और संघीय क्षेत्र अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह, चण्डीगढ़, और दिल्ली। समय-समय पर स्थानीय निकायों को अधिकार सौंपने का कानून पारित करना होता है।

3. प्रारंभिक शिक्षा की देखरेख और निरीक्षण के लिए एक तंत्र की स्थापना करनी होती है। विद्यालयों की देखरेख करने का अधिकार स्थानीय प्राधिकरण के हाथ में होने के बावजूद राज्य सरकार को यह देखने के लिए कुछ अधिकारी नियुक्त करने पड़ते हैं कि स्थानीय निकाय उत्तरदायित्व ठीक ढंग से निभा रहे हैं अथवा नहीं।

4. उसे शिक्षको के लिए वेतन-मान तथा अन्य सेवा-शर्तों को निर्धारित करना होता है और शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी करनी होती है। राज्य सरकार को ही भरती के नियम और कार्यविधियाँ बनानी होती हैं।

5. स्थानीय निकायों को अधिकार सौंपे जाने के बावजूद राज्य सरकार को ही विद्यालयों के लिए पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें निर्धारित करनी होती हैं। अधिकांश राज्यो ने अब अपनी पाठ्यपुस्तकों का प्रकाशन आरम्भ कर दिया है जो विद्यालयों मे निर्धारित हैं।

इन कार्यों के अलावा प्रत्येक राज्य सरकार को विशेषकर संसाधनों के निर्धारण स्तर को बनाए रखने और उपलब्धि के लक्ष्यों के संदर्भ में स्थानीय निकायों के साथ उसी तरह व्यवहार करना होता है जिस प्रकार का व्यवहार भारत सरकार राज्य सरकारों के साथ करती है। उदाहरणार्थ जिन स्थानीय निकायो की वित्तीय स्थिति अच्छी नहीं है उन्हें समृद्ध निकायों की अपेक्षा अधिक वित्तीय सहायता देनी होती है, उपलब्धि के लक्ष्यों को निर्धारित करना होता है और शिक्षा के स्तर को बनाए रखना होता है।

प्रारंभिक शिक्षा के नियंत्रण और प्रशासन के संबंध में स्थानीय निकायों की भूमिका 1882 से ही विवाद का विषय बनी हुई है जबकि भारतीय शिक्षा आयोग ने पहले पहल प्राथमिक शिक्षा को स्थानीय निकायों के नियंत्रण में सौंपने का प्रस्ताव किया था। इस संबंध में कुछ लोगों का यह तर्क रहा है कि स्थानीय निकायों में प्रबुद्ध नेतृत्व का अभाव होता है, अतः यदि प्राथमिक शिक्षा को उनके नियंत्रण में सौंप दिया गया तो वे इसे प्रभावशाली ढग से नहीं चला पाएँगे। इसके विपरीत कुछ लोगों का तर्क यह भी रहा है कि प्राथमिक शिक्षा का पूरा का पूरा नियंत्रण स्थानीय निकायों के हाथों में सौंप देना चाहिए जिससे कि अपने बच्चों की शिक्षा व्यवस्था में लोगों को सक्रिय भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके और प्राथमिक शिक्षा के प्रावधान के लिए उनसे अधिक से अधिक संसाधन जुटाए जा सकें। इन दो परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों के अतिरिक्त एक तीसरा दृष्टिकोण यह है कि शैक्षिक स्तर को बनाए रखने और शिक्षकों की सेवा-शर्तों की सुरक्षा के साथ स्थानीय निकायों को सीमित अधिकार देने चाहिए। स्थानीय निकायों को अधिकार सौंपने के संबंध में दीर्घकाल तक विवाद चलते रहे हैं और साथ ही परीक्षण भी होते रहे हैं। इस संदर्भ में ध्यान देने योग्य बात यह है कि 1930 में हार्टोग समिति ने यह विचार प्रकट किया था कि स्थानीय निकायों को अधिकार सौंपना शिक्षा के हित में अतिशय और हानिकारक रहा है फिर भी बलवंत राय मेहता समिति (1957) की रिपोर्ट में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के प्रयोग का और प्रारंभिक शिक्षा का प्रबंध पंचायत-राज- संस्थाओ को सौंपने का प्रस्ताव किया गया। कहा गया कि यह अच्छा होगा यदि प्रबंध ब्लाक-स्तर पर हो।

अलग-अलग राज्यों में स्थानीय निकायों के प्रारंभिक शिक्षा के प्रशासन संबंधी अधिकार अलग-अलग हैं। पंजाब और केरल जैसे राज्यों ने स्थानीय निकायों को ये अधिकार नहीं सौंपे हैं और राज्य सरकारे स्वयं इसे सीधे नियंत्रित करती हैं। महाराष्ट्र, राजस्थान और आंध्रप्रदेश जैसे राज्यों ने स्थानीय निकायो को प्रारंभिक शिक्षा के प्रशासन के व्यापक अधिकार दिए हैं। महाराष्ट्र में ये अधिकार शहरी क्षेत्रों में नगरपालिकाओं को और ग्रामीण क्षेत्रों में जिला परिषदों को सौंपे गए हैं। दूसरी ओर राजस्थान में केवल ग्रामीण क्षेत्रों में ये अधिकार पंचायत समितियों को सौपें गए हैं।

उल्लेखनीय है कि स्थानीय निकायों को

अधिकार सौंपने के पक्ष में मुख्य तर्क यह दिया जाता है कि इससे प्रारंभिक शिक्षा में स्थानीय जनता की रूचि जाग्रत होती है और इसकी साज-संभाल के लिए अधिक स्थानीय सहायता प्राप्त करने में सहायता मिलती है। यह भी अनुभव किया गया है कि स्थानीय निकायो को अधिकार देने से विद्यालय भवनों के निर्माण अथवा रख-रखाव में, उपकरण और फर्नीचर की खरीद और मरम्मत में, दोपहर के भोजन की व्यवस्था करने मे, जरूरतमंद बच्चों को मुफ्त पाठ्यपुस्तकें और वर्दी उपलब्ध कराने में सुविधा होती है। कुछ स्थानों पर विद्यालयों की देख-रेख के लिए स्थानीय प्रबुद्धजनों की व्यवस्था हो जाने से भी सहायता मिलती है। इन आशाओं के प्रतिकूल यह भी देखने में आता है कि स्थानीय निकाय प्रारंभिक शिक्षा के लिए पर्याप्त वित्तीय संसाधन उपलब्ध नहीं करा पाते जिससे इसकी प्रगति में रूकावट पड़ती है। स्थानीय स्तर का नेतृत्व इतना प्रबुद्ध और सक्षम नहीं होता कि वह कठिन समस्याओ का हल निकाल पाए और सबसे बुरी बात यह होती है कि विद्यालय के शिक्षको के मनोबल पर इसका कुप्रभाव पड़ता है। उनके स्थानीय दबावों में काम करने से शिक्षा के स्तर में गिरावट आती है और अनुशासनहीनता बढती है।

इन अनुभवों के आधार पर यह ठीक समझा गया कि स्थानीय निकायों को अधिकारो के दुरुपयोग के विरूद्ध समुचित सुरक्षा की व्यवस्था करके ही अधिकार सौंपे जाएँ। उदाहरणार्थ किसी भी राज्य में स्थानीय निकायो को शिक्षको को प्रशिक्षित करने का अधिकार नहीं दिया गया है। इसी प्रकार पाठ्यक्रम बनाने और पाठ्यपुस्तकें निर्धारित करने का अधिकार राज्य सरकार के हाथ में है। जहाँ कहीं भी शिक्षकों को नियुक्त करने और वेतन का भुगतान करने का अधिकार स्थानीय निकायों को सौंपा गया है वहाँ कुछ शर्तें लगा दी गई है। जहाँ स्थानीय निकाय अपनी ओर से उनकी देख-रेख करते हैं वहाँ राज्य भी उनकी प्रगति पर दृष्टि रखने तथा उनकी कठिनाइयो पर ध्यान देने के लिए अपना निरीक्षण तत्र रखते हैं। ऐसे सुरक्षा उपायों से प्रारंभिक शिक्षा के क्षेत्र की समस्याओं को हल करने में सहायता मिलती है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, स्वयंसेवी संस्थाओं को अपने-अपने विद्यालय खोलने और चलाने का अधिकार है। इन विद्यालयो का सुचारू रूप से सचालन करने के लिए वे सरकार से सहायता-अनुदान की माँग कर सकते हैं। स्वयंसेवी सस्थाएँ विद्यालय स्थापित कर शिक्षा व्यवस्था पर होने वाले सरकारी व्यय को कम करने मे सहायता करती हैं। यह स्वय मे ही एक लाभ की बात है क्योंकि भारत जैसे विशाल देश में शिक्षा के लिए उपलब्ध सरकारी संसाधन अपर्याप्त ही रहते हैं। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि स्वयंसेवी संस्थाएँ शिक्षा के इन कार्यक्रमों मे अधिक से अधिक जन-सहयोग प्राप्त कराने में सफल रही हैं। यह बात यहाँ ध्यान देने की है कि शिक्षा सुविधाओं की अधिक व्यवस्था उतनी महत्वपूर्ण नही है जितनी कि लोगो द्वारा उपलब्ध सुविधाओं का उचित उपयोग है। प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के सदर्भ में शिक्षा कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए लोगों को प्रेरित करने में भी स्वयंसेवी संस्थाएँ पर्याप्त सहायता कर सकती हैं। अतः इन संस्थाओं के प्रयासों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

इन संस्थाओं द्वारा स्थापित विद्यालयों में सरकार द्वारा संचालित विद्यालयों की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ होती हैं। स्थानीय आयोजकों के उत्साह और समाज में उनकी मान-प्रतिष्ठा के कारण भी इन विद्यालयों का प्रबंध अधिक कुशलता से होता है। इस अर्थ में ये विद्यालय

सरकारी विद्यालयों पर भी अपने छात्रों तथा शिक्षकों को अधिक सुविधाएँ प्रदान करके अपना प्रभाव डालते रहते हैं। स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा संचालित कुछ अच्छे विद्यालय शैक्षिक विकास के अग्रदूत बन जाते हैं। किन्तु इस चित्र का एक अधंकारमय पक्ष भी है जिसे नियंत्रित करने की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति भी आ सकती है कि स्वयंसेवी संस्थाएँ लोगों को सुविधाएँ प्रदान करने के लिए नहीं बल्कि आर्थिक लाभ के लिए विद्यालय चलाने का प्रयास करें। बच्चों के माता-पिताओं से भवन- निर्माण निधि, मनोरंजन निधि, पुस्तकालय निधि आदि के नाम पर आर्थिक भार डाला जाता है। इस धन का कोई समुचित हिसाब नहीं रखा जाता। शिक्षकों को कम वेतन भुगतान करने के मामले भी प्रकाश में आए हैं। अनधिकृत रूप से उनके वेतन में से राशि काट ली जाती है। इस गुप्त उद्देश्य के कारण इन स्वयंसेवी संस्थाओं का एक ओर जनता से और दूसरी ओर सरकार से टकराव भी होता है। वास्तव में इसी कारण सरकार शिक्षा के क्षेत्र में स्वयंसेवी प्रयासों पर निरंतर दृष्टि रखती है।

सारांश

1. प्रारंभिक विद्यालय सरकार अथवा गैर-सरकारी संस्थाएँ चलाती हैं। पहली श्रेणी के विद्यालयों को राज्य सरकारें और नगरपालिका समिति या जिला परिषद् जैसे स्थानीय निकाय चलाते हैं। दूसरी श्रेणी के विद्यालयों को (धर्म अथवा भाषा पर आधारित अल्पसंख्यक वर्ग जैसे) समाज के विशिष्ट वर्गों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्वयंसेवी संस्थाएँ चलाती हैं। संविधान के अनुच्छेद 30(1) और 46 में इस प्रकार के विद्यालयों की स्थापना के लिए प्रावधान है। इन दोनों प्रकार के विद्यालयों की अपनी-अपनी अलग-अलग प्रशासनिक और संगठनात्मक समस्याएँ होती हैं।
2. प्रारंभिक शिक्षा के नियंत्रण और संरक्षण के संबंध में भारत के संविधान ने केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों और स्थानीय निकायों के अधिकारों को अलग-अलग बाँट दिया है।

विचिंतन प्रश्न

1. अपने राज्य में स्थानीय निकायों को प्रारंभिक शिक्षा का अधिकार सौपे जाने के संबंध में सही स्थिति मालूम कीजिए और उसके गुणों और दोषों पर प्रकाश डालिए।
2. संपूर्ण प्रारंभिक शिक्षा को स्थानीय निकायो के नियंत्रण में दे देने के गुणों की चर्चा कीजिए।
3. भारत में प्रारंभिक शिक्षा के लिए शक्तिशाली केन्द्रीय नियंत्रण व्यवस्था के पक्ष में अपने तर्क दीजिए।

4. अपने पड़ोस के एक सरकारी और एक गैर-सरकारी प्राथमिक विद्यालय को चुनिए और इनकी प्रबन्ध व्यवस्था और संसाधनों की उपलब्धि मे समानता और विषमता को जानने के लिए दोनों विद्यालयो के कार्य-संचालन का अध्ययन कीजिए।
5. क्या आपके विचार मे गैर-सरकारी विद्यालयो को सहायता अनुदान देना उचित है? अपने उत्तर का औचित्य बताते हुए कारण दीजिए।
6. समतावादी और समाजवादी समाज के संवर्धन मे पब्लिक स्कूलों की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
7. क्या सीमित ससाधनो के बावजूद सभी प्रारंभिक विद्यालय सरकार के हाथो मे होने चाहिए? यह कदम प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण में कहाँ तक प्रभावी होगा?
8. एक-शिक्षक अथवा दो-शिक्षक विद्यालय में शिक्षक को किन समस्याओ का सामना करना पडता है? उनकी समस्याएँ हल करने के लिए आस-पास के विद्यालयों से किस प्रकार सहायता ली जा सकती है?

इकाई 6.4 प्रारंभिक विद्यालयों का संचालन

प्रारंभिक शिक्षा के संचालन के लिए प्रत्येक राज्य में एक शिक्षा विभाग अथवा शिक्षा निदेशालय होता है। शिक्षा निदेशक निदेशालय का सबसे बड़ा अधिकारी होता है। अपने कर्तव्यों तथा दायित्वों को निभाने में उपनिदेशक और सहायक निदेशक उसकी सहायता करते हैं। विद्यालयों का संचालन शिक्षा निदेशक के अधिकार-क्षेत्र में होता है। विद्यालयी शिक्षा से संबद्ध नीतियों का निर्णय शिक्षा मंत्रालय के निर्देशन में शिक्षा सचिव अथवा शिक्षा-आयुक्त करता है। उत्तर प्रदेश, राजस्थान और मध्यप्रदेश जैसे बड़े राज्यों में शिक्षा निदेशक की सहायता के लिए क्षेत्रीय अतिरिक्त निदेशक अथवा उपनिदेशक होते हैं। इन राज्यों को प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से अनेक क्षेत्रों में बाँट दिया गया है। जिला स्तर पर शिक्षा का प्रबंध जिला-विद्यालय-निरीक्षक के हाथों मे होता है। उसकी सहायता के लिए उपनिरीक्षक और खंड-स्तरीय अधिकारी होते हैं। अधिकांश स्थानो पर प्राथमिक विद्यालयों के निरीक्षण और पर्यवेक्षण का काम खंड शिक्षा अधिकारी और उप-विद्यालय निरीक्षकों का है। उच्च प्राथमिक विद्यालय अथवा मिडिल स्कूलों का निरीक्षण जिला विद्यालय निरीक्षक करता है। प्रत्येक शिक्षक और प्रत्येक कक्षा के कार्य के निरीक्षण में उपनिरीक्षकों का एक दल उसे सहायता प्रदान करता है। पूर्व सूचना देकर सामान्यत: वर्ष में कम-से-कम एक बार प्रत्येक विद्यालय का निरीक्षण किया जाता है यद्यपि आवश्यक होने पर समय-समय पर अकस्मात् दौरे भी किए जाते हैं। उन राज्यों में जहाँ अधिकार स्थानीय निकायों को सौंपे गए होते हैं वहाँ जिला विद्यालय निरीक्षक जिला स्तर पर मुख्यत: शिक्षकों की सेवा-शर्तो से संबद्ध कुछ सुरक्षाएँ अपने हाथ में रखता है। इस प्रकार प्रत्येक राज्य में अधिकारियों का एक जाल बिछा होता है जो प्रारंभिक शिक्षा सहित पूरी शिक्षा का प्रबंध चलाते हैं। कुछ राज्यों में प्रारंभिक विद्यालय स्तर पर निरीक्षकों का एक अलग संवर्ग भी बनाया गया है।

प्रारंभिक शिक्षा के संचालन में हुए महत्वपूर्ण परिवर्तनों का संबंध विद्यालय निरीक्षक की भूमिका में परिवर्तन से है। इससे उसकी गुणवत्ता में सुधार लाने में योग मिला है। पहले निरीक्षकों की मुख्य भूमिका विद्यालय के कार्य-संचालन पर नियंत्रण रखने की होती थी। इसके लिए वे

आकस्मिक दौरे किया करते थे जिनमें वे शिक्षकों की उपस्थिति की जाँच करते, शिष्यों की पढ़ाई की परीक्षा लेते तथा परिणामों के आधार पर शिक्षकों की प्रशंसा करते। वे शिक्षकों के वेतन की भुगतान-व्यवस्था की भी देखभाल करते थे। निरीक्षक की इस भूमिका से शिक्षक के मन मे उसके दौरों के प्रति आतक ही रहता था। शिक्षक के कार्य में कठिनाई को हल करना निरीक्षक का काम नहीं था। अतः इस भूमिका से विद्यालयों में शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार लाने में सहायता नहीं मिलती थी।

विद्यालय निरीक्षकों की भूमिका में अब यह परिवर्तन किया गया है कि शिक्षक के कार्य में मार्ग-दर्शन देने का दायित्व उनका है। अब वे विद्यालय निरीक्षक के रूप में नहीं, शिक्षा अधिकारी अथवा पर्यवेक्षक के रूप में जाने जाते हैं। उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे शिक्षक के मित्र, हित-चिंतक और मार्गदर्शक के रूप मे काम करे। भौगोलिक दृष्टि से उनका कार्य-क्षेत्र कम कर दिया गया है जिससे वे अपने अधीन विद्यालयों के अधिक दौरे कर सकें। उनसे समय-समय पर शिक्षकों के लिए सेवाकालीन शिक्षा कार्यक्रम आयोजित करने की भी अपेक्षा की जाती है उन्हे अपनी रिपोर्ट में अब विद्यालयों में शिक्षकों की कमियों का उल्लेख करना ही नहीं होता बल्कि उनकी कठिनाइयों को दूर करने के उपाय भी सुझाने होते हैं। उसके बाद उन्हें ऐसे कदम उठाने होते हैं जिससे शिक्षक अपनी कठिनाइयों को दूर कर सकें। अब शिक्षकों में भी अपनी समस्याओं की चर्चा करने और उनका हल निकालने में सहायता प्राप्त करने के लिए शिक्षा अधिकारियो से सपर्क करने का उत्साह होता है।

फलस्वरूप शिक्षक अब अपने निरीक्षकों के दौरों से भय खाने के स्थान पर उनसे मार्ग-दर्शन की आशा करते हैं। शिक्षा अधिकारी भी अपनी ओर से अपने अधीन विद्यालयों के कार्य के स्तर मे सुधार का दायित्व लेते हैं। इससे शिक्षा अधिकारियों की भी शैक्षिक सक्षमता बढ़ी है और शिक्षकों को अपने विद्यालयों में अधिक से अधिक अच्छा काम करके दिखाने का प्रोत्साहन मिला है। अब वे अपने निरीक्षकों से उत्साहवर्धक टिप्पणियाँ प्राप्त करने की आशा करते हैं।

शिक्षा अधिकारियो के सवर्ग के प्रसार से और विद्यालयों में उनके बारबार दौरों से समय पर वेतन का भुगतान, आवश्यक सामग्री का समय पर उपलब्ध होना आदि शिक्षकों की सेवा-शर्तो से संबद्ध समस्याएँ कम हो गई हैं। फलस्वरूप शिक्षक अब वेतन आदि पाने के लिए इधर-उधर दौड़ने में समय बरबाद करने के बजाय विद्यालय के कार्य मे अधिक समय लगाते है।

सारांश

1. शिक्षा के संचालन के लिए प्रत्येक राज्य में एक शिक्षा विभाग अथवा शिक्षा निदेशालय होता है।
2. शिक्षा निदेशक सबसे बड़ा अधिकारी होता है और विद्यालयों के प्रबध में उसकी सहायता करने के लिए उपनिदेशक और सहायक निदेशक होते हैं।
3. जिला स्तर पर शिक्षा का संचालन जिला विद्यालय निरीक्षक के अधिकार में होता है। इसकी सहायता के लिए उपनिरीक्षक और खंड-स्तर के अधिकारी रहते हैं।

4. अब विद्यालय निरीक्षक को शिक्षा अधिकारी अथवा पर्यवेक्षक कहा जाता है क्योंकि उनकी कार्य-भूमिका एक मूल्यांकनकर्ता से हटकर मार्गदर्शक की हो गई है। इस परिवर्तन से शिक्षकों को अधिक प्रभावशाली तथा दक्ष बनानें में सहायता मिली है।

विचिंतन प्रश्न

1. अपने अधीन विद्यालयों में शिक्षा के स्तर में सुधार लाने में शिक्षा अधिकारी ने क्या-क्या प्रयास किए हैं, इसकी चर्चा कीजिए। वर्तमान व्यवस्था के गुणों और दोषों पर प्रकाश डालिए।
2. अपने शिक्षा अधिकारी से शिक्षकों को क्या-क्या सहायता मिली है, इस संबंध में कुछ शिक्षकों से चर्चा कीजिए। शिक्षा अधिकारी से शिक्षकों की आशाओं की कहाँ तक पूर्ति हुई है, इस पर प्रकाश डालिए।

इकाई 6.5 प्रारंभिक विद्यालयों की पाठ्यचर्या

इस बात का उल्लेख बारबार किया जा चुका है कि उपनिवेशी सामन्ती शिक्षा व्यवस्था को, जिसका ध्येय क्लर्क तैयार करना था, हटा देना चाहिए और एक ऐसी नई शिक्षा व्यवस्था विकसित की जानी चाहिए जो आधुनिक भारतीय समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं और माँगों के अनुकूल हो। बुनियादी शिक्षा पद्धति में महात्मा गांधी ने एक वैकल्पिक मार्ग प्रस्तुत किया था जो भारतीय समाज के अनुकूल शिक्षा व्यवस्था के विकास में सहायक हो सकता था। बुनियादी शिक्षा योजना में, जिसे ज़ाकिर हुसैन समिति ने प्रतिपादित किया था, समाज के विस्तृत परिप्रेक्ष्य में प्रारंभिक विद्यालयों की ऐसी पाठ्यचर्या की कल्पना की गई जिससे बच्चे को एक उत्पादक मानव बनाया जा सके। अतः पाठ्यपुस्तक को पढ़ाने की विधि के स्थान पर शिल्प कार्य के द्वारा पढ़ाने की व्यवस्था की गई थी। उसमें भौतिक तथा सामाजिक पर्यावरण को शिक्षा के केन्द्र के रूप में उपयोग करने पर अधिक बल दिया गया।

यह आशा की गई कि बुनियादी शिक्षा स्वशासन की शिक्षा देकर लोगों में नेतृत्व के गुण उत्पन्न करेगी और उन्हें उत्तरदायित्वपूर्ण नागरिक बनाने में सहायक होगी। किन्तु निरक्षरता के आंकड़ों में निरंतर वृद्धि और संसाधनों की कमी के कारण सभी प्रारंभिक विद्यालयों को बुनियादी शिक्षा प्रदान करने के लिए आदर्श विद्यालयों में बदलने में निराशा ही हाथ लगी।

दूसरे, प्रारम्भिक विद्यालयों की पाठ्यचर्या में सुधार-संबंधी सुझाव देने के लिए श्रीप्रकाश और सम्पूर्णानंद की अध्यक्षता में क्रमशः दो समितियाँ गठित की गईः एक समिति धार्मिक और नैतिक शिक्षा पर और दूसरी समिति भावनात्मक एकता पर। इनका उद्देश्य बच्चों में नैतिक तथा अध्यात्मिक मूल्य पैदा करना और विविधता में एकता का सुनिश्चय करना था।

इन सभी प्रयासों के बावजूद साधारणतः यह अनुभव किया गया कि शिक्षा पद्धति का विकास समय की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं हुआ है। अतः शिक्षा के राष्ट्रीय स्वरूप पर परामर्श देने के लिए सरकार ने डी. एस. कोठारी (1964-66) की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति की।

वर्तमान शिक्षा पद्धति की कमियों की जाँच करने के बाद आयोग ने संपूर्ण शिक्षा चरण के लिए शैक्षिक ध्येय और नीतियाँ निर्धारित करने का प्रयास किया। उसकी रिपोर्ट में बुनियादी शिक्षा के कुछ तत्व भी सम्मिलित कर लिए गए।

नई पाठ्यचर्या में कार्य-अनुभव और समाज सेवा को सम्मिलित करने का प्रस्ताव है। यह सुझाव दिया गया है कि प्रारंभिक चरण में विज्ञान और समाज विज्ञान जैसे विषयो को मिलाकर 'पर्यावरण विज्ञान' के नाम से एक विषय बनाया जा सकता है जो पाठ्यचर्या की विषय-वस्तु के निर्णय में एक स्रोत के रूप में स्थानीय पर्यावरण और समुदाय के उपयोग को बढावा दे सकता है। आयोग ने चरित्र विकास के लिए छात्रो के मन में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य पैदा करने पर भी बल दिया।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में सुझाव दिया गया है कि राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था एक राष्ट्रीय शिक्षाक्रम के ढाँचे पर आधारित होगी जिसमे एक 'सामान्य केन्द्रिक' (कॉमनकोर) होगा और अन्य हिस्सों की बावत लचीलापन रहेगा, जिन्हें स्थानीय पर्यावरण तथा परिवेश के अनुसार ढाला जा सकेगा। 'सामान्य केन्द्रिक' में भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, संवैधानिक जिम्मेदारियों तथा राष्ट्रीय पहचान को पल्लवित करने वाले अनिवार्य तत्व शामिल होंगे। ये मुद्दे किसी एक विषय का हिस्सा न होकर लगभग सभी विषयों में पिरोए जाएँगे। इनके द्वारा राष्ट्रीय मूल्यो को हर इसान की सोच और जिन्दगी का हिस्सा बनाने की कोशिश की जाएगी। इन राष्ट्रीय मूल्यों में ये बातें शामिल हैं : हमारी समान सांस्कृतिक धरोहर, समता, लोकतंत्र और धर्म निरपेक्षता, स्त्री-पुरुषो के बीच समानता, पर्यावरण का संरक्षण, सामाजिक बाधाओं का निवारण, लघु परिवार का महत्व और वैज्ञानिक मनोवृति अपनाने की जरूरत।

सारांश

प्रारंभिक विद्यालयों के लिए निम्नलिखित चार पाठ्यचर्याएँ सुझाई गई हैं :

1. बुनियादी शिक्षा, जिसकी सिफारिश ज़ाकिर हुसैन समिति ने की थी।
2. बच्चों में नैतिक और अध्यात्मिक मूल्य पैदा करने के लिए श्रीप्रकाश समिति और संपूर्णानंद समिति ने प्रारंभिक विद्यालय पाठ्यचर्या में कुछ सुधार सुझाए थे।
3. कोठारी शिक्षा आयोग ने पर्यावरण विज्ञान, कार्यानुभव और समुदाय सेवा को प्रारंभिक विद्यालय पाठ्यचर्या में सम्मिलित करने की सिफारिश की थी।
4. सामाजिक मूल्यों तथा वैज्ञानिक मानोवृति को विकसित करने के लिए राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में एक राष्ट्रीय शिक्षाक्रम के ढांचे का सुझाव दिया गया है।

विचिंतन प्रश्न

1. बुनियादी शिक्षा कार्यक्रम की कुछ मोटी-मोटी विशेषताएँ बताइए।
2. श्रीप्रकाश समिति का गठन क्यों किया गया? समिति की क्या-क्या सिफारिशें थीं?

3. सपूर्णानद समिति की मुख्य सिफारिशें क्या थीं?
4. कोठारी शिक्षा आयोग की सिफारिशें किस प्रकार बुनियादी शिक्षा से मेल खाती हैं और किस प्रकार उससे भिन्न हैं?
5. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 मे सुझाए गए 'सामान्य केन्द्रित' (कॉमन कोर) के घटक कौन-कौन से है?

इकाई 6.6 प्रारंभिक विद्यालयों के शिक्षकों के मूलभूत दायित्व

यदि हम अपनी परिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था में प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक की भूमिका पर विचार करें तो हम पाएँगे कि उसकी भूमिका कक्षा में उसके प्रभाव से भी बहुत आगे तक है। विद्यालय में उसे अनेक प्रकार के काम करने पडते हैं। सहयोगियों के साथ उसका व्यावसायिक लेन-देन होता है, समुदाय के प्रति उसे अनौपचारिक कर्तव्य निभाने पड़ते हैं और कक्षा के शिक्षक के रूप में तो उसकी प्रधान भूमिका है ही। इनमें से प्रत्येक भूमिका के उद्देश्य और कार्यकलाप बहुत व्यापक हैं। किन्तु इस इकाई मे सामाजिक परिवर्तन लाने में प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक की भूमिका की दृष्टि से ही आपको अध्ययन करना है। आपको यह बात भी ध्यान में रखनी है कि हमारे लगभग 40 प्रतिशत प्रारंभिक विद्यालयों में केवल एक शिक्षक होता है। ऐसी दशा में शिक्षक को सभी कक्षाओं के छात्रों को सभी विषय पढ़ाने पड़ते हैं। याद रखने योग्य एक अन्य महत्वपूर्ण बात है—हमारी विविध सामाजिक परिस्थितियों में असमान तत्वों की विद्यमानता। परिवर्तन के एजेण्ट के रूप में शिक्षक की भूमिका पर विचार करते समय आपको यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि कुछ प्राथमिक शिक्षकों को दूरस्थ क्षेत्रों में काम करना पड़ता है और ऐसी परिस्थितियों में उनके व्यावसायिक विकास की क्या सम्भावनाएँ हो सकती है।

सामाजिक सदर्भ से बात प्रारंभ करते हुए कहा जा सकता है कि प्राथमिक विद्यालयी शिक्षक को रूढ़िग्रस्त एवं औद्योगिक, जनजातीय एवं गैर-जनजातीय और ग्रामीण एवं शहरी समाजों में अलग-अलग ढँग से अपनी भूमिकाएँ निभानी पडती हैं। उसे मूलतः लोगों की आकांक्षाओं और रीति-रिवाजो, परंपराओं और जीवन-विधाओं का सम्मान करना पडता है जिससे वह उनके बच्चों की शिक्षा के संबंध में उनका सहयोग प्राप्त कर सके और एक शिक्षक के रूप में उनका विश्वास भी जीत सके। शिक्षक को उनके सांस्कृतिक सूत्रों के बारे में सावधानी बरतनी होती है और बच्चों के सामाजीकरण के प्रयास में उनके वंशानुगत विवेक का पूरा ध्यान रखना पड़ता है। इसके विपरीत जटिल औद्योगिक समाजो में उसे भिन्न प्रकार की चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। समाज का एक प्रबुद्ध प्रतिनिधि होने के नाते शिक्षक की भूमिका समाज की कमजोरियों को जाँचने, शोषक वर्ग के प्रभुत्व को पहचानने, अमानवीय संबंधों पर अंकुश लगाने और लोगों को अपनी आस्थाओं और मूल्यों पर पुनः विचार करने में सहायता करने की होती है। समाज का अग्रदूत होने के नाते उसका यह दायित्व है कि वह सरकारी नीतियों और सामाजिक निर्णयों पर प्रभाव डालने के लिए जनमत तैयार करे। इसके अतिरिक्त अंधविश्वासों, असमताओं और रूढ़ियों के विरुद्ध लड़ाई लड़ने में भी उसे सहायता करनी होती है।

कक्षा में अपनी प्रधान-भूमिका निभाते हुए

शिक्षक को बच्चो के सर्वांगीण विकास की आवश्यकता को दृष्टि से ओझल न करते हुए उनका अधिकतम मानसिक विकास करना है। उसे स्मरण रखना चाहिए कि क्रियाशील मस्तिष्क का विकास सामाजिक परिवर्तन का आधार होता है। शिक्षा की इस प्रक्रिया में शिक्षक यदि ज्ञान के वाचक और वाहक की अपनी परंपरागत भूमिका के स्थान पर संगठनकर्ता, सहायक और संदर्भ व्यक्ति की भूमिका निभाए और बच्चों के बौद्धिक विकास को बढ़ानेवाले पर्यावरण का निर्माण करे तो बेहतर होगा। इस संदर्भ में बच्चों के अहं को सहारा देकर, कठिन स्थितियों में उनकी चिंता को दूर कर और सर्जनात्मक चिंतन में मार्गदर्शन करते हुए उनका विश्वास जीतकर मित्र और परामर्शदाता के रूप में उसकी भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होगी। शिक्षक के लिए सर्वोच्च महत्व की बात बच्चों से निर्मल और निष्पक्ष व्यवहार करने की है। शिक्षक को समाज के कमजोर वर्गों के बच्चों की सहायता करने के साथ-साथ कमजोर, औसत और तेज छात्रों पर भी उचित ध्यान देना होगा।

विद्यालय में अपनी सामान्य भूमिका में शिक्षक को पाठ्यक्रम सहगामी कार्यकलापों के आयोजक, समाज की अन्य संस्थाओं के साथ संपर्क अधिकारी और छात्रों के कार्यकलापों के मूल्यांकनकर्ता के रूप में काम करना होता है। इस संबंध में शिक्षक को एक निष्छल न्यायाधीश, निष्पक्ष निर्णायक और लोकतांत्रिक दल के अग्रदूत के रूप में कार्य करना चाहिए। उसका व्यवहार अनुकरणीय होना चाहिए क्योंकि उसके विद्यार्थी उसके जैसा ही बनने का प्रयास करेंगे। बहु-शिक्षक विद्यालयों में प्रधान शिक्षक की विशिष्ट भूमिका अपने सहयोगियों को नवीन दृष्टिकोण अपनाने, व्यावसायिक विकास के लिए उनकी बैठकें आयोजित करने और लोकतांत्रिक वातावरण में संस्था की योजनाओं को तैयार करने के लिए प्रेरित करने की होगी। अपनी व्यावसायिक भूमिका में प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक को शिक्षक संघों की सहायता से अपने अधिकारों के लिए न केवल लडना चाहिए किन्तु उसे प्रारंभिक शिक्षा के हित को आगे बढ़ाने के लिए अन्य संगठनों का भी सहयोग प्राप्त करना चाहिए। साथ ही अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए यर्थाथवादी कार्यनीतियाँ आयोजित करने में जन-सहयोग लेना चाहिए।

सारांश

1. प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक के अनेक प्रकार के काम होते हैं: कक्षा में शिक्षक के रूप में, सहयोगियों के साथ व्यावसायिक भूमिका में और समुदाय के प्रति अनौपचारिक कर्तव्यों के पालन में।
2. शिक्षक की प्रत्येक भूमिका के व्यापक उद्देश्य होते हैं और उसमें सामाजिक परिवर्तन को बढ़ावा देने से संबद्ध अनेक कार्यकलाप भी सम्मिलित होते हैं।

विचिंतन प्रश्न

कक्षा में शिक्षक के वे कौन से कार्यकलाप हैं जो सामाजिक परिवर्तन को बढ़ावा देने में सहायक होते हैं?

इकाई 6.7 प्रारंभिक विद्यालयों के शिक्षकों की व्यावसायिक तैयारी

शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार लाने में शिक्षक की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। प्रारंभिक विद्यालय-चरण पर उसकी भूमिका का महत्व और भी बढ़ जाता है। इसका एक कारण यह है कि अधिकांश विद्यालयों में टेप-रिकार्डर, ओवरहैड प्रोजेक्टर और फिल्म स्ट्रिप आदि आधुनिक अध्ययन सामग्री उपलब्ध नहीं होती। इनसे शिक्षक के कार्य में बड़ी सीमा तक सुविधा होती है। दूसरे, उन्हें संवेदनशील आयु के बच्चों के साथ काम करना होता है। इस चरण में बच्चे न केवल पाठ्यपुस्तकों से बल्कि शिक्षकों के व्यक्तिगत व्यवहार से भी बहुत कुछ सीखते हैं। इसीलिए स्वतंत्रता मिलने के बाद पिछले तीन दशकों में देश में शिक्षकों की गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए भारी प्रयास किए गए हैं।

शिक्षक की गुणवत्ता तीन मुख्य बातों पर निर्भर रहती है– (1) शिक्षक की शैक्षिक योग्यताएँ, (2) शिक्षक द्वारा अर्जित शिक्षा की गुणवत्ता और (3) शिक्षक के व्यक्तित्व की विशेषताएँ। प्रारंभिक विद्यालय-चरण पर शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार के लिए किए गए प्रयासों में इन सभी पक्षों पर ध्यान दिया गया है।

योग्यताओं के संदर्भ में अब प्रशिक्षण संस्थाओं और नौकरी में प्रवेश के लिए निम्नतम शैक्षिक योग्यता पूर्व-मैट्रिक न होकर मैट्रिक कर दी गई है। 1971 में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के अध्यापक शिक्षा विभाग द्वारा किए गए प्रारंभिक अध्यापक शिक्षा के राष्ट्रीय सर्वेक्षण से पता चला कि शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में आठवीं कक्षा से भी कम पढ़े छात्र-शिक्षकों की संख्या कुल संख्या की 11.4 प्रतिशत थी और आठवीं कक्षा तक पढे छात्रों की संख्या 10 प्रतिशत थी। इस अवधि में प्रशिक्षण लेने वाले अधिकांश छात्र (लगभग 72 प्रतिशत) मैट्रिक अथवा हायर सैंकडरी पास थे और 6.1 प्रतिशत छात्र इंटरमीडिएट पास अथवा स्नातक थे। अधिकांश मैट्रिक-पूर्व छात्र आंध्रप्रदेश और नागालैण्ड के थे जहाँ प्रशिक्षण संस्थाओं में प्रवेश लेने के लिए शैक्षिक योग्यता सातवीं कक्षा पास ही रखी गई थी। बाद में इन राज्यों की स्थिति में भी पर्याप्त सुधार हुआ। आजकल प्रायः सभी प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक कम-से-कम मैट्रिक पास मिलेंगे। कोई तीन दशक पहले प्राथमिक विद्यालयों में मिडिल पास शिक्षक रखे जाते थे। आज भी कुछ प्राथमिक विद्यालयों में कुछ पुराने शिक्षक जूनियर वर्नाक्युलर (जे. वी.), सीनियर वर्नाक्युलर (एस. वी) अथवा सीनियर एंग्लो वर्नाकुलर (एस.ए.बी.) योग्यता वाले मिडिल पास मिलेंगे। उनकी संख्या निरंतर कम होती जा रही है क्योंकि प्रशिक्षण संस्थाओं और नौकरियों में नई भरती के लिए निम्नतम शैक्षिक योग्यता मैट्रिक हो गई है। कुछ तो शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में प्रवेश पाने के लिए शैक्षिक योग्यता बढ जाने से और कुछ देश में शिक्षा सुविधाओं में सुधार होने के कारण अब प्रारंभिक विद्यालय शिक्षकों में स्नातकों की एक बडी संख्या मिलेगी। उत्तर पूर्वी क्षेत्र जैसे देश के कुछ भागों में वर्तमान प्रारंभिक शिक्षा की पूर्ति के लिए पर्याप्त संख्या में प्रशिक्षित शिक्षक न मिलने के कारण यद्यपि शिक्षकों की शैक्षिक योग्यता में इतना अधिक सुधार नहीं हुआ है फिर भी आप देख सकते हैं कि अब देश में धीरे-धीरे प्रारंभिक विद्यालयों में अधिक योग्यता प्राप्त शिक्षकों को रखने पर बल दिया जा रहा है।

इसी प्रकार देश में प्रारंभिक विद्यालय-शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रमों में भी परिवर्तन आया है। इन कार्यक्रमों में प्रशिक्षण अवधि और शिक्षण तकनीक पर बल–दोनों

दृष्टियों से अंतर आया है। इस संबंध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस शताब्दी के प्रारंभ में प्राथमिक विद्यालयों में केवल 18.4 प्रतिशत शिक्षक प्रशिक्षण प्राप्त थे और देश में कुल 155 प्रशिक्षण संस्थाएँ थीं जिनमें कुल 5403 छात्र प्रशिक्षण ले सकते थे। 1913 में शिक्षा नीति पर सरकारी प्रस्ताव में शिक्षकों के गुणात्मक सुधार को उच्च प्राथमिकता दी गई। उसमें निर्देश दिया गया–''शिक्षक उसी वर्ग के होने चाहिए जिस वर्ग के बच्चों को वे पढ़ाएँ। उन्हें वर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा पास होना चाहिए अथवा पत्राचार पाठ्यक्रम पूरा किया होना चाहिए और उन्हें एक वर्ष का प्रशिक्षण प्राप्त होना चाहिए। जिन शिक्षकों ने केवल उच्च प्राथमिक कक्षा पास की हो और जिन्हें विद्यालय में काम करने का पर्याप्त अनुभव न हो, उनको सामान्यतः दो साल का प्रशिक्षण पूरा करना अपेक्षणीय है प्रारम्भ में प्रशिक्षण छोटे स्थानीय विद्यालयों में लिया जा सकता है पर बेहतर यही है कि यदि आर्थिक साधन उपलब्ध हों तो प्रशिक्षण बड़े और अधिक दक्ष केन्द्रीय नार्मल विद्यालयों से लिया जाए।'' यहाँ यह देखा जा सकता है कि देश में इस शताब्दी के प्रारंभ से ही शिक्षकों के प्रशिक्षण पर बल दिया जाने लगा था और प्रशिक्षण की अवधि शिक्षक योग्यता के अनुसार एक अथवा दो वर्ष मान ली गई।

वर्ष 1921-22 में प्रशिक्षण संस्थाओं की संख्या बढ़कर 1072 हो गई थी जिनमें कुल 26,931 प्रशिक्षणार्थी थे, और प्रशिक्षित शिक्षकों का प्रतिशत 1901 में 18.4 से बढ़कर 1921-22 में 39 हो गया। अगले 25 वर्षों में प्रारंभिक शिक्षा के क्षेत्र और उद्देश्यों के विस्तार पर बल दिए जाने के कारण इस स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। प्रारंभिक विद्यालयों में पढाई, लिखाई, अंकगणित और कुछ सामान्य ज्ञान तक अध्ययन को सीमित रखने की पूर्व धारणा के स्थान पर बच्चों को उत्तरदायी तथा उपयोगी नागरिक बनने में सहायता करने के उद्देश्यों ने ले लिया। महात्मा गाँधी द्वारा बुनियादी शिक्षा की योजना बनाई जाने पर इस स्थिति में और भी सुधार हुआ। उसे तत्काल परीक्षण के आधार पर अपना लिया गया। परीक्षण के बाद बुनियादी शिक्षा की सार्वजनीन स्थापना कुछ वर्षों तक देश के सभी भागों में लागू की गई। उस समय यह अनुभव किया गया कि प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक की न्यूनतम सामान्य शिक्षा मैट्रिक तक होनी चाहिए और मैट्रिक पास कर लेने के बाद उसे दो वर्षों का व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

समय बीतने के साथ यह स्थिति प्रायः स्थाई हो चली है फिर भी असम, पश्चिम बंगाल, जम्मू-कश्मीर जैसे कुछ राज्यों में शिक्षक प्रशिक्षण की अवधि एक वर्ष ही रही। राष्ट्रीय अध्यापक-शिक्षा परिषद् (एन.सी.टी.ई., 1978) ने अपने अध्यापक शिक्षा पाठ्यक्रम–एक रूप रेखा' में देशभर में एक जैसी परिपाटी अपनाए जाने के लिए निम्नतम योग्यता मैट्रिक और दो वर्षों के प्रशिक्षण की सिफारिश की थी। राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् ने शिक्षण में दक्षता बढ़ाने के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रमों को बेहतर दिशा देने पर भी बल दिया था। फलस्वरूप जहाँ पहले प्रशिक्षण कार्यक्रमों में सैद्धांतिक पढ़ाई पर अत्यधिक बल दिया जाता था वहाँ आज विषयवस्तु एवं पाठ्यविधि (कन्टैन्ट-कम-मैथेडौलोजी) के पाठ्यक्रमों के आयोजन द्वारा शिक्षण-कौशल के प्रशिक्षण पर अधिक बल दिया जा रहा है। परिषद् ने इस बात पर भी बल दिया है कि प्रशिक्षण कार्यक्रम के एक अभिन्न अंग के रूप में 'समुदाय के साथ काम करने' का अनुभव प्रदान किया जाना चाहिए जिससे प्रशिक्षण के बाद उन्हें जिन समुदायों में काम करना उनकी स्थानीय दशाओं के साथ पढ़ाई का संबंध स्थापित कर सकें।

प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण पर बल दिए जाने के प्रभाव से देश में 6-14 वर्ष के आयु-वर्ग के बच्चों के लिए अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम बढ़ाने पर बल दिया जा रहा है। जो बच्चे विभिन्न सामाजिक-आर्थिक कारणों से पढ़ाई नहीं कर पाए उन्हें इससे अपनी कमी को पूरा करने का एक और अवसर प्राप्त होगा। इन कार्यक्रमों को प्रभावशाली ढंग से आयोजित करने के लिए बड़ी संख्या में प्रारंभिक विद्यालय शिक्षकों की आवश्यकता होगी। अतः राष्ट्रीय अध्यापक-शिक्षा परिषद् ने सिफारिश की थी कि प्रशिक्षण संस्थाओं के सभी छात्र-अध्यापकों को औपचारिक और अनौपचारिक—दोनों शिक्षा परिवेशों में शिक्षण का अभ्यास करने का अवसर प्रदान किया जाए। इस सिफारिश का प्रारंभिक विद्यालयी चरण में शिक्षा की गुणवत्ता के सुधार पर दीर्घकालिक प्रभाव पड़ेगा। देश की सभी शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए 'यूनिसेफ' की सहायता से 'प्राथमिक शिक्षा व्यापक उपागम' (केप) नामक एक विशाल परियोजना लागू की जा रही है। इस परियोजना में स्थानीय परिस्थितियों से संबद्ध ऐसी विशिष्ट समस्याओं को पहचानने में जिनका हल शिक्षा द्वारा हो सके और विद्यालय न जानेवाले बच्चों के लिए अध्ययन सामग्री तैयार करने तथा उसका परीक्षण करने में छात्र-अध्यापकों की सहायता प्राप्त हो सके, इस बात पर बल दिया जा रहा है।

प्रारंभिक विद्यालय शिक्षकों के सेवा-पूर्व प्रशिक्षण कार्यक्रमों की गुणवत्ता में सुधार लाने के अतिरिक्त पाठ्यपुस्तकों और शिक्षण तकनीकों में हो रहे नए विकासों से शिक्षकों को परिचित कराने के लिए देश में अल्पकालिक सेवाकालीन पाठ्यक्रम चलाने के प्रयास भी किए गए हैं। इन पाठ्यक्रमों का स्वरूप और विषयवस्तु विभिन्न राज्यों में अलग-अलग है। कुछ स्थानों पर ये पाठ्यक्रम सभी शिक्षकों को प्रदान किए गए हैं—विशेष रूप से सामान्य विज्ञान, गणित और मातृभाषा के शिक्षकों को, जबकि अनेक अन्य स्थानों पर यह पाठ्यक्रम कुछ शिक्षकों तक ही सीमित रहा है और सभी शिक्षक इसका लाभ नहीं उठा पाए हैं। साथ ही देश में अब यह अनुभव किया जा रहा है कि शिक्षकों के लिए सेवाकालीन दिशानिर्देश पाठ्यक्रमों का उतना ही महत्व है जितना सेवापूर्व प्रशिक्षण कार्यक्रमों का। यह भी अनुभव किया गया है कि सेवाकालीन शिक्षा पाठ्यक्रमों का स्वरूप अधिक व्यावहारिक होता है और शिक्षकों के कार्य पर उनका सीधा प्रभाव पड़ता है। राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् की सिफारिशों के बावजूद सेवापूर्व शिक्षा पाठ्यक्रमों का स्वरूप अधिकतर सैद्धांतिक होता है और उनका कक्षा की वास्तविक समस्याओं से कोई संबंध नहीं होता। अतः सेवाकालीन-शिक्षा पाठ्यक्रम की व्यावहारिकता पर अधिक बल दिया जा रहा है और यह अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है कि प्रत्येक शिक्षक के लिए अधिक-से-अधिक पाँच वर्ष के अंतराल में नवीकरण और दिशानिर्देश कार्यक्रम की व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे सभी शिक्षक सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप शिक्षा की विषयवस्तु और पाठ्यविधि में हो रहे परिवर्तनों से परिचित हो सकें।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में इन सभी बातों पर विचार किया गया है और उसमें प्राथमिक अध्यापक शिक्षा को न्यूनतम व्यावसायिक समर्थन प्रदान करने की भी परिकल्पना है। इसके लिए एक कार्यक्रम का सुझाव दिया गया है जिसके अन्तर्गत 1990 तक प्रतिवर्ष पाँच लाख अध्यापकों का अभिनवीकरण (ओरियनटेशन) करना है। इससे नई नीति के क्रियान्वयन में उनकी प्रेरणा में वृद्धि होगी और शैक्षिक सुधार की प्रक्रिया में अपनी भूमिका निभाने के लिए उनकी तैयारी बेहतर हो

सकेगी। इस व्यापक अध्यापक प्रशिक्षण कार्यक्रम के निम्नलिखित उद्देश्य हैं:

1. अध्यापकों को राष्ट्रीय शिक्षा नीति की प्रमुख विशेषताओं से, विशेषकर उनके संदर्भ में अध्यापक की परिवर्तित भूमिका से अवगत कराना।

2. शैक्षिक उद्देश्यों और विद्यार्थियों की विशेषताओं के अनुकूल अध्यापन-अधिगम कार्यनीतियाँ आयोजित करने में उनकी क्षमताओं को बढ़ाना।

3. मूल्यों, उत्पादक दक्षताओं, सृजनशीलता, वैज्ञानिक मनोवृति और सर्वनिष्ठ भारतीय संस्कृति, उसके स्वतंत्रता संग्राम तथा पर्यावरण-सुरक्षा की समझ बढ़ाने के लिए पाठ्यचर्या-गतिविधियाँ आयोजित करने में अध्यापकों का अभिनवीकरण करना।

4. इस कार्यक्रम के निरंतर व्यापक मूल्यांकन को और उसे आयोजित करने की विधि को स्पष्ट करना।

इस कार्यक्रम का प्रारंभ मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने 1986-87 में राज्य सरकारों के सहयोग से तथा एन.सी.ई.आर.टी के माध्यम से किया था। उस वर्ष लगभग पाँच लाख अध्यापकों के लिए अभिनवीकरण कार्यक्रम आयोजित किए गए। वर्ष 1987-88 में भी ये कार्यक्रम इतने ही अध्यापकों के लिए जारी है और 1990 तक—सातवीं पंचवर्षीय योजना के अंत तक—जारी रहेगा। इस योजना में एक त्रि-चरणीय आयोजन शामिल है। पहले मुख्य व्यक्तियों को प्रशिक्षण दिया जाएगा। तब ये विषय-विशेषज्ञों को प्रशिक्षित कर इस प्रशिक्षण कार्य. को आगे बढ़ाएँगे। इसके लिए विशेष प्रशिक्षण सामग्री तैयार की गई है। पिछले वर्ष के कार्यक्रम में पाई गई कमियों को ध्यान में रखते हुए उनमें उपयुक्त सुधार किया जाएगा। उपग्रह दूरदर्शन से विशेष कार्यक्रमों का प्रसारण किया जाएगा। एन.सी.ई.आर.टी. ने इन कार्यक्रमों में भाग लेने वाले अध्यापकों को दिखाने के लिए कुछ वीडियो कार्यक्रम भी तैयार किए हैं।

शिक्षक की कुशलता पर वेतनमान और सेवा-शर्तों का भी प्रभाव पड़ता है। सेवा-शर्तों और शिक्षकों की कुशलता के बीच संबंध के महत्व का अनुभव करके इसमें सुधार लाने के लिए स्वतंत्रता के बाद से ही देश में पर्याप्त प्रयास किए जाते रहे हैं। पिछले वर्षों में न केवल शिक्षकों के वेतनमान में ही सुधार हुआ है बल्कि उनके मन से असंतोष की भावना हटाने के लिए पारिवारिक पेंशन योजना, जहाँ संभव हो सरकारी आवास, और चिकित्सा तथा यात्रा की सुविधाओं जैसी अन्य सुविधाएँ भी उपलब्ध कराई गई हैं। इस संदर्भ में यह बात ध्यान देने योग्य है कि देश के लगभग सभी भागों में आज प्रारंभिक विद्यालय शिक्षकों को जो वेतनमान दिया जा रहा है वह समान योग्यता वाले किसी अन्य व्यवसाय के वेतनमान से कम नहीं है। समाज में शिक्षकों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए प्रति वर्ष 5 सितम्बर को राष्ट्रपति स्वर्गीय डॉ. एस. राधाकृष्णन के जन्मदिन पर शिक्षक दिवस मनाया जाता है। शिक्षकों के मनोबल को ऊपर उठाने के लिए देश में अपनाए गए अन्य उपायों में राष्ट्रीय शिक्षक-कल्याण निधि की स्थापना और प्रति वर्ष उत्कृष्ट शिक्षकों को राष्ट्रीय एवं राज्य स्तर पर पुरस्कार प्रदान करना है।

सारांश

1. शिक्षा की गुणवत्ता पर शिक्षक की गुणवत्ता का प्रभाव पड़ता है।

2. शिक्षकों की गुणवत्ता उनकी शैक्षिक योग्यता, प्राप्त प्रशिक्षण कार्यक्रमों के स्वरूप और अवधि तथा कक्षा की पढ़ाई में सुधार लाने के लिए उनकी मनोवृत्ति पर निर्भर है।
3. पिछले तीन दशकों में शिक्षकों की शैक्षिक योग्यता में पर्याप्त सुधार हुआ है। आज अधिकांश प्रारम्भिक शिक्षक मैट्रिक पास हैं।
4. शिक्षकों के प्रशिक्षण कार्यक्रमों को अधिक व्यावहारिक बनाया जा रहा है और प्रशिक्षण की अवधि बढ़ाकर दो वर्ष की जा रही है।
5. शिक्षकों की सेवा-शर्तों में पर्याप्त सुधार हुआ है।
6. मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने एन.सी.ई.आर.टी. के माध्यम से और राज्य सरकारों के सहयोग से तात्कालिक पूँजी निवेश के रूप में प्रारंभिक विद्यालय अध्यापकों के लिए व्यापक शिक्षक-अभिनवीकरण कार्यक्रम की योजना प्रारंभ की है। इसका उद्देश्य शिक्षकों को राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के कार्यान्वयन के प्रति अपनी नई भूमिका से परिचित कराना है।

विचिंतन प्रश्न

1. *कक्षा की पढाई में सुधार लाने के लिए शिक्षकों को किस प्रकार प्रेरित किया जा सकता है? इस प्रयास में* सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रम किस प्रकार सहायक हो सकते है?
2. कुछ कक्षाओ में पढाई का अवलोकन कीजिए। मालूम कीजिए कि अच्छी पढ़ाई के लिए शिक्षक कहाँ तक उत्तरदायी हैं और उसमें किस प्रकार सुधार लाया जा सकता है?
3. शिक्षकों से अपेक्षा की जाती है कि वे विद्यालय न जानेवाले बच्चो को विद्यालय आने के लिए प्रेरित करेंगे। इसकी प्राप्ति के लिए शिक्षक क्या उपाय करते हैं? आपके विचार से किस प्रकार के शिक्षक इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रयास नहीं करते और क्यों?
4. आप अपने अपने पड़ोस के कुछ विद्यालयों में जाकर कुछ ऐसे शिक्षकों से मिलना चाहेंगे जिन्होंने व्यापक शिक्षक-प्रशिक्षण कार्यक्रम में भाग लिया है। उनसे मालूम कीजिए कि कार्यक्रम से उन्हें क्या लाभ हुआ। उसमें सुधार के लिए उनके सुझाव भी मालूम कीजिए।

इकाई 6.8 परिवर्तन लाने वाले एजेण्ट के रूप में प्रारंभिक विद्यालयों के शिक्षकों के समक्ष उत्तरदायित्व

हम सामाजिक परिवर्तन के महत्व और परिवर्तनशील समाज में शिक्षा व्यवस्था के संभावित योगदान के बारे में चर्चा कर चुके हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक के रूप में प्रशिक्षण लेने के बाद आप अपनी भावी भूमिका को समझ गए हैं। इस चरण में यदि आप पिछले पृष्ठो से भारतीय समाज की पृष्ठभूमि, उसके उभरते हुए ध्येयों और मूल्यों तथा प्रारंभिक शिक्षा के लक्ष्यों और कार्यों के बारे में अपने ज्ञान की समीक्षा कर लें तो सामाजिक परिवर्तन में शिक्षक की भूमिका को समझना आपके लिए अधिक सरल हो जाएगा।

सबसे पहले आपको यह स्मरण रखना आवश्यक है कि शिक्षक शिक्षा व्यवस्था की धुरी की कील होता है। शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति में उसकी प्रमुख भूमिका रहती है। इस संबध में प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक की भूमिका पर और भी विशेष बल देने की आवश्यकता है, न केवल इस आयुवर्ग के बच्चों के प्रति संवैधानिक प्रतिबद्धता के कारण बल्कि इसलिए भी कि शिक्षक को उस चरण में बच्चों के जीवन के सबसे संवेदनशील वर्षों से पाला पड़ता है। अतः कक्षा के अंदर और कक्षा के बाहर भी शिक्षक की भूमिका को स्पष्ट रूप से समझ लेना महत्वपूर्ण है क्योंकि हमारे बच्चों की एक बहुत बड़ी सख्या प्रारंभिक शिक्षा से आगे की औपचारिक पढ़ाई करने में असमर्थ रहती है। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षक नई पीढ़ी को समाज में संभावित परिवर्तनों, उनकी आवश्यकताओं, इच्छाओं और सामाजिक परिवर्तन में प्रबुद्ध नागरिकों की भूमिका के बारे में दिशा निर्देश देने का अधिकतक प्रयास करे। शिक्षा एक सर्जनात्मक शक्ति बन सके, इसलिए एक नए समाज की कल्पना में शिक्षक को उत्साह से काम करना चाहिए। उसे अपनी भूमिका को स्पष्ट रूप से समझने का प्रयास करना चाहिए। उसे अपनी कठिनाइयों को या तो अपने ही स्तर पर हल करने का प्रयास करना चाहिए अथवा उन्हें दूर करने के लिए अपने साथ अन्य सामाजिक संस्थाओं को लेकर आगे बढ़ना चाहिए।

आइए, पहले हम इस बात पर ध्यान दें कि चौथे अध्याय में उल्लिखित सामाजिक परिवर्तन को आगे बढ़ाने में शिक्षा की सीमाओं के कारण जो कठिनाइयाँ आती हैं उन्हें एक प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक किस प्रकार दूर कर सकता है। यहाँ हम इस बात को दोहराना चाहेंगे कि समुदाय के संसाधनों का उपयोग करने में शिक्षक की योग्यता और दक्षता के साथ-साथ उसकी प्रेरणाशक्ति और उत्साह बाल-शिक्षा से संबद्ध अनेक समस्याओं को हल कर सकते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें कुशल शिक्षकों ने विद्यालय का भवन बनाने, बच्चों के लिए अध्ययन सामग्री, जिसमें फर्नीचर भी है, जुटाने में समुदाय के सदस्यों की सहायता ली है। ऐसे भी उदाहरण मिल जाते हैं जिनमें देश के दूरस्थ कोनों में काम करते हुए भी शिक्षकों ने उच्च शिक्षा ग्रहण करना जारी रखा है। यह भी पाया गया है कि पाठ्यचर्चा और पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में प्रारम्भिक विद्यालय शिक्षकों का अधिकाधिक सहयोग नहीं लिया जा रहा है। निःसंदेह ऐसे अवसरों पर शिक्षकों को अपनी बात समझाने पर बल देना चाहिए और उच्च प्रशासनिक पदों पर आसीन लोगों के अवास्तविक विचारों के आगे झुकना नहीं चाहिए। प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक को दूसरों को यह अनुभव कराना चाहिए कि वह अपने कार्य को जानता है और उसके विचारों पर उचित ध्यान दिया जाना चाहिए। यह भी एक शुभारम्भ है कि कुछ राज्यों में केवल प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक ही ब्लाक स्तर के निरीक्षक पदों के पात्र माने जाते हैं। अधिकाधिक विशिष्ट प्रारंभिक शिक्षा पाठ्यक्रम जारी होने से प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक के लिए शिक्षा पद्धति के उच्चतम पद तक पहुंच पाना संभव हो जाएगा। ऐसा न केवल विकसित राष्ट्रों में ही हुआ है बल्कि कुछ विकासशील देशों ने भी प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक के रूप मे जीविका आरम्भ करने वाले व्यक्तियों को उच्चतम उत्तरदायित्व के पद प्रदान किए हैं। अतः हमें यह आशा करनी चाहिए कि सेवाकालीन अध्यापक-शिक्षा कार्यक्रमों से शिक्षकों की योग्यता में सुधार होगा और उन्हें अपने कार्य में नया दृष्टिकोण अपनाने में सहायता मिलेगी। प्रारंभिक विद्यालय शिक्षकों को उचित प्रोत्साहन देने के लिए अनेक नए कार्यक्रम चलाए गए हैं। राष्ट्रीय शैक्षिक

अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् का 'सेमिनार रीडिंग्स प्रोग्राम' लेखन की प्रवृत्ति वाले शिक्षकों को आवश्यक प्रोत्साहन प्रदान करता है। इसी प्रकार राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् प्रारंभिक विद्यालय शिक्षकों की क्रियात्मक अनुसंधान (ऐक्शन रिसर्च) परियोजनाओं के लिए आवश्यक निधि की व्यवस्था करती है। कुछ राज्य प्रारंभिक शिक्षा पर पत्रिकाएं भी प्रकाशित करते हैं। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा आयोजित पूर्व प्राथमिक और प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों के लिए खिलौने बनाने की प्रतिस्पर्धा से इन शिक्षकों में प्रतिभा खोजने का अवसर प्राप्त होता है। अतः प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक को निराशावादी दृष्टिकोण छोड़ देना चाहिए और उत्साह एवं दृढ़ निश्चय से कठिनाइयों को दूर करना चाहिए जिससे वह समाज में परिवर्तन लाने के अपने प्रयासों को बढ़ावा दे सके।

पिछले पृष्ठों में यह चर्चा की गई है कि हमारे समाज में कितनी तेजी से परिवर्तन हो रहा है और किस प्रकार प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक सामाजिक परिवर्तन पर प्रभाव डाल सकता है। आपने यह भी अनुभव किया होगा कि हमारे समय की वास्तविकता 'परिवर्तन' ही है। समाज को आधुनिक बनाने वाली अनेक प्रक्रियाओं का आपको ज्ञान होगा। अतः आपको भावी समाज के महत्व को अवश्य समझना चाहिए और आने वाले कल के समाज में अपनी भूमिका की कल्पना कर लेनी चाहिए।

परिवर्तनशील परिवेश में दो अति महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित हो रही हैं— जनसंख्या-विस्फोट और विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का विकास। जनसंख्या में वृद्धि होने से अधिक छात्रों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करनी होती है। ऐसा अनुभव किया गया है कि संविधान में प्रतिबद्धता के बावजूद हम अभी तक 6-14 वर्ष के आयुवर्ग के सभी बच्चों को प्रारंभिक शिक्षा प्रदान करने में असमर्थ रहे हैं। अतः इन बच्चों को शिक्षित करने के लिए हमें कुछ वैकल्पिक उपाय अपनाने की आवश्यकता है। विद्यालय न जाने वाले बच्चों के लिए अनौपचारिक शिक्षा के हमारे अनुभवों के कुछ अच्छे परिणाम निकल रहे हैं। ऐसे ही और अनेक उपाय खोजने होंगे और एक नई प्रकार की परिपाटी विकसित करनी होगी। इनके लिए पाठ्यचर्या तथा विद्यालयों की आंतरिक संरचना में परिवर्तनों, मूल्यांकन की भिन्न विधाओं और शिक्षा संस्थाओं में परस्पर सहयोग की आवश्यकता है।

राष्ट्रीय उपग्रह प्रणाली के अधिक उपयोग से हम शिक्षा के क्षेत्र को बढ़ा सकते हैं। दूरदर्शन, फिल्म, आकाशवाणी और टेप-रिकार्डरों के उपयोग से कल के शिक्षक की भूमिका ही बदल जाएगी। कल के शिक्षक को एक ओर तो कक्षा में एक अभिप्रेरक तथा समाधानकर्ता के रूप में काम करना पड़ सकता है और दूसरी ओर उसे आकाशवाणी तथा दूरदर्शन के लिए पाठ लिखने पड़ सकते हैं। कक्षा में शिक्षक के लिए नित्य के कार्यों को कम करने के लिए स्वाध्याय सामग्री और अन्य विधियों की अधिक आवश्यकता हो सकती है। निरंतर शिक्षा और आजीवन शिक्षा की मांगों के कारण प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक से भी यह अपेक्षा की जाएगी कि वह तथ्यों को कोरा सीखने पर कम और 'ज्ञान के लिए अध्ययन' पर अधिक बल दे। अतः भविष्योन्मुख शैक्षिक विकास पर विचार करना आज के शिक्षक का कर्तव्य है। नई शैक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे नए अनुबंधों और शिक्षा संस्थाओं में पारस्परिक योगदान की कल्पना करनी चाहिए।

समाज मे परिवर्तन लाने वाले एजेण्ट की भूमिका निभाने के लिए प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक को समाज में हो रहे परिवर्तनों और इस रूपांतरण को लाने वाली शक्तियों से अवगत रहना चाहिए। वांछनीय परिवर्तन लाने और अवांछनीय परिवर्तनों

का त्याग करने में शिक्षा की नीर-क्षीर विवेकी भूमिका को भी उसे समझना चाहिए। यह तभी संभव होगा जब शिक्षक प्रशिक्षण के स्तर पर ही संभव होगा जब शिक्षक गण प्रशिक्षण के स्तर पर ही अपने भावी शैक्षिक तथा व्यावसायिक विकास के मार्ग को पहचानना आरम्भ कर दें। इस बात से मस्तिष्क वाला शिक्षक ही परिवर्तनशील समाज की मांगों की पूर्ति कर सकता है।

अत: सामाजिक परिवर्तन के एक साधन के रूप में शिक्षा का उपयोग करने के लिए प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक के सतत् व्यावसायिक विकास का प्रभावशाली कार्यक्रम सबसे महत्वपूर्ण तत्व है।

सारांश

1. शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति में शिक्षक की मुख्य भूमिका होती है।
2. प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक को सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा की भूमिका पर बल देना चाहिए। अनेक छात्रों के लिए प्रारंभिक शिक्षा ही शिक्षण का अंतिम चरण हो सकती है।
3. अपने कार्य के प्रति उचित दृष्टिकोण, उत्साह और प्रेरणाशक्ति का विकास कर शिक्षक सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा की भूमिका में रुकावट डालने वाली अधिकांश बाधाओं को दूर कर सकता है।
4. प्रतिभाशाली प्रारंभिक विद्यालयी शिक्षक को उचित प्रोत्साहन देने वाले अनेक कार्यक्रम हैं।
5. भारत में उभरते परिवेश के परिवर्तनशील संदर्भ में शिक्षक के लिए अपनी भूमिका की कल्पना करना अत्यावश्यक है।

विचिंतन प्रश्न

1. सामाजिक परिवर्तन लाने में प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक की भूमिका क्यों महत्वपूर्ण है?
2. सामाजिक परिवर्तन लाने में शिक्षा की कुछ सीमाएं होती हैं। शिक्षक इन सीमाओं में किस प्रकार कार्य कर सकते है?
3. शिक्षक द्वारा कक्षा में किए जाने वाले कुछ ऐसे कार्यकलापों का उल्लेख कीजिए जिनसे सामाजिक परिवर्तन की दिशा में सहायता मिल सके।
4. रूढ़िवादी एवं औद्योगिक समाजों में शिक्षा की भूमिका के संदर्भ में सामाजिक परिवर्तन लाने में शिक्षक के उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
5. सामाजिक परिवर्तन लाने में शिक्षक का व्यक्तित्व छात्रों को किस प्रकार प्रभावित करता है?
6. सामाजिक परिवर्तन लाने में शिक्षकों के व्यावसायिक संगठन कौनसी अन्य विधियाँ अपना सकते हैं?

सातवाँ अध्याय

शिक्षक, विद्यालय और समुदाय

विद्यार्थी जीवन के दौरान आपके विद्यालय से स्थानीय लोगों के जो सम्बन्ध रहे उनसे आप अवश्य परिचित होंगे। यदि आप किसी विद्यालय में पढ़ा चुके हैं तो आपका सम्पर्क उन लोगों से अवश्य हुआ होगा जिनके बच्चे उस विद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। उस समय उपयुक्त उत्तर पाने के लिए आपके मन में इस प्रकार के अनेक प्रश्न कुलबुलाए होंगे—ये संबंध किस प्रकार के हैं? ये संबंध बच्चों की शिक्षा और उनके माता-पिता के लिए किस प्रकार लाभकारी हैं? इन संबंधों का विद्यालय और स्थानीय लोगों पर साधारणतः कैसा प्रभाव पड़ता है? इन संबंधों का राष्ट्रीय विकास के हित में किस प्रकार परिमार्जन और प्रसार किया जा सकता है?

उपर्युक्त प्रश्नों तथा ऐसे ही अन्य प्रश्नों पर इस अध्याय की अलग-अलग इकाइयों में हम चर्चा करेंगे। इकाई 7.1 में विद्यालय और समुदाय के बीच के विभिन्न संबंधों की चर्चा की गई है। इकाई 7.2 में बताया गया है कि किस प्रकार शिक्षक का संबंध सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के शैक्षिक पक्षों से है। इकाई 7.3 में सामुदायिक विद्यालय के महत्व की चर्चा की गई है। इकाई 7.4 में उन सामाजिक तथ्यों का विश्लेषण किया गया है जो सामाजिक परिवर्तन लाने में विद्यालय के कार्य में रुकावट डाल सकते हैं। इकाई 7.5 में विद्यालय के कल्याण के लिए सामुदायिक संसाधन जुटाने के उपायों का उल्लेख किया गया है। अंतिम इकाई 7.6 में इस बात पर चर्चा की गई है कि समुदाय के साथ संबंध बनाने में शिक्षक की भूमिका क्या होनी चाहिए और क्या हो सकती है?

इकाई 7.1 विद्यालय-समुदाय संबंध

स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले भारत में विद्यालय उस समुदाय से प्रायः अलग-थलग रहते थे जिसके हित-साधन की उनसे अपेक्षा की जाती थी। विद्यालय का मुख्य कार्य निर्धारित पाठ्यचर्या के अनुसार बच्चों को पढ़ाना था। पाठ्यचर्या में मुख्यतः पढ़ाई, लिखाई, अंकगणित और इन उद्देश्यों से निर्धारित पुस्तकों में दी गई कुछ अन्य जानकारी सम्मिलित हुआ करती थीं। शिक्षकों का दायित्व केवल निश्चित पाठ्यक्रम को पूरा करना होता था और इसके लिए वे जन शिक्षा को नियंत्रित करने वाले अधिकारियों के सामने उत्तरदायी थे। एक ओर तो प्रशासनिक, और सम्भवतः राजनैतिक अपेक्षाएँ शिक्षकों को उस समुदाय के लोगों से मेल-जोल बढ़ाने की अनुमति नहीं देती थीं जिनके बच्चे विद्यालय में पढ़ते थे, और दूसरी ओर समुदाय के लोग भी विद्यालय के मामले में सक्रिय रुचि नहीं ले पाते थे। शिक्षक स्वयं को ब्रिटिश राज के ढाँचे का अंग समझते थे और इस प्रकार अपने को संबंधित समुदाय से ऊपर मानते थे। समुदाय भी विद्यालय से अलग रहता था। समुदाय विद्यालय को देश का शासन चलाने के लिए डाकघर, पुलिस-थाना जैसी अन्य सरकारी संस्थाओं की भाँति ही एक संस्था-मात्र समझता था। पूरे तंत्र

पर नौकरशाही इतनी हावी थी कि उसने विद्यालय को समुदाय से अलग एक छोटी-सी स्वतंत्र दुनिया बना रखा था। स्थिति को बदतर बनानेवाली बात यह थी कि विद्यालय की पाठ्यचर्या का न तो सामाजिक परिवेश से जुड़ाव होता था और न ही भौतिक पर्यावरण से कोई संबंध। विद्यालय के कार्यक्रमों में समुदाय की आवश्यकताओं और हितों का कोई स्थान नहीं था। वास्तव में ये सभी बातें उस समय विद्यमान समाज के स्वरूप के अनुसार ही थीं। समाज एकदम जड़ हो चला था। शिक्षा पर कुछ चुने हुए लोगों का विशेषाधिकार था। वे सरकारी सेवा में प्रवेश कर अथवा अन्य किसी सम्मानजनक व्यवसाय या धंधे में सम्मिलित होकर अपनी प्रतिष्ठा बनाए हुए थे। इस प्रकार ये लोग अपने को आम जनता से अलग रखते थे। तब इसमें आश्चर्य की बात ही क्या थी कि विद्यालय और समुदाय दो अलग-अलग हिस्सों में बँटे हुए थे।

स्वतंत्रता मिलने के बाद ही भारतीय समाज ने एक लोकतांत्रिक व्यवस्था के रूप में बदलना शुरु किया। आपको पता होना चाहिए कि लोकतंत्र व्यक्तिगत एवं समाजगत—दोनों ही दृष्टियों से रहन-सहन की गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए एक सामूहिक प्रयास के रूप में समाज के सभी सदस्यों की सक्रिय भागीदारी पर आधारित होता है। ऐसी स्थिति में परिवार एवं स्थानीय समुदाय जैसी समाज की मूलभूत इकाइयों को लोकतांत्रिक सामाजिक व्यवस्था के विकास में अधिकाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होती है। भारत में निम्नतम तल से लोकतंत्र का विकास करने की दृष्टि से ग्राम स्तर से जिला स्तर तक पंचायती राज संस्थाएँ स्थापित की गई हैं। सभी स्तरों पर लोगों के जीवन को नियमित करने तथा जीवन शैली में सुधार लाने के अधिकार का विकेन्द्रीकरण कर दिया गया है। आशा है कि इस प्रकार की योजना से सामुदायिक विकास-कार्यक्रम से संबद्ध कार्यकलापों में भाग लेकर सभी लोग अपनी क्षमताओं का विकास कर सकेंगे।

इस बदली हुई स्थिति में यह बिलकुल स्पष्ट है कि विद्यालय अब समुदाय से अलग-थलग नहीं रह सकते। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को सफल बनाने के लिए यह अत्यावश्यक है कि सामुदायिक जीवन के सभी पक्षों में उपयुक्त परिवर्तन लाया जाए। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में विद्यालय को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है। यह भूमिका उतनी ही महत्वपूर्ण होनी चाहिए जितनी कि स्वातंत्र्योत्तर काल में इस कार्य के लिए विशेष रूप से स्थापित की गई अन्य सरकारी और स्वयंसेवी संस्थाओं को निभानी है। अब विद्यालय को एक सच्चे सामुदायिक विद्यालय में रूपांतरित करना होगा जिससे कि दोनों के जीवन स्तर को ऊपर उठाने के उसके प्रयासों को बल मिले तथा समुदाय और विद्यालय समाज के परस्पर निर्भर अंगों के रूप में कार्य कर सकें।

विद्यालय को सामुदायिक विद्यालय में रूपांतरित करने से न केवल लोकतंत्र सुदृढ़ होगा तथा राष्ट्रीय विकास को बढ़ावा मिलेगा बल्कि शिक्षा के प्रभाव में भी वृद्धि होगी, क्योंकि सामुदायिक विद्यालय अध्ययन और अध्यापन की सार्थक परिस्थितियाँ प्रदान करते हैं।

अत: शिक्षक के रूप में आपके लिए उस नई भूमिका को समझना आवश्यक है जो आपकी बस्ती में चल रहे सामुदायिक विकास कार्यक्रमों में आपको निभानी है। प्रारंभिक विद्यालय शिक्षकों को सामुदायिक विकास के प्रति दिशानिर्देश देने के लिए भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने सामुदायिक विकास और सहकारिता विभाग के सहयोग से तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961-1966) के दौरान एक योजना चलाई थी। तब से अब तक देश के विभिन्न भागों में विद्यालयों ने इस दिशा में कुछ

अच्छा और ठोस कार्य किया है और इस प्रक्रिया में विद्यालय और समुदाय के संबंध एक दूसरे के लाभ के लिए सुदृढ़ हुए हैं।

सामुदायिक विकास के प्रति प्रारंभिक शिक्षकों को दिशा निर्देशित करने की योजना का अपेक्षित विकास नहीं हुआ और सामुदायिक विद्यालय की धारणा ने इतना बल नहीं पकड़ा जिससे वह अपेक्षानुसार सर्वव्यापी हो सकती। आज सामुदायिक विद्यालय मरुस्थल में मरुद्यान जैसे हैं। अतः राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् का यह विचार कि अध्यापक शिक्षा के सभी स्तरों पर 'समुदाय के साथ काम करने' को एक अभिन्न अंग माना जाना चाहिए, भविष्य के लिए एक शुभ संकेत हैं। 'अध्यापक शिक्षा पाठ्यक्रय—एक रूपरेखा' में उल्लिखित एक मुख्य उद्देश्य, जिसे परिषद् ने स्वीकार कर लिया है यह है कि शिक्षक को विद्यालय और समुदाय के बीच संपर्क स्थापित करने का कार्य करना चाहिए और विद्यालय के कार्यकलाप के साथ सामुदायिक जीवन और संसाधनों को एकीकृत करने के लिए उपयुक्त उपायों और साधनों से काम लेना चाहिए। ऐसा सुझाव दिया गया है कि शिक्षक सामाजिक परिवर्तन लाने में न केवल विद्यालय की और अपनी भूमिका को सकझें बल्कि उस भूमिका को निभाने की विधि भी सीखें। अतः सभी भावी शिक्षकों को इस उद्देश्य से समुचित प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

सारांश

1. स्वतंत्रता से पूर्व भारत में विद्यालय उस समुदाय से प्रायः कटा रहता था जिसके हित-साधन की उससे अपेक्षा की जाती थी। शिक्षक का दायित्व केवल निर्धारित पाठ्यक्रम को पूरा करना था और इसके लिए वह जनमत को नियंत्रित करने वाले अधिकारियों के प्रति उत्तरदायी था। पूरी शिक्षा-व्यवस्था पर नौकरशाही इतनी हावी थी कि समुदाय से कटे रहकर विद्यालय एक स्वतंत्र छोटी-सी दुनिया के रूप में काम करने वाले केन्द्र बने हुए थे।
2. भारत स्वतंत्र हुआ और समाज लोकतांत्रिक व्यवस्था की ओर अभिमुख होने लगा। परिवर्तित स्थिति में यह बिल्कुल स्पष्ट था कि विद्यालय अब समुदाय से अलग-थलग नहीं रह सकते। इस प्रक्रिया में विद्यालय-समुदाय-संबंध एक दूसरे के लाभ के लिए परस्पर सुदृढ़ हुए हैं।
3. विद्यालय को ''सामुदायिक विद्यालय'' में रूपांतरित करने से न केवल लोकतंत्र सुदृढ़ होगा तथा राष्ट्रीय विकास को बढ़ावा मिलेगा बल्कि यह शिक्षा को अधिक प्रभावशाली भी बनाएगा क्योंकि सामुदायिक विद्यालय अध्ययन और अध्यापन के लिए सार्थक स्थितियाँ उपलब्ध कराता है।

विचिंतन प्रश्न

1. स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले विद्यालय का मुख्य दायित्व क्या हुआ करता था?
2. स्वतंत्रता से पूर्व विद्यालय और समुदाय के परस्पर संबंधों का वर्णन कीजिए।
3. आज के सामुदायिक विकास कार्यक्रमों में शिक्षक की भूमिका क्यों महत्वपूर्ण हो गई है?
4. "समुदाय के साथ काम करना" से आप क्या समझते हैं?

इकाई 7.2 शिक्षक की शिक्षा और सामुदायिक विकास

जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, विद्यालय का एक लक्ष्य सामुदायिक जीवन में सुधार लाना है। व्यापक अर्थों में शिक्षा के द्वारा ही समुदाय के कल्याण में विद्यालय अपना योगदान कर सकता है। निस्संदेह शैक्षिक कार्यक्रम विविध सामुदायिक समूहों की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाए जाते हैं। शहरी समुदाय की शैक्षिक आवश्यकताएँ वे नहीं होतीं जो ग्रामीण समुदाय की होती हैं। प्रधानतः औद्योगिक मजदूरों के समुदाय की आवश्यकताएँ किसानों और खेतिहर मजदूरों की आवश्यकतओं से बहुत भिन्न होती हैं। शहर की गंदी बस्तियों में रहनेवालों के लिए ऐसे शैक्षिक कार्यक्रम की आवश्यकता है जो ग्रामीण निर्धनों के लिए उपयुक्त शैक्षिक कार्यक्रम से भिन्न हो।

आप जानते हैं कि 1981 की अस्थायी जनगणना के अनुसार भारत की 76 प्रतिशत जनता गाँवों में रहती है। आर्थिक एवं शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े लोगों में एक बड़ा बहुमत ग्रामीण आबादी का है। यही कारण है कि सामुदायिक विकास परियोजनाएँ विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में प्रारम्भ की गईं और सामुदायिक विकास के प्रति प्रारंभिक विद्यालय शिक्षकों को दिशानिर्देश देने की योजना ग्रामीण क्षेत्रों पर ही आधारित थी। पर जैसा पहले संकेत किया जा चुका है कि इधर-उधर थोड़े-बहुत प्रशंसनीय परीक्षणों के अतिरिक्त विभिन्न कारणों से इस योजना में अधिक प्रगति नहीं हो सकी। ऐसा होने के दो सबसे महत्वपूर्ण कारण थे—(1) दिशानिर्देश कार्यक्रम को पर्याप्त समय तक चलाने और व्यापक बनाने में विफल रहना। इससे इस कार्यक्रम के अंतगर्त अधिक संख्या में सेवाकालीन शिक्षक नहीं आ सके, और (2) नियमित शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम में अत्यावश्यक तत्व के रूप में समुदाय को सम्मिलित करने में सामुदायिक विकास कार्य की उपेक्षा। इस कमी को अब हाल में प्रस्तावित अध्यापक शिक्षा पाठ्यक्रम द्वारा योजनाबद्ध ढंग से पूरा करने का प्रयास किया जा रहा है। अतः प्रशिक्षण के दौरान शिक्षक को सामुदायिक विकास कार्यक्रम की न केवल सैद्धांतिक जानकारी ही हासिल करनी होगी बल्कि उसका व्यवहारिक अनुभव भी प्राप्त करना होगा।

शिक्षक को मुख्यतः सामुदायिक विकास कार्यक्रम के शैक्षिक पक्ष पर ध्यान देना चाहिए। अतः एक शिक्षक का लक्ष्य विकास कार्यक्रम के फलितार्थों के प्रति समुदाय में जागरूकता बढ़ाने का होना चाहिए। किन्तु आपको यह भी अनुभव करना चाहिए कि नए कार्यक्रम के प्रति प्रारंभिक प्रतिरोध को दूर करना एक कठिन कार्य है। समय के साथ-साथ लोगों में सोचने और कार्य करने की कुछ आदतें विकसित हो गई हैं। फिर अतीत के अनुभवों ने उन्हें सामान्यतः नई बातों के प्रति

शंकालु बना दिया है। इनका प्रचार करने वाले अधिकांश लोगों के उद्देश्य गुप्त रखे जाते थे। आप जब तक शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम से मिलनेवाले प्रत्याशित लाभों के बारे में लोगों को विश्वास नहीं दिलाएंगे तब तक उनका स्वेच्छा से सहयोग प्राप्त नहीं कर पाएँगे। इसके लिए आपको कार्यक्रम से संबद्ध समुचित समझ और आवश्यक दक्षता से अपने को पूरी तरह लैस करना होगा।

अध्यापक प्रशिक्षण संस्था से आशा की जाती है कि वह समुदाय के साथ कार्य करने का एक गहन कार्यक्रम चलाएगी। इस संबंध में आपको अन्य साथी प्रशिक्षणार्थियों के साथ निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना होगा:

1. अध्ययन के उद्देश्य से उपयोगी—मानव और भौतिक—दोनों प्रकार के संसाधनों की जानकारी प्राप्त करने के लिए सर्वेक्षण करना—जैसे अच्छे-अच्छे दस्तकारों और संगीतकारों का पता लगाना, स्वास्थ्य तथा सफाई की सुविधाओं का ध्यान रखना, बैंकों, सहकारी समितियों, प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों, परिवहन के साधनों तथा बाज़ार की सुविधाओं जैसी आर्थिक और सामाजिक संस्थाओं के बारे में जानकारी प्राप्त करना।
2. अपने कार्यक्षेत्र में उपलब्ध कार्य-अवसरों की सूची तैयार करने के लिए सर्वेक्षण करना।
3. स्थानीय विद्यालय में पढ़ रहे बच्चों के माता-पिताओं से सम्पर्क कर उनकी शैक्षिक आवश्यकताओं और उनके बच्चों की समस्याओं का पता लगाना।
4. बच्चे की शिक्षा में उसके माता-पिता का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने और उसकी अभिरुचियों तथा घर पर उसके कार्यकलापों की सही जानकारी प्राप्त करने के लिए अभिभावक-शिक्षक संघ बनाना।
5. उन विषयों का पता लगाने के लिए जिनमें सामुदायिक ससाधन उपयोग में लाए जा सकें, विद्यालय पाठ्यक्रम का विश्लेषण करना।
6. शैक्षिक कार्यक्रम की सम्पन्नता के लिए सामुदायिक संसाधनों का उपयोग करना, उदाहरणार्थ विद्यालय के बच्चों को संक्रामक रोगों से बचाव के उपाय बतलाने के लिए स्थानीय डाक्टर को निमंत्रित करना, अथवा बच्चों को कार्य का अनुभव प्राप्त कराने और विद्यालय में उत्पादक कार्य का प्रबंध करने के लिए स्थानीय बढ़ई, दर्जी और अन्य शिल्पकारों की सहायता लेना।
7. यदि विद्यालय में बच्चों को दोपहर का भोजन देने की व्यवस्था हो तो उसका प्रबंध करना।
8. एकांकी नाटक, गीत और अन्य मनोरंजक रचनाएँ लिखना और समुदाय के हित के लिए उनका मंचन करना।

सर्वेक्षणों के आधार पर प्राप्त सूचना से आस-पास के उपलब्ध जानकार लोगों की एक समिति को विचार करना चाहिए ताकि उन समस्याओं का पता लगाया जा सके जिनके लिए विकास कार्यक्रमों की आवश्यकता है। समिति के सदस्य खंड-विकास कार्यालय के अधिकारी, ग्राम पंचायत के सदस्य, बैंक और सहकारी समितियों जैसी स्थानीय वित्तीय संस्थाओं के प्रतिनिधि, शिक्षक और समुदाय के नेता हो सकते हैं जो जनमत का निर्माण करते हैं। समस्याओं का पता लगा लेने के बाद प्राथमिकताएँ निश्चित की जा सकती हैं और समिति कार्य-योजनाओं का निर्धारण कर सकती है।

समुदाय के विभिन्न वर्गों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर अनेक कार्यक्रम शुरू भी किए जा चुके हैं। इनमें से कुछ कार्यक्रम विशिष्ट रूप से शैक्षिक हैं और इनका सर्वव्यापी महत्व है। उदाहरणार्थ राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम, बीच में

पढ़ाई छोड़ देने वालों के लिए अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम, विद्यालय में न पढ़ने वाले युवकों के लिए कार्यकलाप और समुदाय के लिए मनोरंजन कार्यक्रम देश भर में बड़े पैमाने पर चलाए गए हैं। अध्यापक प्रशिक्षार्थी को समुदायिक विकास कार्य के गहन प्रशिक्षण के दौरान इन कार्यक्रमों को आयोजित तथा क्रियान्वित करने का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे कार्यक्रम भी हैं जो किसी विशेष बस्ती के लिए ही होते हैं, जैसे सड़क बनाना, पीने के पानी की व्यवस्था करना आदि। यदि शिक्षक के कार्य-क्षेत्र में कोई ऐसी समस्या है तो उसे समुदाय की सहायता से एक प्रभावशाली कार्यक्रम आयोजित करना सीखना चाहिए जिससे समस्या का समाधान हो सके।

इस प्रकार के किसी भी कार्यक्रम को क्रियान्वित करते समय शिक्षक को एक बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि वह समुदाय के साथ मिलकर काम करे न कि समुदाय के लिए काम करे। तभी वह अच्छे परिणामों की आशा कर सकता है। उदाहरणार्थ पहले की गई अनेक समाज सेवाओं के अनुभव से पता चलता है कि जब शिक्षकों ने गाँव के लोगों का सहयोग लिए बिना स्वयं गाँव की गलियों की सफाई की अथवा स्वच्छ शौचालय बनाए तो सारा प्रयास निष्फल रहा। गलियों को पहले जैसी गंदी होने में समय नहीं लगा और शौचालय तो उपयोग में ही नहीं लाए गए। अत: सबसे पहला काम यह है कि पहले विशेष कार्यक्रम की आवश्यकता के प्रति समुदाय में चेतना पैदा करें और तब उसके क्रियान्वयन में उनका हार्दिक सहयोग प्राप्त करें।

अंत में शिक्षक को सीखना चाहिए कि उसके सहयोग से पूरी की गई सामुदायिक विकास परियोजना का मूल्यांकन कैसे किया जाए। परियोजना को पुष्पित-पल्लवित करने के लिए अनुवर्ती (फौलोअप) कार्रवाई की रूपरेखा तैयार की जानी चाहिए।

सारांश

1. सामुदायिक जीवन में सुधार लाना अब विद्यालय का एक लक्ष्य बन गया है। किन्तु सामुदायिक विकास के लिए प्रारंभिक विद्यालय शिक्षकों की दिशानिर्देश योजना का अभी अपेक्षित विकास नहीं हो पाया है और सामुदायिक विद्यालय की धारणा अपेक्षानुसार सर्वव्यापी स्वीकृति प्राप्त नहीं कर पाई है।
2. शिक्षक को मुख्यत: सामुदायिक विकास कार्यक्रम के शैक्षिक पक्ष पर ध्यान देना चाहिए। उसको समझना चाहिए कि नए कार्यक्रमों के प्रति प्रारंभिक प्रतिरोधों को दूर करना कठिन कार्य है।
3. इसके लिए स्वयं शिक्षक को कार्यक्रम की समुचित समझ और आवश्यक दक्षता से पूरी तरह लैस होना होगा।
4. ऐसे कार्यक्रम को पूरा करते समय शिक्षक को यह बात सदा अपने ध्यान में रखनी है कि

वह समुदाय के साथ मिलकर काम करे, समुदाय के लिए नहीं।

5. अंत में, उसे सीखना है कि सामुदायिक विकास परियोजना का मूल्यांकन किस प्रकार किया जाए।

विचिंतन प्रश्न

1. यदि आप समुदाय के साथ काम करने का प्रशिक्षण कार्यक्रम पूरा कर चुके हैं तो बताइए कि आपको इस कार्यक्रम की कौन-सी बातें सबसे अच्छी लगी हैं और कार्यक्रम के कौन-से भाग शिथिल रहे? आपके ऐसा सोचने के क्या कारण हैं?
2. अपने क्षेत्र में चल रही किसी एक सामुदायिक परियोजना को ध्यान से देखिए। समुदाय के विभिन्न वर्गों पर उक्त परियोजना का क्या प्रभाव पड़ा है? परियोजना की समुदाय के लिए उपयोगिता के बारे में विभिन्न सामाजिक-आर्थिक (निम्न, मध्य और उच्च) वर्गों के लोगों की प्रतिक्रियाएं एकत्र कीजिए।
3. ऐसा कहा जाता है कि भारतीय सामान्यत: परंपरावादी होते है और वे अपने जीवन मे किसी परिवर्तन को सहसा स्वीकार नही करते। क्या सामुदायिक विकास कार्यक्रम से इस कथन की पुष्टि हुई है? यदि नहीं, तो इसके क्या प्रमाण है?
4. आपके विद्यालय में दोपहर का भोजन देने की व्यवस्था किस प्रकार की जा सकती है?
5. विद्यालय शिक्षा कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए आप अपने छात्रो के माता-पिताओं से किस प्रकार सहयोग प्राप्त कर सकते हैं?

इकाई 7.3 सामुदायिक विद्यालय

प्रशिक्षण पूरा कर लेने के बाद आपसे किसी विद्यालय में कार्य करने की आशा है। उस समय अपने विद्यालय को सामुदायिक विद्यालय की ओर निर्दिष्ट करने में आपका समुदाय के साथ कार्य का अनुभव बहुत काम आएगा।

जैसा पिछले खंड में संकेत किया गया है, सामुदायिक विद्यालय समुदाय का विद्यालय केवल इसलिए नहीं होता कि यह समुदाय की बस्ती में स्थित है। उसका उद्देश्य न केवल विद्यालय के घंटों में बच्चों को औपचारिक शिक्षा प्रदान करना है, वरन् विद्यालय के समय के बाद युवकों और प्रौढ़ लोगों के प्रशिक्षण और मनोरंजन का स्थान भी होता है। इससे भी अधिक सामुदायिक विद्यालय सामुदायिक विकास से संबद्ध अनेक कार्यकलापो का केन्द्र होता है। आदर्श स्थिति यह है कि सामुदायिक विद्यालय समुदाय का, समुदाय के लिए और समुदाय द्वारा संचालित विद्यालय होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि समुदाय को यह अनुभव होना चाहिए कि विद्यालय उनका अपना है, विद्यालय उनके हित के लिए है और विद्यालय को अच्छे से अच्छे ढंग से चलाने का दायित्व उनका है।

सामुदायिक विद्यालय की धारणा का संयुक्त राज्य अमरीका में पर्याप्त विकास हुआ है और वहाँ सामुदायिक विद्यालय दूर-दूर तक फैले हुए हैं। ये विद्यालय वहाँ काफी लोकप्रिय हुए हैं। हाल में कुछ विकासशील देशों में भी सामुदायिक विद्यालयों को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। उदाहरणार्थ फिलिपीन और

इन्डोनेशिया में अब सामुदायिक विद्यालयों का जाल बिछा हुआ है। हमारे अपने देश में भी बुनियादी शिक्षा के स्वर्णकाल में शैक्षिक कार्यकर्ताओं को सामुदायिक विद्यालय के विचार ने बहुत आकर्षित किया है। अनेक बुनियादी विद्यालयों में इस विचार को सफलतापूर्वक व्यवहार में लाया गया है। इसका संकेत पहले दिया जा चुका है। यहाँ यह कहना पर्याप्त है कि यदि आपके मन में अपने विद्यालय को सामुदायिक विद्यालय में रूपांतरित करने की भावना है तो इसमें कोई अलंघ्य रुकावट नहीं आनी चाहिए।

आज अपने देश सहित सभी विकासशील देशों में परम्परागत विद्यालय को सामुदायिक विद्यालय में रूपांतरित करने की अधिकाधिक आवश्यकता अनुभव की जा रही है। और ऐसा सकारण है। विकास कार्यक्रम की सफलता एक बड़ी सीमा तक उसमें संलग्न नर-नारियों की दक्षता, योग्यता और उससे भी अधिक उनके दृष्टिकोणों पर निर्भर है। आप जानते हैं कि व्यापक अर्थों में शिक्षा ही आवश्यक दक्षता, योग्यता तथा दृष्टिकोण पैदा कर सकती है। सम्भवतः एक गतिहीन और रुढिवादी समाज में कुछ चुने हुए नागरिकों तक विद्यालयी शिक्षा को सीमित रखना और शिक्षा की विषय-वस्तु को लिखने-पढ़ने और अंकगणित तक सीमित रखना स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु एक विकासशील समाज में ऐसा नहीं हो सकता। इसके विपरीत एक विकासशील समाज को अपने सभी भावी नागरिकों को शिक्षा प्रदान करनी है और उनकी शिक्षा में केवल लिखना, पढ़ना तथा अंकगणित ही नहीं, कुछ उत्पादक दक्षताओं तथा समुचित सामाजिक दृष्टिकोणों को भी सम्मिलित करना है। सभी विकास कार्यक्रमों के लिए यह कहीं अधिक आवश्यक कार्य है।

विकासशील देश को गम्भीर वित्तीय सीमाओं में कार्य करना होता है। अतः अधिकांश बच्चे औपचारिक शिक्षा के रूप में केवल प्राथमिक शिक्षा की ही आशा कर सकते हैं। यही कारण है कि हमारे देश में प्राथमिक विद्यालय का महत्व और बढ जाता है। इस दृष्टि से आपके विद्यालय के संचालन में ऐसी हर वस्तु को पराई समझना चाहिए जो समुदाय के हित में न हो अथवा उसके लिए महत्व की न हो।

संभवतः आपने अपने आस-पास सरकार द्वारा चलाई जा रही व्यापक विकास योजनाओं की ओर ध्यान दिया हो। उनमें अनेक एजेंसियों के, विशेष रूप से कृषि, स्वास्थ्य, सहकारिता, श्रम, बाल-कल्याण, प्रौढ़ शिक्षा और सामुदायिक विकास में संलग्न एजेंसियों के मिलजुलकर काम करने की आशा की जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ स्वयंसेवी संस्थाए भी अपने विशिष्ट क्षेत्रों में कार्य कर रही हैं। आपको इनके कार्यों में गंभीर त्रुटियाँ दिखाई दी होंगी। हम मानते है कि सैद्धांतिक नियमों को पूरी तरह से व्यवहार में लाना संभव नहीं है। फिर भी यह सत्य है कि स्वतंत्रता के बाद देश में बहुमुखी विकास के लिए एक मूल ढांचा खड़ा कर लिया गया है।

विद्यालय को यह खाई पाटने में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है। सर्वेक्षण करके तथा समुदाय के साथ संपर्क स्थापित करके विद्यालय समुदाय की वास्तविक आवश्यकताओं का पता लगा सकता है और इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संयुक्त कार्य नीति बनाने में विभिन्न कल्याणकारी एजेंसियों को मंच प्रदान कर सकता है। साथ ही मिलजुल कर काम करते समय संबंधित एजेंसियों के सामने जो बाधाएँ आती हैं उन पर और कार्य की प्रगति पर विद्यालय निगरानी रख सकता है। इस प्रकार प्राप्त जानकारी के आधार पर अच्छे परिणाम प्राप्त करने के लिए योजना में संशोधन किया जा सकता है।

विद्यालय का शैक्षिक कार्यक्रम भी समुदाय की आवश्यकताओं के अनुसार बनाना चाहिए जिससे इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नई पीढ़ी को सार्थक ढंग से प्रशिक्षित किया जा सके और इस प्रकार वह सामुदायिक विकास में योगदान कर सके।

आपका विद्यालय सामुदायिक विद्यालय के रूप में काम करे, इसके लिए आपको कुछ बातों पर ध्यान देना चाहिए। संभव है कुछ माता-पिता सामुदायिक विद्यालय के कुछ कार्यक्रमों पर आपत्ति करें। वे पूछ सकते हैं—हमारे बच्चों को अन्य विद्यालयों के बच्चों की भाँति क्यों नहीं पढ़ाया जा रहा?" आपको जानना चाहिए कि यह एक वास्तविक प्रश्न है न कि काल्पनिक। जब छठे दशक में (1950 के बाद) पारंपरिक विद्यालयों को अकस्मात् बड़े पैमाने पर बुनियादी विद्यालयों में बदला गया था तब अनेक माता-पिताओं ने ठीक यही प्रश्न किया था। प्रस्तावित परिवर्तन के पक्ष में जनमत को ठीक से तैयार नहीं किए जाने से माता-पिताओं की ओर से बुनियादी शिक्षा की प्रगति में भारी बाधा पहुँचाई गई। सामुदायिक विद्यालय स्थापित करते समय हमें इस अनुभव से सीख लेनी चाहिए। नए प्रयत्नों के लक्ष्य और उद्देश्य और साथ ही उसकी कार्य-प्रणाली लोगों को पूरी तरह समझा देनी चाहिए जिससे वे लोग उसकी उपयोगिता के बारे में आश्वस्त हो सकें।

प्रशासन के लिए सुनिश्चित करने की अन्य बात यह है कि उच्चतर शिक्षा के लिए सामुदायिक विद्यालय के बच्चों का चुनाव कैसे किया जाए। गैर-परम्परागत शिक्षा मिलने के कारण इन बच्चों को उच्चतर विद्यालय में प्रवेश के मामले में दंडित नहीं होना चाहिए। समुदायों के सामाजिक और भौतिक परिवेश में काफी भिन्नता होती है, अतः सामुदायिक विद्यालयों की पाठ्यचर्या में भी भिन्नता होगी। स्थानीय प्रशासन को इस बात का ध्यान रखना है कि ऐसे किसी विद्यालय को नियम-विनियमों के कठोर पालन से अड़चन न हो। वे उक्त विद्यालय के लिए एकदम अनुपयुक्त हो सकते हैं। ऐसे अनेक मामले हैं जिनमें स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार लचीला दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। ये मामले व्यापक हो सकते हैं और उनके अंतर्गत विषयवस्तु, शिक्षण-विधि, पढ़ाई के घंटे और विद्यालय में न्यूनतम उपस्थिति के दिन आदि शामिल किए जा सकते हैं। सामान्य विद्यालयों तक में भी नीति संबंधी कुछ मामले स्थानीय परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं। उदाहरणार्थ विद्यालय के अवकाश में मौसम और स्थानीय काम-धंधों की विभिन्नताओं के अनुसार संशोधन करना होता है। निस्संदेह सामुदायिक विद्यालय में ऐसे कठोर नियमों के लिए कोई स्थान नहीं है जिनमें पूरे राज्य में एक समान पाठ्यक्रम अपनाने की आवश्यकता हो। सभी विद्यालयों के लिए कठोर पाठ्यक्रम और एक समान पुस्तकें निर्धारित करना सामुदायिक विद्यालयों की धारणा के विपरीत है। इसके अतिरिक्त इससे उन बच्चों के साथ भेदभाव हो सकता है जो सामुदायिक विद्यालय में अपनी शिक्षा पूरी कर लेने के बाद उच्च शिक्षा के विद्यालय में प्रवेश लेना चाहते हैं। इस संकट से सावधान रहना चाहिए। संभवतः आपने उस अव्यवस्था की बात सुनी हो जो बुनियादी विद्यालयों की उच्च विद्यालय (हाई स्कूल) के साथ कड़ी प्रदान न करने से पैदा हुई थी। इसी प्रकार की दुखद स्थिति का सामना उन छात्रों को करना पड़ा था जिन्होंने बहुउद्देश्यीय विद्यालयों में गैर-अकादमिक शिक्षा प्रणाली को अपनाया और बाद में उन्होंने जिस विषय में निपुणता प्राप्त की थी, उसमें भी उच्चतर व्यावसायिक शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश नहीं मिल सका। सामुदायिक विद्यालय के साथ ऐसी बात नहीं होने दी जानी चाहिए।

आपने स्वयं अनुभव किया होगा कि जब भी आप कोई नया काम शुरू करते हैं तो कुछ लोग आपका विरोध करते ही हैं। वे ऐसा इसलिए करते हैं कि वे या तो उस नई बात को ठीक तरह से समझ नहीं पाते या विरोध करने से उनका स्वार्थ सिद्ध होता है। यही बात सामुदायिक विद्यालय के साथ घट सकती है। विद्यालय को हर प्रकार के विघटनकारी आक्रमणों से बचाना आवश्यक है। समुदाय के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों की एक क्रियाशील विद्यालय समिति बनाना अच्छा रहेगा। उक्त समिति को शिक्षकों के साथ विद्यालय के कार्यक्रमों के नियोजन में सम्मिलित किया जा सकता है। पाठ्यचर्या कार्यक्रम के कुछ अंशों को कार्यान्वित करने में भी समुदाय का सहयोग लिया जा सकता है। उदाहरणार्थ स्थान विशेष का इतिहास, लोक-कथाएँ, लोकगीत और इसी प्रकार की अन्य बातों को शिक्षक की अपेक्षा आसपास के जानकार लोग अधिक अच्छे ढंग से बता सकते हैं। वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि शैक्षिक कार्यक्रमों में लोगों का सही अर्थों में योगदान मिले। दिखावे के लिए कुछ बैठकें आयोजित करने से और ऊँचे-ऊँचे ध्येयों के बारे में थोड़ी बातें चोरी करने से काम नहीं चलेगा। स्थिति-विशेष की आवश्यकताओ के अनुसार यह निर्धारित करना चाहिए कि समिति में एक साथ कितने लोग रहें। निश्चय ही यथार्थवादी सिफारिशें निर्धारित करने में बड़ी समिति की अपेक्षा छोटी समिति अधिक कारगर सिद्ध होती हैं। किन्तु आपको विविध विचारों और सुझावों की जानकारी के लिए समुदाय के सभी वर्गों को चर्चा में आमंत्रित करना चाहिए।

सामुदायिक विद्यालय को चाहिए कि अपने छात्रों को शिक्षा के अभिन्न अंग के रूप में समाज सेवा की उपयुक्त परियोजनाओं को हाथ में लेने के लिए प्रोत्साहित करे। ऐसा करने से बच्चों के चरित्र का निर्माण होगा, अनुशासन में सुधार होगा, शारीरिक श्रम के प्रति आदर की भावना जागृत होगी और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित होगी। समाज सेवा की परियोजनाएँ विद्यालय के सीमित संसाधनों और बच्चों की क्षमता के भीतर ही होनी चाहिए। ये परियोजनाएँ न तो दिखावटी होनी चाहिएँ और न आडम्बर वाली। समाज सेवा परियोजना ऐसी हो कि वह निरंतर चलती रहे। उसे आई-और-गई नहीं होना चाहिए। यह परियोजना व्यक्तिगत उद्यम नहीं बल्कि छात्रों के दल का सामूहिक प्रयास होना चाहिए जिससे उन में मिलजुल कर काम करने की भावना का विकास हो। उदाहरणार्थ छात्रों के दल बारी-बारी से अपनी कक्षाओं, विद्यालय के अहाते और कक्ष के उपकरणों, फर्नीचर आदि की सफाई कर सकते हैं और पीने के पानी की व्यवस्था कर सकते हैं। ऊँची कक्षाओं के छात्रों को भरती-अभियान में, बीच में पढ़ाई छोड़ देने वाले बच्चों और निरक्षर प्रौढ़ों को पढ़ाने में और आस-पास के क्षेत्रों की स्वास्थ्य तथा सफाई परियोजनाओं में सम्मिलित किया जा सकता है। वे विद्यालय तक जानेवाले मार्ग को बनाने और उसकी मरम्मत करने, खेल के मैदान को तैयार करने और कुएँ खोदने में भी समुदाय के साथ मिलकर काम कर सकते हैं।

सारांश

आदर्श रूप में सामुदायिक विद्यालय समुदाय का, समुदाय के लिए और समुदाय द्वारा संचालित विद्यालय होता है।

2. आज हमारे देश सहित सभी विकासशील देशों में पारंपरिक विद्यालय को सामुदायिक विद्यालय में रूपांतरित करने की आवश्यकता अनुभव की जा रही है।
3. सामुदायिक विद्यालय को चाहिए कि वह छात्रों को शिक्षा के अभिन्न अंग के रूप में समाज सेवा की उपयुक्त परियोजनाएं क्रियान्वित करने के लिए प्रोत्साहित करे।

विचिंतन प्रश्न

1. आपके परिचित विद्यालय सामुदायिक विद्यालय की किन-किन विशेषताओं को अपना सकते हैं? आपके विचार से इस संबंध में किस प्रकार की बाधाएँ आ सकती हैं? इन बाधाओं को किस प्रकार दूर किया जा सकता है?
2. अपने पड़ोस के विद्यालय में ऐसे अवसर पर जाइए जब वृक्षारोपण समारोह अथवा विद्यालय के वार्षिक उत्सव जैसे किसी विशेष समारोह को देखने के लिए स्थानीय लोग आमंत्रित किए गए हों। विद्यालय समुदाय सबंधों के निर्माण में इसकी उपयोगिता का मूल्यांकन कीजिए और इसमें सुधार के लिए अपने सुझाव भी दीजिए।
3. अपने विद्यालय के लिए एक ऐसी योजना बनाइए जिसमें समुदाय के साथ मिलकर पड़ौसी क्षेत्र के सूखा तथा बाढ पीड़ितों को सहायता प्रदान करने की बात हो।

इकाई 7.4 विद्यालय और सामाजिक परिवर्तन

छात्र-अध्यापक होने के नाते आपको यह बात बार-बार बतलाई गई है कि सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए विद्यालय एक सशक्त माध्यम है। सामाजिक परिवर्तन में सहायक स्वभाव और आचरण, दृष्टिकोण और आस्थाओं का विकास कर विद्यालय सामाजिक परिवर्तन की गति को बढ़ाता है अथवा उसे बल प्रदान करता है। आशा की जाती है कि यदि नई पीढ़ी में ऐसे परिवर्तन लाए जाएँ तो इसका प्रभाव प्रौढ़ समुदाय पर भी पड़ेगा और अंततः सामाजिक परिवर्तन एक वास्तविकता के रूप में संभव हो जाएगा।

विकास के लिए भारत को निश्चित ही अपनी जनता के, विशेषकर विकास के मार्ग में रोड़ा अटकाने वाली जनता के, रुढ़िवादी विचारों और आचरण में परिवर्तन लाना है। आप इस प्रकार के कुछ विचारों और आचरणों की पहचान कर सकेंगे जो निरंतर आलोचना के विषय बने रहे हैं। दीर्घकाल से चली आ रही जाति-प्रथा और भू-स्वामित्व की परम्परागत प्रणाली इसके उदाहरण हैं। असमानता की व्यवस्थाओं को बदलने के प्रयासों के बावजूद वे अभी तक विद्यमान हैं। ऐसे शक्तिशाली और प्रभावी समूह हैं जो अपने स्वार्थों पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले परिवर्तन के लिए अपनाए गए सभी उपायों को निष्फल करने का भरसक प्रयास करेंगे।

आपको यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि अकेला विद्यालय सामाजिक परिवर्तन की समस्या का समाधान नहीं कर सकता। यह उसके बूते की बात नहीं है। विद्यालय को परिवर्तन के पहलकर्ता के रूप में नहीं, व्याख्याता के रूप में समझना बुद्धिमानी होगी। सामुदायिक विद्यालय इस भूमिका

को अधिक अच्छी तरह से निभा सकता है क्योंकि बच्चे, युवा और प्रौढ़, नर और नारी, धनी और निर्धन, ऊँची और छोटी जाति या पूरे समुदाय का यह हित-साधन करता है। अपने बहुरूपी कार्यकलापों से सामुदायिक विद्यालय सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता और उसे अमली जामा पहनाने के उपायों से सभी लोगों को अवगत करा सकता है।

हाँ, सामाजिक परिवर्तन के अभिकर्ता की भूमिका निभाने में विद्यालय के सामने एक कठिनाई आ सकती है। इस संबंध में और अन्यथा भी विद्यालय को अपने छात्रों में विवेचनात्मक चिंतन के विकास को बढ़ावा देना चाहिए अर्थात् जहाँ तक संभव हो, वे स्वयं सोचें और रूढ़ियों के ठेकेदारों की बातों को और गुरुजनों के आदेश को तब तक स्वीकार न करें जब तक विवेचनात्क जाँच करके उसके सत्य और औचित्य के प्रति आश्वस्त न हो जाएँ। गुरुजन इस दृष्टिकोण को अपने अधिकार का हनन और चिर-पोषित रूढ़ियों का अपमान मान सकते हैं। इस बात को लेकर वे छात्रों में विवेचनात्मक चिंतन विकसित करने की विद्यालय की नीति का विरोध भी कर सकते हैं। देखने में यह विरोधाभास लग सकता है किन्तु यह विरोध स्वयं में विद्यालय की इस नीति को अपनाए जाने के पक्ष में एक सशक्त तर्क है। जब तक प्रौढ़ स्वयं शिक्षण-प्रक्रिया से नहीं जुड़ते, शिक्षा के प्रसार के साथ पीढ़ियों के इस अंतर में निश्चय ही वृद्धि होती जाएगी। प्रौढ़ समुदाय को विद्यालय के लक्ष्यों और उद्देश्यों के बारे में समझाकर उनमें से कुछ को शिक्षण प्रक्रिया में सम्मिलित किया जा सकता है। अभिभावक-शिक्षक संघ इस कार्य में एक उपयोगी मंच का काम कर सकता है।

सामाजिक परिवर्तन के लिए समुदाय को तैयार करने का एक प्रभावशाली उपाय यह है कि उसके सामने एक कठिन समस्या रख दी जाए। उस समस्या का अनुभव तो बहुत से लोग करते हों किन्तु हल दिखाई न पड़ने से उसके साथ रहने को विवश हों। समस्या पर प्रहार करने के लिए विद्यालय समुदाय के साथ बातचीत प्रारंभ कर सकता है। यह बातचीत द्विपक्षीय प्रक्रिया होनी चाहिए। इसका यह अर्थ है कि एक शिक्षक के रूप में आपको कभी यह मानकर नहीं चलना चाहिए कि लोग, चाहे निरक्षर ही क्यों न हों, एकदम अज्ञानी नहीं होते और उन्हें मिट्टी का माधो नहीं समझा जा सकता जिस पर आप अपनी विद्वता की मनचाही छाप लगा दें। लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना वास्तव में एक कठिन कार्य है और इसके लिए आपको असीम धैर्य से काम लेने की आवश्यकता है। ब्राज़ील में प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में सराहनीय कार्य करनेवाले ईसाई मिशनरी पाओलो फ्रेयरे के शब्दों में "महत्वपूर्ण परिवर्तन तब होता है जब लोग उस बात पर विश्वास करना बंद कर देते हैं जो कभी उनकी दृष्टि में सत्य थी किन्तु अब मिथ्या हो गई है; जब वे उन संस्थाओं का समर्थन करना बंद कर देते हैं जो कभी उनका हित साधन करती थीं किन्तु अब नहीं करतीं, जब वे उन बातों को मानने से इंकार कर देते हैं जो कभी उनके लिए उचित थीं किन्तु अब नहीं हैं। ऐसे परिवर्तन जब भी होते हैं, उचित शिक्षा के कारण ही होते हैं। लोगों को सामाजिक परिवर्तन के लिए तैयार करते समय आपका लक्ष्य इसी प्रकार की शिक्षा का होना चाहिए।"

यदि विद्यालय को सामाजिक परिवर्तन में सहायक की भूमिका निभानी है तो उसे अध्यापन-अध्ययन की परम्परागत संकलपना को बदलना होगा। आप परम्परागत संकल्पना पर आधारित वर्तमान पद्धति से परिचित हैं। शिक्षा की सम्पूर्ण प्रक्रिया एक ही प्रधान शैली पर केन्द्रित है, वह है वर्णन-शैली। शिक्षकों का यह विशेषाधिकार है कि वे बोलें और छात्रों का यह कर्तव्य है कि वे सुनें।

बाद में छात्रों से भी अपने सुने को दुहराने के लिए कहा जा सकता है। बोल कर पढ़ाने से छात्र शिक्षक की बातों को यंत्रवत् कंठस्थ कर लेते हैं। इससे पढ़ाई की प्रक्रिया नीरस और निर्जीव हो जाती है।

फ्रेयरे ने इसी को 'शिक्षा की जमा-खाता (बैंकिंग)' संकल्पना माना है क्योंकि इस प्रकार की पढ़ाई जमा करने के कार्य जैसी लगती है। इसमें छात्रों के मस्तिष्क में ज्ञान जमा किया जाता है और जमाकर्ता शिक्षक होता है। इस संबंध में शिक्षक और छात्रों के बीच कोई वास्तविक आदान-प्रदान नहीं होता। वस्तुतः इससे अंत में जो पदार्थ तैयार होकर निकलता है वह सच्ची शिक्षा से बहुत दूर होता है, क्योंकि इस प्रक्रिया से विद्यार्थी की मानसिक प्रक्रियाओं को बढ़ावा नहीं मिलता। ज्ञान उन्हें शिक्षक से उपहार के रूप में प्राप्त होता है। इसमें शिक्षक ही एकमात्र ज्ञान का भंडार है। इस प्रकार से प्राप्त ज्ञान किसी काम का नहीं होता और उसमें इतनी शक्ति नहीं आ पाती कि वह लोगों को स्वयं परिवर्तन के लिए प्रेरित करे अथवा समाज को बदल सके।

अतः औपचारिक शिक्षण के क्षेत्र में भी शिक्षा की 'जमाखाता' संकल्पना के स्थान पर एक ऐसी संकल्पना को लाना चाहिए जिसमें शिक्षा शिक्षक और छात्रों का संयुक्त उद्यम बन जाए। इस प्रक्रिया में विशेषज्ञता पर आधारित मान्यताएँ अब तर्कसंगत नहीं रह गईं। शिक्षक की भूमिका एक नेता की है जो अपने छात्रों के लिए अथवा छात्रों से अलग सोचने का दावा नहीं करता, केवल अपने छात्रों के साथ सोचता है। ऐसा करने पर ही विद्यालय स्वाधीन लोगों की एक विश्वसनीय पीढ़ी खड़ी कर सकता है जो सामाजिक परिवर्तन के अग्रदूत के रूप में अपनी भूमिका निभाएगी। इन संकल्पनाओं की राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में विशिष्ट रूप से चर्चा की गई है तथा इन संकल्पनाओं को अध्यापकों के अभिनवीकरण कार्यक्रमों के द्वारा कार्यरूप में परिणत किया जा रहा है। इस कार्यक्रम में अध्यापक प्रतिभागी विधि द्वारा प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं।

सारांश

1. यह बात बार-बार कही जाती रही है कि सामाजिक परिवर्तन लाने में विद्यालय एक शक्तिशाली माध्यम है किन्तु विद्यालय अकेले सामाजिक परिवर्तन की समस्या को हल नहीं कर सकता।
2. यदि विद्यालय को सामाजिक परिवर्तन में सहायक की भूमिका निभानी है तो उसे अध्यापन-अधिगम की पारंपरिक संकल्पना को बदलना होगा। इसी को फ्रेयरे ने शिक्षा 'जमाखाता' संकल्पना माना है।
3. शिक्षा की 'जमाखाता' संकल्पना के स्थान पर एक ऐसी संकल्पना लानी चाहिए जिसमें शिक्षा शिक्षक और छात्रों का संयुक्त उद्यम हो।
4. इस प्रक्रिया में शिक्षक की भूमिका एक नेता की भूमिका जैसी होती है जो अपने छात्रों के लिए सोचने का दावा नहीं करता बल्कि अपने छात्रों के साथ सोचता है।

विचिंतन प्रश्न

1. अपने अडोस-पडोस के लोगों में व्याप्त कुछ ऐसी आस्थाओ, दृष्टिकोणों और प्रथाओं का पता लगाइए जो विकास कार्यक्रम की प्रगति में रुकावट डालती है। इस समस्या के समाधान के लिए सुझाव दीजिए।
2. अपनी बस्ती के प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र के कार्य का निरीक्षण कीजिए। क्या इसका उपयोग सामाजिक परिवर्तन के लिए किया जा सकता है? यदि हाँ, तो किस प्रकार?
3. पर्यावरण अध्ययन के लिए एक उपयुक्त विषय लेकर बताइए कि इसका शिक्षण किस प्रकार किया जाए जिससे आपके छात्र सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता से अवगत हो सकें।
4. एक विद्यालय-कार्यक्रम की योजना तैयार कीजिए जो सामाजिक परिवर्तन के सक्रिय समर्थक के रूप में नई पीढ़ी को तैयार कर सके।
5. अपनी बस्ती के लोगों की एक उपयुक्त समस्या को लीजिए और बताइए कि आप उन्हें किस प्रकार इस बात से अवगत करा सकते हैं कि उनकी समस्या का हल सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाकर ही किया जा सकता है।

इकाई 7.5 विद्यालय को समुदाय से समर्थन

जैसा आप जान चुके हैं, समुदाय से ही आदर्श सामुदायिक विद्यालय का संचालन कराना चाहिए। किन्तु हमारे देश की वर्तमान परिस्थिति ऐसी नहीं है कि विद्यालय का संचालन समुदाय करे। फिर भी हमारे जैसे विकासशील देश में, जहाँ बहुमुखी कार्यक्रम चलाने के लिए सीमित संसाधन हैं, लोगों को शिक्षा सुविधाएँ उपलब्ध कराने में समुदाय से सामग्री के रूप में सहायता प्राप्त करना आवश्यक है। यह इसलिए भी वांछनीय है कि समुदाय इससे यह अनुभव करेगा कि विद्यालय उसका अपना है। आप जानते ही हैं कि लगभग इसी प्रकार की भूमिका इस संबंध में ग्राम पंचायत निभा रही है।

विद्यालय भवन, फर्नीचर, खेल के मैदान आदि की समस्या, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में काफी गंभीर है। गाँवों में सरकारी बंजर भूमि और चरागाह जैसी साझे की कुछ भूमि ही विद्यालय भवन के लिए उपलब्ध होती है। अधिकांश विद्यालय टूटे-फूटे भवनों मे होते है जहाँ आस-पास गंदगी बनी रहती है। इन विद्यालयों के पास शायद ही पर्याप्त खुला मैदान होता हो जहाँ बच्चे खेल सकें अथवा आराम से घूम-फिर सकें।

ऐसे में साफ-सुथरे वातावरण में उपयुक्त विद्यालय बनाने के लिए समुदाय को भूमि, भवन निर्माण सामग्री, मजदूर तथा धन देने को समझाया-बुझाया जा सकता है। वास्तव में इस संबंध में देश के अनेक भागो में बहुत उत्साहवर्धक अनुभव रहे हैं। यह प्रयास अधिक बड़े पैमाने पर किया जा सकता है। अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि विद्यालय की देखभाल करने, मरम्मत कराने, सफेदी कराने आदि जैसे कार्यों में समुदाय की सहायता निरंतर मिलती रहे। निस्संदेह इन सभी कार्यो में विद्यालय के शिक्षक और छात्र--दोनों व्यावहारिक रूप से सम्मिलित रहेंगे।

समुदाय के लिए यह भी आवश्यक है कि वह बाहर से आए शिक्षकों के लिए विशेषकर महिला शिक्षकों के लिए आवास की व्यवस्था करे। इस सुविधा से शिक्षकों की सामान्य कुशलता बढने की आशा है। ऐसा होने से वे सामुदायिक विकास

कार्यक्रम के लिए अधिक समय भी दे सकेंगे।

किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि विद्यालय-भवन और शिक्षकों के लिए आवास की व्यवस्था करने का पूरा उत्तरदायित्व समुदाय का ही है। राज्य को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि विद्यालय को ठीक ढंग से चलाने के लिए अच्छा विद्यालय-भवन और शिक्षकों को आवास की सुविधाएँ प्रदान की जाएँ।

संभवत: आप जानते हों कि भारत के कुछ राज्यों में विद्यालय के छात्रों को अंशदान के आधार पर दोपहर के भोजन की व्यवस्था करने का एक उपयोगी कार्यक्रम चलाया जा रहा है। यह कार्य स्थानीय समुदाय की सक्रिय सहायता और सहयोग से संभव हो सका है। यह कार्यक्रम उन विद्यालयों में भी प्रारम्भ किया जाना चाहिए जिनमें यह इस समय तक नहीं चलाया जा रहा। इससे कुछ सीमा तक कुपोषण को, जिससे कमजोर वर्ग के बच्चे प्राय: पीड़ित रहते हैं, दूर किया जा सकेगा। दोपहर का भोजन बनाने के लिए ईंधन और बर्तनों की व्यवस्था समुदाय कर सकता है। ग्राम पंचायत और अभिभावक-शिक्षक संघ फसल कटने के समय गेहूँ और चावल जैसी चीजें दान के रूप में प्राप्त कर सकते हैं। भोजन बनाने के लिए गृहिणियों का सहयोग लिया जा सकता है।

साथ ही, विद्यालय में बच्चों की भरती और कक्षा में उपस्थिति के अभियान में भी समुदाय की सहायता ली जा सकती है। बच्चे विद्यालय नियमित रूप से आएँ, इसके लिए उन्हें समुदाय द्वारा कुछ प्रोत्साहन दिया जा सकता है। इस उद्देश्य से समुदाय एक कोष की स्थापना कर सकता है। जो बच्चे नियमित रूप से कक्षा में आते रहे हैं, उन्हें प्रोत्साहन के रूप में इस कोष के धन से पाठ्यपुस्तकें अथवा विद्यालय की वर्दी मुफ्त दी जा सकती है।

सारांश

1. आदर्श सामुदायिक विद्यालय का संचालन सीधे समुदाय द्वारा होना चाहिए। किन्तु हमारे देश में वर्तमान परिस्थितियाँ ऐसी नहीं हैं कि समुदाय विद्यालय को चला सकें।
2. फिर भी हमारे जैसे विकासशील देशों में यह आवश्यक है कि विद्यालय को सुविधाएं प्रदान करने में समुदाय से सामग्री के रूप में सहायता लेने और उसका उपयोग करने का प्रयास किया जाए।
3. अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि विभिन्न कार्यकलापों में समुदाय का सहयोग निरन्तर मिलता रहे। यह इसलिए भी वांछनीय है कि समुदाय यह अनुभव करे कि विद्यालय उसका अपना है।

विचिंतन प्रश्न

1. इस खंड में उल्लिखित कार्यक्रमों के अतिरिक्त एक ऐसे विशिष्ट कार्यक्रम के बारे में सोचिएं जिसमें आप समुदाय की सहायता और सहयोग लेना चाहेंगे। यह कार्य आप कैसे करेंगे?
2. समुदाय द्वारा विद्यालय को सहयोग देने में आप किन-किन बाधाओं की कल्पना करते हैं? इन बाधाओं से जूझने के लिए आप कौन-कौन सी सावधानियाँ बरत सकते हैं?

इकाई 7.6 शिक्षक और समुदाय

सामुदायिक जीवन में सुधार लाने में शिक्षक की भूमिका प्राण-संचारक की होती है। दूसरे शब्दों में वह लोगों को अपनी जीवन-प्रणाली बदल कर उसे उन्नत बनाने के लिए प्रेरित करता है। किन्तु वह उनका विश्वास प्राप्त किए बिना अपनी यह भूमिका सफलतापूर्वक नहीं निभा सकता। इसका अर्थ यह है कि वे शिक्षक को अपना ही अंग समझें, बाहरी व्यक्ति नहीं। उसे अपने समुदाय का एक ऐसा सदस्य मानें जिसकी अभिरुचियाँ, आवश्यकताएँ और समस्याएँ समुदाय के अन्य सदस्यों के समान हैं। निस्संदेह शिक्षक का मुख्य व्यवसाय उनके अपने व्यवसायों से भिन्न होता है। उसका अधिक समय बच्चों को पढ़ाने-लिखाने और अन्य संबद्ध कर्तव्य निभाने में ही बीतता है। फिर भी, सामुदायिक प्रयत्नों में उसकी अपनी भी कुछ साझेदारी होनी चाहिए। उदाहरणार्थ गाँवों में, जहाँ लोगों की जीविका का मुख्य साधन कृषि है, अच्छा हो यदि शिक्षक के पास भी खेती करने के लिए कुछ भूमि हो। ऐसा होने से एक ओर तो वह समुदाय की आवश्यकताओं और समस्याओं को अच्छी तरह से समझ सकेगा और दूसरी ओर वह समुदाय के मन में यह धारणा पैदा कर सकेगा कि शिक्षक उन्हीं में से एक है।

शिक्षक के स्थानीय गतिविधियों में सम्मिलित होने की आवश्यकता से यह बात भी सामने आती है कि शिक्षक को लम्बी अवधि तक एक ही बस्ती में रहना चाहिए जिससे उसे स्थानीय समुदाय के साथ स्थापित संबंधों का लाभ मिल सके। इस दृष्टि से शिक्षक की एक स्थान से दूसरे स्थान पर जल्दी-जल्दी बदली करना वांछनीय नहीं है। यदि शिक्षक की पदोन्नति जैसी प्रशासनिक अपेक्षाओं के कारण उसका किसी अन्य विद्यालय में स्थानांतरण करना अनिवार्य ही हो जाए तो भी उसे उसी बस्ती में अपने कार्य का पुरस्कार देने का कोई उपाय खोजा जा सकता है। इससे जिस समुदाय के साथ उसके दीर्घकालीन संबंध बने हैं उसी के साथ वह काम करता रहेगा।

समुदाय में शिक्षक किस प्रकार कुशलतापूर्वक अपने कार्यकलापों को आयोजित कर सकता है, यह उस स्थान के लोगों की आवश्यकताओं, अभिरुचियों और समस्याओं पर निर्भर है, जो हर स्थान पर भिन्न-भिन्न होती हैं। किन्तु कुछ व्यापक ढंग के कार्यकलाप ऐसे हैं जिन्हें न्यूनाधिक सभी स्थानों पर आयोजित किया जा सकता है।

सर्वोच्च प्राथमिकता महिलाओं में कार्य करने की भावना पैदा करने को दी जा सकती है। संभवतः महिला वर्ग हमारे समाज का सबसे अधिक उपेक्षित वर्ग है। जीवन के सभी क्षेत्रों में, विशेष- कर शिक्षा और पढ़ाई-लिखाई के मामले में उनके साथ भेदभाव बरता जाता है यद्यपि कानून की दृष्टि में उनके कर्तव्य और अधिकार पुरुषों के समान ही हैं। हमारे संविधान में निर्धारित पुरुष और महिला—दोनों के लिए पूर्ण अवसर समता के सिद्धांतों का पालन कम और उल्लंघन अधिक किया जाता है। अतः यह और भी अधिक आवश्यक है कि किसी भी विकास कार्यक्रम का लाभ सबसे पहले महिलाओं को मिले। भारत सहित कुछ विकासशील देशों के अनुभव से देखने में आया है कि महिलाएँ इन कार्यक्रमों के प्रति काफी उत्साह प्रदर्शित करती हैं, विशेष रूप से तब जबकि उनकी सबसे अधिक रूचि के क्षेत्र में अर्थात बच्चों की देखभाल में उन्हें सहायता और मार्गदर्शन प्राप्त हो। इस कार्यक्रम में शिक्षक को स्थानीय डाक्टर और क्षेत्र के बाल-विकास- कार्यक्रम से संबंधित विभाग के स्टाफ की सहायता और सहयोग लेना होगा। स्पष्टतः शिक्षक की भूमिका बच्चे की देखभाल के लिए डाक्टरी ज्ञान अथवा तकनीकी दक्षता प्रदान

करने की नहीं होती। उसे तो सुविधाजनक स्थान पर महिलाओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था करने, प्रशिक्षण कर्मचारियों के साथ उनकी नियमित बैठकों को सुनिश्चित करने और तकनीकी व्यक्तियों के उपलब्ध न होने की स्थिति में प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम की लिखित सामग्री को महिला-प्रशिक्षार्थियों को समझाने का प्रयास करना होता है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि शिक्षक को पाठ्यक्रम के लिए आवश्यक सहायक व्यवस्था करने का दायित्व संभालने में महिलाओं को प्रोत्साहित करना होता है।

प्राथमिकता के आधार पर आपके ध्यान का दूसरा पात्र है– पिछड़ा वर्ग। इस वर्ग में अनुसूचित जातियाँ और जनजातियाँ, भूमिहीन, मजदूर, बटाईदार, गंदी बस्तियों में और सामान्यतः गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले सभी लोग आते हैं। ऐसा देखा गया है कि स्वतंत्रता के बाद विभिन्न योजनाओं के अधीन उठाए गए सभी कदमों के बावजूद उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति में अधिक सुधार नहीं हुआ है। संभवतः सभी विकास कार्यक्रमों से मिलनेवाले लाभों के अधिकांश भाग पर उच्चवर्ग और मध्यवर्ग ने अपना अधिकार जमाया हुआ है और पिछड़े वर्गों को यदि लाभ हुआ भी है तो नाममात्र का। इसकी पुष्टि सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं तथा व्यक्तिगत जाँचकर्ताओं द्वारा इस क्षेत्र में किए गए अनेक अध्ययनों से हो जाती है।

प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनिवार्य है कि हमारी आबादी के उन वर्गों के साथ-साथ, जो कि शिक्षा से वंचित हैं और पिछड़े हुए हैं, विकलांगों की शिक्षा पर भी उत्तरदायित्व की भावना से ध्यान दिया जाए। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में इस बात का विशेष उल्लेख किया गया है। शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से विकलांगों को शिक्षा देने का उद्देश्य यह है कि वे समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चल सकें, उनकी सामान्य तरीके से प्रगति हो और वे पूरे साहस और विश्वास के साथ जिंदगी जिएँ।

प्रश्न यह उठता है कि पिछड़े वर्गों के संबंध में शिक्षक के नाते आपकी भूमिका क्या होनी चाहिए? आप जानते ही हैं कि राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम विशेष रूप से पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए ही है। इस कार्यक्रम में तीन घटकों, अर्थात सामाजिक चेतना, कार्यात्मकता (फंक्शनैलिटी) और साक्षरता का उद्देश्य उनके सामाजिक-आर्थिक स्तर को ऊंचा उठाना है। आपकी बस्ती में राष्ट्रीय कार्यक्रम के अधीन चलनेवाला एक प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र अवश्य होगा। संभव है, आप उक्त शिक्षा केन्द्र से संबंधित भी हों, पर यदि संबंधित नहीं हैं तो आपके लिए केन्द्र के प्रशिक्षक के साथ सहयोग करना उचित होगा। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, आपको कार्यक्रम के सामाजिक चेतना घटक पर विशेष ध्यान देना चाहिए। आप केंद्र में आने वाले प्रौढ़ों से सार्थक बातचीत करें और उन्हें उनकी वर्तमान दुर्दशा के कारणों से और साथ ही उसमें सुधार के उपायों से अवगत कराएं।

आपके विस्तृत ध्यान का तीसरा पात्र है – 15 से 35 वर्ष तक की आयु का ऐसा युवा-वर्ग जो विद्यालय से अलग रहा है। हो सकता है, इनमें से कुछ युवा बचपन में विद्यालय पढ़ने गए भी हों। संभव है कि उन्होंने प्रारंभिक शिक्षा पूरी कर ली हो या न की हो। कुछ युवाओं ने तो विद्यालय का कभी मुहं ही नहीं देखा होगा। पहली श्रेणी में वे युवा भी आते हैं जिन्होंने विद्यालय में प्राप्त ज्ञान और योग्यताओं को बनाए रखा हो या बढ़ाया भी हो, किन्तु कुछ युवा ऐसे मिलेंगे जो विद्यालय से सीखा-सिखाया बहुत कुछ भूल चुके होंगे। दूसरी श्रेणी के युवा अधिकांशतः निरक्षर हैं, किन्तु अशिक्षित नहीं, जैसा गांधीजी का कहना था

क्योंकि अपने परिवेश में वे निश्चित विचार और आदतें ग्रहण किए होते हैं। विद्यालय न जाने वाले युवक-वर्ग के दृष्टिकोणों और योग्यताओं पर ही क्षेत्र विशेष की भावी समृद्धि निर्भर है। इन युवकों की आवश्यकताओं और अभिरुचियों के अनुसार क्लब बनाकर आप उन्हें संगठित कर सकते हैं, उन्हें आप विद्यालय की भौतिक सुविधाएं उपलब्ध करा सकते हैं और विद्यालय से छुट्टी होने पर उनका मार्गदर्शन भी कर सकते हैं। यह तो संभव नहीं है कि आप हर प्रकार की अभिरूचि वाले समूहों का मार्गदर्शन कर सकें। फिर भी, विद्यालय का प्रधानाचार्य अपने किसी ऐसे एक सहयोगी को यह काम सौंप सकता है जो क्लब विशेष के कार्यकलापों का मार्गदर्शन करने में सक्षम हो। बार-बार नहीं तो नियमित अंतराल पर उसके क्लब में उपस्थित होने की व्यवस्था की जा सकती है।

युवा-क्लब बनाने के अतिरिक्त युवाओं की कार्यात्मक शिक्षा के लिए विद्यालय कुछ अन्य व्यवस्था भी कर सकता है। उदाहरणार्थ आप इन लोगों को विद्यालय के पुस्तकालय और वाचनालय का लाभ दिला सकते हैं। कभी-कभी आप युवाओं और प्रौढ़ों के लिए प्रदर्शनी का आयोजन भी कर सकते हैं। इन प्रदर्शनियों में कृषि की उन्नत विधियाँ और उत्पाद, नवीनतम कृषि-यंत्र, कला और शिल्प के नमूने, खाद्य-परिरक्षण विधियां, माता तथा शिशु स्वास्थ्य कार्यक्रम, परिवार नियोजन के उपाय, सामुदायिक स्वास्थ्य तथा स्वच्छता की युक्तियां आदि प्रदर्शित की जा सकती हैं। उत्कृष्ट उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिए अच्छी प्रदर्शित वस्तुओं पर पुरस्कार दिए जा सकते हैं। इसी प्रकार शिशु- प्रदर्शनी भी आयोजित की जा सकती हैं। बच्चों की उचित देखभाल के प्रति माता-पिता की रुचि बढ़ाने के लिए स्वस्थ शिशुओं को पुरस्कार दिया जा सकता है। आप खंड विकास कार्यालय की सहायता से सामाजिक एवं आर्थिक विकास से संबद्ध विषयों पर वृत्तचित्र दिखाने की भी व्यवस्था कर सकते हैं। लोगों में सामाजिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए विद्यालय में रेडियो और संभव हो तो टेलीविजन भी रखा जा सकता है।

विद्यालय के अलावा इन सभी कार्यकलापों में शिक्षक के रूप में आपकी चिंता हर काम को स्वयं करने, या स्वयं नए कार्यकलाप अथवा परियोजना का श्रीगणेश कर आत्म-प्रदर्शन करने की नहीं होनी चाहिए बल्कि समुदाय में वास्तविक और संभावित नेतृत्व के स्रोतों का पता लगाने की और यथासंभव उनकी पूरी क्षमता का उपयोग करने की होनी चाहिए। आपके लिए सबसे बड़ा पुरस्कार यही होगा कि पूरा समुदाय सार्थक कार्यकलापों से गूँजता रहे जिन्हें बढ़ाने में आपका और आपके विद्यालय का सक्रिय योगदान रहा है। जब आप सामुदायिक जीवन स्तर में धीरे-धीरे सुधार होते देखेंगे और इस सुधार में आपका तथा आपके विद्यालय का भी कुछ योगदान होगा, तब आपको एक अच्छा कार्य करने का संतोष मिलेगा।

विद्यालय-समुदाय संबंधों को अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए अर्थात ये संबंध सामुदायिक जीवन स्तर के सुधार में कहां तक योगदान करते हैं। अंततोगत्वा यह राष्ट्रीय संसाधनों के विकास पर निर्भर है। अतः विद्यालय का एक महत्वपूर्ण कार्य समुदाय की उत्पादकता को बढ़ाना है। इस दृष्टि से विद्यालय को अपने संरक्षण में सौंपी गई नई पीढ़ी को न केवल उत्पादी दक्षता की शिक्षा देनी होगी और उसमें कार्य एवं सामाजिक दायित्वों के प्रति रचनात्मक दृष्टिकोण पैदा करना होगा बल्कि उसे सामुदायिक विकास के माध्यम के रूप में भी काम करना होगा। इस उद्देश्य के लिए विद्यालय को मानव और भौतिक, अपने दोनों संसाधनों का उपयोग करना चाहिए।

वर्तमान औपचारिक शिक्षा-पद्धति छात्रों को कुछ विशेष नगर-अभिमुखी (अरवन ओरिएन्टेड) शैक्षिक परीक्षाओं के लिए तैयार करती है। उसकी संरचना, पाठ्यचर्चा और तकनीकों पर पुन: विचार करने की आवश्यकता है जिससे विद्यालय छोड़ने वाले बहुसंख्यक ग्रामीणों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। यह तभी संभव है जब सामुदायिक विद्यालय पद्धति अपनाकर संपूर्ण शिक्षा का पुनर्गठन किया जाए।

विद्यालय छोड़ने वाले युवाओं से लेकर प्रौढ आयु के किसानों और मजदूरों तक को सम्मिलित करने के उद्देश्य से एक व्यापक कार्यक्रम की रूपरेखा बनाने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में विद्यमान विद्यालय-इतर गतिविधियों की समीक्षा की जानी चाहिए। इस कार्य में सभी सरकारी और स्वयंसेवी संस्थाओं तथा उस क्षेत्र में काम कर रही सहकारी समितियों को विद्यालयों को सहयोग देना चाहिए जिससे निश्चित प्राथमिकताओं और कार्यान्वयन की उपयुक्त तकनीकों सहित एक यथार्थवादी कार्यक्रम का निर्धारण किया जा सके।

यदि विकास की तत्काल आवश्यकताओं को पूरा करना है तो विकास की समस्याओं के प्रति सुसंगत एवं अर्थपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने के लिए इस कार्य से संबद्ध सभी सरकारी और स्वयंसेवी एजेंसियों के कार्यों में समन्वय होना चाहिए। योजना बनाने तथा उसके संचालन के स्तर से सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के लिए स्थापित विभिन्न एजेंसियों के प्रयासों के समन्वय के लिए 'सामुदायिक विद्यालय' एक सबसे प्रभावशाली माध्यम सिद्ध हो सकता है। वह योजना बनाने, उसके संचालन तथा कार्यान्वयन के स्तर पर उनको सहयोग दे सकता है।

सारांश

1. समुदाय के जीवन-स्तर में सुधार लाने में शिक्षक की भूमिका एक नए प्राण-संचारक की होती है।
2. समुदाय के साथ शिक्षक के कार्यकलापों का स्वरूप और प्रकृति अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग होगी। फिर भी कुछ ऐसे व्यापक कार्यकलाप हैं जो कम या अधिक सभी जगह लगभग एक ही जैसे होते हैं, जैसे :
   क) महिलाओं के साथ कार्य करना
   ख) पिछड़े वर्गों के साथ कार्य करना
   ग) विद्यालय से अलग रहे युवकों के साथ कार्य करना।
3. इस कार्य में क्षेत्र-विशेष में कार्य कर रही सभी सरकारी और स्वयंसेवी एजेंसियों को विद्यालयों को सहयोग देना चाहिए ताकि निश्चित प्राथमिकता तथा कार्यान्वयन की उपयुक्त तकनीकों सहित एक यथार्थवादी कार्यक्रम का निर्धारण किया जा सके।

विचिंतन प्रश्न

1. यद्यपि शिक्षक सामुदायिक विकास कार्यक्रम की महत्ता को और उक्त कार्यक्रम में विद्यालय के भाग लेने की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं फिर भी यह बहाना ढूंढ लेते हैं कि विद्यालय में अत्यधिक कार्यभार के कारण उनके पास न समय बचता है न शक्ति, वे प्राय: उक्त कार्यक्रम में भाग लेने के लिए अनिच्छुक से रहते हैं। इस कथन की सत्यता की जाँच कीजिए और सुझाव दीजिए कि ऐसी स्थिति में क्या किया जा सकता है?
2. महिलाओं के कार्यक्रम आयोजित करने में क्या-क्या सावधानियाँ बरतनी चाहिएं?
3. कुछ ऐसे महत्वपूर्ण प्रकरण बताइए जिनके प्रति गाँव के गरीब लोगों में चेतना पैदा करने की आवश्यकता हो। इन प्रकरणों के प्रति आप उनमें किस प्रकार चेतना पैदा करेंगे?
4. आप युवकों के लिए किन कार्यकलापों का सबसे अच्छे ढंग से आयोजन कर सकते हैं? यह कार्य आप कैसे करेंगे?
5. इस अध्याय में विद्यालय और समुदाय के बीच सामंजस्यपूर्ण और लाभकारी संबंध स्थापित करने के बारे में कुछ सुझाव दिए गए हैं। अपने विद्यालय और समुदाय को ध्यान में रखकर प्रत्येक सुझाव की जांच कीजिए। हर सुझाव के संबंध में निम्नलिखित ढंग से अपने विचार प्रकट कीजिए।
   क) व्यावहारिक हैं अथवा अव्यावहारिक
   ख) लाभकारी हैं अथवा हानिकारी
   अपने विचारों के समर्थन में प्रमाण भी दीजिए।
6. विद्यालय-समुदाय संबंध को सुदृढ़ बनाने के लिए यदि आपके अपने कोई सुझाव हों तो बताइए।

निष्कर्ष

प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक एक विषमगुणी समूह हैं। उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि में भारी अंतर होता है और वे विविध कारणों से शिक्षकीय व्यवसाय को अपनाते हैं। यह बात भी स्वीकार करनी पड़ती है कि प्रारंभिक विद्यालय शिक्षकों को आर्थिक दृष्टि से अधिक लाभ नहीं हुआ है और शिक्षा संबंधी नीतियां बनाने और निर्णय लेने का अधिकार भी उन्हें प्राप्त नहीं है। उनकी शैक्षिक पृष्ठभूमि और व्यावसायिक प्रशिक्षण में भी एक राज्य से दूसरे राज्य के बीच अंतर है। प्रारंभिक विद्यालय शिक्षकों के व्यावसायिक विकास में दो प्रमुख कारण बाधक रहे हैं : (1) उन्हें कक्षा में अलग-थलग रहकर काम करना पड़ता है, और (2) उनका ठीक ढंग से निरीक्षण नहीं हो पाता। यद्यपि प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक के अधिकांश कार्य नियमित समय और नियत स्थान पर होते हैं, फिर भी यह देखने में आया है कि छात्रों, सहयोगियों, प्रशासकों और छात्रों के माता-पिताओं के साथ संबंध उसके लिए बहुत शिक्षाप्रद रहते हैं। इन चार सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक संबंधों का शिक्षक के कार्य पर बहुत प्रभाव पड़ता है। समुदाय से अच्छे संबंध होने से उसे अपनी सर्जनात्मक क्षमता को अभिव्यक्त करने का भरपूर अवसर मिलता है। ये सामाजिक संबंध ठीक न होने पर अध्यापक की क्षमता कुंठित हो जाती है।

शिक्षक को अपने विषय में निपुण होने के साथ-साथ यह भी समझना होता है कि विद्यालय समाज का एक उपतंत्र है और इसलिए उसे जानना चाहिए कि विद्यालय के कार्य क्या हो सकते हैं। विद्यालय का दायित्व केवल आधारभूत मानसिक योग्यता के लिए प्रशिक्षित करना ही नहीं है बल्कि इससे भी कहीं अधिक व्यापक है। आगे की चर्चा से यह स्पष्ट हो जाएगा। प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक को बच्चों के समाजीकरण का दायित्व स्वीकार करना है। लोकतंत्री भारत ने प्रत्येक व्यक्ति को निर्णय लेने का महत्वपूर्ण दायित्व सौंपा है। वह प्रत्येक व्यक्ति को एक प्रभावशाली 'राजनैतिक मानव', एक कुशल 'सामाजिक मानव' और एक उत्पादक 'आर्थिक मानव' बनाना चाहता है। अतः प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक का ध्यान इस बात पर केंद्रित होना चाहिए कि वह बच्चों को अच्छा नागरिक और एक अच्छा इंसान बनाने की शिक्षा किस प्रकार दे।

सक्षम होने के साथ-साथ प्रभावी बनने के लिए शिक्षक को अपने समुदाय के साथ जिसमें कि वह कार्य करता है, राज्य के साथ जिसकी वह सेवा करता है, शिक्षण व्यवसाय के साथ जो उसका अपना है और भारतीय समाज के साथ जिसके प्रति वह प्रतिबद्ध है, अपने संबंधों को अवश्य समझ लेना चाहिए। इस बारे में प्रारंभिक विद्यालय शिक्षक को यह जान लेना चाहिए कि समाज किस प्रकार अध्यापन-अधिगम की प्रक्रिया को प्रभावित करता है और शिक्षक किस प्रकार समाज के भविष्य का निर्माण कर सकता है। शिक्षक के कार्य को अधिकाधिक कठिन बनाने वाली सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक वास्तविकता हमारे वर्तमान समाज की गतिशील प्रकृति है। प्रारंभ में तो शिक्षक यह समझ ही नहीं पाता कि कौन-सी सांस्कृतिक धरोहर गतिशील समाज को विरासत में सौंपनी होगी। यदि गतिहीन समाज के अनुकूल बच्चे को ढालना हो तो शिक्षक के लिए यह एक

बहुत सरल काम है किन्तु गतिशील समाज के संबंध में ऐसा नहीं है। जनसंख्या विस्फोट, वायु प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण और जल प्रदूषण तथा विभिन्न प्रकार के पूर्वाग्रह जैसे अनेक नए संकट शिक्षण के लिए नए आयाम खोल रहे हैं। शिक्षकों को जानना चाहिए कि इन शैक्षिक समस्याओं का समाधान किस प्रकार किया जाए।

सभी प्रकार के तनावों से मुक्त शांतिमय जगत में रहने की इच्छा ने शांति, अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव और विश्वनागरिकता की शिक्षा जैसे शैक्षिक कार्यक्रमों के नए क्षेत्र खोल दिए हैं। इन कार्यक्रमों के आयोजन का शुभारम्भ शिक्षक को प्रारंभिक विद्यालयों से ही करना होगा।

शिक्षकों की सबसे कठिन समस्या जीवन मूल्यों की शिक्षा प्रदान करने की है। भारत में विभिन्न सामाजिक वर्गों और जातीय समूहों की भिन्न-भिन्न मूल्य-प्रणालियां हैं। कभी-कभी इन मूल्यों के कारण ही बच्चे या तो विद्यालय में प्रवेश नहीं लेते या बीच में ही पढ़ाई छोड़ देते हैं। सुविधावंचित बच्चों के मूल्यों को अधिक अच्छी तरह से समझ लेने से शिक्षकों को न केवल उन बच्चों को विद्यालय में प्रवेश कराने में बल्कि उन्हें विद्यालय में रोके रखने में भी सहायता मिल सकती है। विद्यालय में पढ़ते समय विभिन्न सांस्कृतिक समूहों आथवा सामाजिक वर्गों की परंपरागत मान्यताएं छात्रों की उपलब्धि में रुकावट भी डाल सकती हैं। इनका हल खोजना भी शिक्षक का ही दायित्व है। फिर मूल्य-प्रणाली के क्षेत्र में शिक्षक का सामना पारंपरिक मूल्यों और उभरते मूल्यों से हो सकता है और उसे दोनों के बीच सामंजस्य का प्रयास करना पड़ सकता है। राजनैतिक क्षेत्र में परिवर्तनशील समाज के नए सामाजिक आदर्शों और बंधुत्व के सिद्धांत पर आधारित नए आर्थिक आदर्शों के कारण नए मूल्य उभरकर सामने आ रहे हैं। प्रश्न उठता है कि परस्पर विरोध करने वाले पारंपरिक और उभरते मूल्यों में शिक्षक किस तरह सामंजस्य स्थापित करे? यह कार्य विचार-विमर्श से तथा मूल्यांकन के उपायों से किया जा सकता है। किन्तु ये मार्ग कठिन हैं। इन मार्गों को व्यवहार में लाने के लिए शिक्षक को प्रशिक्षण तथा अभ्यास की आवश्यकता है।

इस प्रकार शिक्षक की दो व्यापक भूमिकाएं हो सकती हैं–सेवा की भूमिका और रचनात्मक भूमिका। दूसरी भूमिका पहली भूमिका से बढ़िया है। दूसरी भूमिका की अपेक्षा है कि 'शिक्षण-कार्य व्यावयासिक दृष्टि से निपुण व्यक्तियों का कार्य है।' 'इसलिए यह अत्यधिक महत्व की बात है कि प्रत्येक शिक्षक अपना व्यावसायिक दर्शन स्वयं विकसित करे और उसका आचरण व्यवसाय द्वारा निर्धारित आचार-संहिता से निर्देशित हो। व्यावसायिक दर्शन और आचार-संहिता से शिक्षक को अपने कार्य के प्रति सैद्धांतिक अंतर्दृष्टि विकसित करने में सहायता मिलती है। इससे उसे अधिकांश शिक्षा-समस्याओं के उत्तर खोजने और उन्हें हल करने में सहायता मिलती है। वह समझ लेता है कि उसे शिक्षा के उद्देश्य क्यों निर्धारित करने हैं, वह जान जाता है कि पाठ्यचर्या में क्या-क्या रखना है, उसे मालूम हो जाता है कि इस पाठ्यचर्या को विद्यार्थियों के सामने किस प्रकार प्रस्तुत करना है, और अंत में, उसके सामने यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्यार्थियों की प्रगति का मूल्यांकन कब करना है। शिक्षक के लिए, जिसे प्रारम्भिक विद्यालय में सेवा की भूमिका निभाने से भी कहीं अधिक एक रचनात्मक भूमिका निभाती है, ये चुनौतीपूर्ण कार्य हैं।

There followed, indeed, one remarkable consequence of the feudal and warlike origin of the English country gentleman. After the Norman Conquest the rule of primogeniture had gradually been adopted for land, to secure that a feoff should not be broken up among the sons of a vassal and so become unable to supply the military service due to the lord. In Saxon times an estate had normally been divided among the sons. In Plantagenet times it normally went to the eldest son alone. And therefore the younger sons, after being brought up as children of the manor-house, were sent out into the world to seek their fortunes. This had the effect of increasing the adventurous and roving spirit of the new English nation, and of mingling classes as they were not mingled in Germany or France The English upper class never became a closed caste, like the continental nobles who married only inside their own order, and despised merchants and commerce. If English history followed a very different course, it was partly because the custom of primogeniture, though originated to meet a feudal requirement, had become part of the land-law of an England that was rapidly escaping from feudalism.

We are watching an important step towards the higher stages of civilization—the growth of a leisured class At a time when the island held about as many people as New Zealand to-day, and when these few inhabitants were still so poor that we should not have expected any of them to be people of leisure, the feudal system had established a class of warriors living at the expense of the cultivators of the soil. And now that the Monarchy had caused war to cease in the island, this warrior class found its occupation gone. The time and endowments which it was to have spent on war and the preparation for war had become an endowment of leisure In the Plantagenet manor-houses, time lay heavy on the peace-bound knights, and to kill time they took to a number of different devices, each according to his tastes,—to drink, sport, tournament, agricultural improvement, local administration and politics, music, letters and art In the primæval Saxon forest, hunting had been the duty of the thegn, it was now the pass-time of

the disoccupied knight. As game and wasteland became more scarce, he struggled with the King above and with the peasantry below to preserve enough for his own diversion Increasing wealth was supplied him by the manorial system of agriculture, by the rising population, by the increasing acreage under plough, and by the disinheritance of his younger brothers under the law of primogeniture, he spent the surplus on comforts and amenities for his manor-house, on art and minstrelsy in the hall, in a thousand ways discovering for the behoof of a barbarous age what a spacious and beautiful thing man can make of life. The rich Abbot and Bishop did the like. The accumulated wealth of the feudal classes and their call for new luxuries caused the rise of the English towns, and the new middle classes engaged in manufacture, trade and overseas commerce. The arts of civilized life were forced into being in mediæval England by the unequal distribution of wealth under the feudal and manorial system, by the stability of these harsh social arrangements, and by the good peace which the King imposed on all [3]

It remains for us to examine the feudal system of the manor from the point of view of the peasant, to him it was a less unmixed benefit than to the privileged classes, lay and clerical, whom it was specially designed to support

In the Twelfth Century the proportion of freeholders in an English manor was very small. The day of the yeoman freeholder only came with the breakdown of the old manorial system and the feudal economy proper, which were still in full vigour under the Angevin Kings. The slave, who had composed nine per cent of the population recorded in Domesday, had risen into the villein class, but the free man was not markedly on the increase The lord and his villeins shared the manor and its produce between them.

The serf or villein was by birth and inheritance bound to

[3] Mediæval commerce chiefly supplied luxuries for the rich. The food, furniture and clothing of the poor were produced and manufactured locally in the villages. It was the Industrial Revolution of modern times that devised methods of mass-production and distribution of common articles for the common man

the soil; he and his family were sold with an estate when it changed hands. He could not marry his daughter save with the lord's consent and the payment of a heavy fine; when he died, his best beast, sometimes his only cow, was seized as 'heriot' by the lord of the manor. He could not migrate or withdraw his services at will. He could not strike. He must work on his lord's domain so many days in the year without pay, bringing his own team or half-team of oxen for the plough. It was by these services of the villein, and not by hired labour, that the lord's home farm was worked. The bailiff had to keep his eye on the unwilling workmen lest they should sit down for half-an-hour at a time at the end of every furrow.

But the villein, half slave as he was in these respects, held lands of his own which he tilled on those days of the year when his lord had no claim upon him or his oxen. And he had his share in the use and profit of the village meadow, the village pasture and the village woodland and waste, where the swine and geese were turned loose.

How was his position secured? There was for him no 'equality before the law' As late as John's reign the safeguards given by Magna Carta to the 'free man' touched him not at all He could not sue his lord in the King's courts But he had a double protection against ill-usage. First, the lord and bailiff found it to their interest to receive from him willing rather than unwilling work and to give him no motive to run away. For he could not be easily replaced, like an overworked slave in old Rome, or in the West Indies before Wilberforce, nor might he be driven to work with the whip. And secondly, he had the security of village tradition, legally expressed in 'the custom of the manor,' and enforced in the Manor Court, which was held sometimes in the lord's hall, sometimes under the time-honoured oak tree in the middle of the village.

How much protection was the Manor Court to the villein? It was indeed his lord's court, not the King's But at least it was an open court, in which there is reason to think that the villeins shared with the freemen the duty of acting as judges or assessors It was at least better than

the mere arbitrary word of the lord or his bailiff. Against a rapacious and wicked lord the protection seems but slender, and doubtless there was often terrible oppression, especially in Stephen's reign. But in Plantagenet times the English peasant never fell to the level of the French peasant of the *Jacquerie*.

No ancient system must be judged in the abstract, or by purely modern standards. The great merit of the manorial system in its day was this, that among men of primitive passions and violent habits it promoted stability, certainty and law. A court that focussed public opinion and tradition, and that actually kept written records from the Thirteenth Century onwards, was established as part of the normal life of the English village. When the system worked properly, a peasant knew what services he owed his lord, and he knew that the bailiff would exact those and no more. It is true that the peasant could not strike and could not legally emigrate without his lord's consent; but neither could his lord evict—in fact, whatever may have been the case in theory. Nor could the lord raise the rent or services due, once they were fairly established by custom of the Manor Court.

During the centuries when this system flourished in England, wealth slowly accumulated; more land came under plough; flocks and herds multiplied in spite of frequent murrain; and in spite of no less frequent famine and pestilence the population went up from perhaps one-and-a-quarter or one-and-a-half million when Domesday was compiled in 1086, to perhaps three-and-a-half or four millions when the Black Death of 1349 temporarily checked the increase.

But at the best of times life on the manor was hard, and the villeins were very slow in rising above the level of Anglo-Saxon rural barbarism towards the type of jolly English yeoman of later days. The serf was what poverty and submission made him,—shifty, fearful, ignorant, full of superstitions Christian and pagan, trusting to charms and strange traditions of a folk-lore of immemorial antiquity; cheating and sometimes murdering the lord or his officers,

incompetent and fatalistic in presence of scarcity and plague in the village and murrain among the ill-kept beasts. The soil was undrained and sodden to a degree we can now hardly conceive. The jungle kept rushing in, weeds overspreading the ploughland, as bailiffs complained. Under the open-field system with its unscientific farming, the soil after centuries of use became less fertile, and the yield per acre was reduced.

The English weather was at least as bad as it is in our day, and when the crop failed, as it often did after a wet summer, there was nothing to avert famine in the village. Animal food was less available than in Saxon times, for the vast forests of the Norman Kings and the private warrens of their vassals were guarded by cruel laws. The wild birds, the preserved pigeons and rabbits, and the other animals with which the island swarmed, often came marauding into the peasants' crops with the direst effects, and were taken and cooked on the sly in spite of laws and penalties Cattle and sheep were not for the peasant to eat, though 'beef' and 'mutton' figured in the bill of fare of the French-speaking lords at the manor-house. Pig's flesh was commoner in the cottage. In fen regions fishers and fowlers supplied eels and water-fowl good and cheap

The mediæval English village, at the end of its muddy riding tracks, with its villeins bound for life not to stray from the precincts of the manor, was subject to physical and intellectual isolation that governed its life in every respect. One result of isolation was that the village had to manufacture for itself. Among the villeins were craftsmen, who might or might not be husbandmen as well. The 'wright' or carpenter could knock together the cottages, their furniture and the wooden part of the farm machinery, the thatcher and the blacksmith could finish his work The women and children were all 'spinsters,' and village weaving of the coarser kind of cloth preceded fine weaving in England by many centuries—and indeed stretches back to prehistoric times. Much of the peasant's clothing was of hides roughly tanned. The neighbouring market town, itself an agricultural village, supplied what else had occa-

sionally to be bought. Only the inhabitants of the manor-house were likely to go further afield in their purchases and to patronize the commerce of the towns and the traders oversea.

In Henry II's reign, the lord's dwelling, whether Abbey, castle or manor-house, was often built of stone. But the villeins' cottages were still hovels, without chimneys or glass, and sometimes without any aperture but the door. They were built either of split logs, erected side by side in the old Saxon fashion, or, where timber became scarce, of 'half-timber' walls, with mud filling in the oaken framework. The art of baking bricks had died with the Romans and had not yet been revived. The roof was of turf or thatch A small orchard, garden or yard surrounded the villein's cottage, even when it faced the village street.

In the West and North and in districts still chiefly woodland, the cottages often stood in small hamlets of one, two, three, or half a dozen farms, and each little farm often had its own consolidated lands, sometimes surrounded by permanent enclosures.[4] But in the best agricultural districts in East and Middle England, the prevailing system was the large village of two to five hundred souls, grouped round the parish church and manor-house, in the middle of the open field This 'open' or 'common field,' was not cut up by hedges into the chess-board appearance presented by rural England to-day. It was divided into hundreds of little strips each of an acre or half an acre, divided by 'balks' of grass or footpath. It must have looked somewhat like a group of allotments of our time, but on a gigantic scale, and all under corn.

Each of these strips was a separate holding, a unit of proprietorship as well as of agriculture Each peasant had his property scattered about in the field in a number of separate strips, and a single freeman or villein might hold any number from one upwards, thirty formed a usual holding. The lord's domain, though part of it might be in a continuous tract separate from the village field, was in part scattered about among the peasant holdings.

[4] See above, p. 27, and note, p. 29.

Lord, freeman and villein were perforce subject to the general village policy as to the cultivation of the 'common field,' of which the private strips were the component parts. There were in fact three separate fields, in each of which every man had his share, small or great Each year one of these three huge fields lay fallow with the cattle grazing over it, one was planted with wheat or rye, and the third with oats or barley. While under cultivation, the area was generally enclosed by hurdles. Agricultural improvements and private enterprise were severely handicapped by such a system, yet it lasted in some of the best agricultural districts of England from times long before the Conquest to the great age of agricultural change in the Eighteenth Century. The chief improvements took place in that part of the lord's domain which formed a self-contained whole, and could be enclosed, or let as a separate block to leasehold farmers.

Apart from the 'fields' lay the meadow, if possible down beside the brook The meadow was common hayfield and common pasture, subject to elaborate rules and 'stints' discussed and enforced in the Manor Court. Astride of the brook or mill-stream stood the water-mill, usually belonging to the lord, who could make the villeins bring their own corn to be ground there at his price, which was sometimes so exorbitant that the right to use hand mills at home was striven for as a rare privilege Windmills were uncommon in mediæval England· the first of them are said to have come from the East after Richard I's crusade.

It will be seen that this was not a communist society, or a 'village community' in the strict sense. But individualism was shackled. The manor consisted of a number of private holders, including the lord, very unequal in wealth and in their relations to one another, but with closely inter-related rights, and all dependent on one another for co-operation on a traditional system Cash nexus, freedom of contract, fluidity of labour were the exception and not the rule

Beyond the 'fields' lay the 'waste'—the marshes, heaths and forests that had once clothed the whole acreage of the
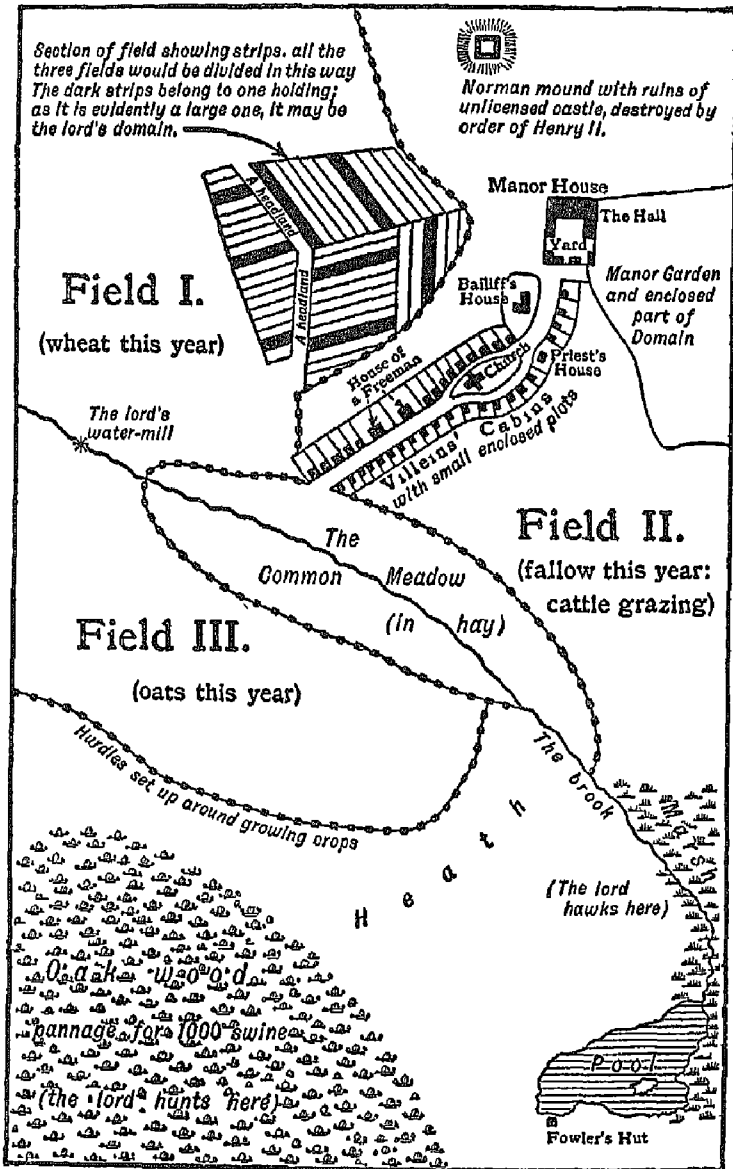
Map 10 Cowstead, an Imaginary English Village under the Manorial System

island, and still covered more than half of it The Saxon pioneers had pierced its heart of darkness and broken it up with their 'hams' and 'dens' planted everywhere in its midst Generation after generation, down the length of English history, the heath, fen and woodland shrank and shrank, as new hamlets and farms sprang up, as village 'fields' were enlarged and multiplied, and as the hunter-Kings were forced to disgorge to their subjects one forest jurisdiction after another. At length, in Hanoverian times, the 'waste' dividing township from township had shrunk to a couple of village commons Last of all, during the enclosures of the Eighteenth and Nineteenth Centuries, the remaining commons disappeared so fast that in many cases every acre of the land lying between one village and the next is to-day divided up into the chess-board of hedged fields The townships have ended by devouring the whole 'waste' and forest, unlikely as such an event might have seemed to a bird in mid-air surveying the tree-tops of England a thousand years ago.

BOOKS FOR FURTHER READING. *For Book II (Middle Ages) in general.* Davis, *England under the Normans and Angevins*, Vickers, *England in the Later Middle Ages*, Stubbs, *Lectures*, and *Constitutional History* (3 vols); Pollock and Maitland, *History of English Law* (2 vols); Maitland, *Constitutional History of England*, and *Canon Law in the Church of England*, Holdsworth, *A History of English Law*, Vols. I, II (the less technical parts are of great value to historical students, whether lawyers or not), Oman, *Art of War in the Middle Ages*, W. C Bolland, *The General Eyre* (Cam Press, 1922); A L. Smith, *Church and State in the Middle Ages*, H. O. Meredith, *Outlines of the Economic History of England*, Coulton, *Social Life in Britain from the Conquest to the Reformation*, and *The Mediæval Village*, and *Five Centuries of Religion*; Various writers, *Social England* (ed Traill), Vols I–II, W. P Ker, *English Literature, Mediaeval* (Home University Library); Tout, *Relations of France and England in the Middle Ages*, Quennell, *A History of Everyday Things in England*; J. F Baldwin, *The King's Council*, C H. McIlwain, *The High Court of Parliament* (Yale Univ Press), Stawell and Marvin, *The Making of the Western Mind*, A. F. Pollard, *Evolution of Parliament*, Barnard's *Mediaeval England*

(ed 1924 H W. C Davis), M. Deanesly, *A History of the Mediaeval Church* (1926).

For Chapter One only Relative parts of general works above, especially Davis, J. H Round, *Geoffrey de Mandeville, a Study of the Anarchy*, Hubert Hall, *Court Life under the Plantagenets* (reign of Henry the Second).

CHAPTER TWO

Henry II continued. The Cistercians in the North. Becket. The King's Courts. The Common Law and the Jury

KING Henry II, 1154–89

Some features in the manorial system described in the last chapter were only developed after the period of Henry of Anjou. It was in the reign of his grandson, Henry III, that the keeping of written records by the Manor Court became usual And in the same reign scientific treatises on agriculture and estate management began to be circulated The home-staying feudal knights began to imitate on their own estates the methods of account-keeping and record with which the King's Justices, Sheriffs and Barons of the Exchequer had made them unpleasantly familiar They also took lessons from the managers of Church estates, particularly those of the Cistercian monasteries.

In spite of the enthusiasm with which abbeys were being founded and endowed in the reigns of Stephen and Henry II, and the puritan severity of the original English Cistercians, the monks of that order were not for long a great moral and intellectual force among the people of the land, such as the friars became in the following century But they led the way in estate management, and especially in growing fine wool for the Flemish looms. If, as has been said in relation to the export of raw wool, Plantagenet England was the 'mediæval Australia,' the monks were among the first great 'squatters.' The famous monasteries under the steep, wooded banks of Yorkshire

dales began the movement that in the course of four or five hundred years converted most of North England and Scotland from unused wilderness into sheep-run By a process too slow to be observed or recorded, the nibbling flocks destroyed the dwarf oak-rods, birch and scrub which had cumbered the water-logged wastes of the North since time immemorial, leaving us instead the prairies of white grass and heather under the drying western wind.

The Cistercians in England perhaps did as much good by their methods of estate management as in any other way. Good and evil are hard to disentangle, for the order was most heartily abused by contemporaries for its proverbial greed, which led the monks into chicane, forgery and oppression, but led them also to keep estate accounts and to develop sheep farming sooner than most landlords. If it is once admitted that monks who have renounced the world and its vanities have nevertheless as good a right to acquire riches as people with fewer pretensions to virtue, then the same measure of mingled praise and blame must be allotted to the early Cistercians as to the improving lay landlords of Tudor times and of the Eighteenth Century

Many of the new foundations were not subject to the control of the English Bishops, but only of their own Abbots and of the Pope—a liberty, of doubtful benefit to the Church at any time, that ultimately hastened the destruction of the monasteries in England But some abbeys were within the jurisdiction of the Bishops, and the reports of the episcopal visitations supply the best evidence we have from which to form a judgment on the vexed problems of English monasticism

In this connection, there is a story told by Giraldus Cambrensis in his malicious *Speculum Ecclesiæ* One day when Henry II was riding back from the chase, the prior and monks of St. Swithin at Winchester fell on their knees before him and besought him with tears to save them from the Bishop, who proposed to cut down three out of their thirteen dishes at dinner. 'By God's eyes!' said the King. 'Look at these monks! I thought from their howling, their abbey had been burned down. And this is all the story.

May the Bishop perish if he does not cut down their dishes to three, with which I am content at my royal table.' Whether this tale be true or not, many similar stories, jests and sayings show that the popular reputation of the monastic body for sanctity was not very much higher in the reigns of Henry II and his sons than in the time of Chaucer But in the early days some monasteries were of great service as centres of scholarship before the rise of the English Universities, and as the homes for chroniclers and copyists before the rise of lay historians, scriveners and printers. Carlyle's hero, the noble Abbot Samson of St Edmondsbury, kept his monks on stricter fare than their contemporaries at St Swithin's But the scandals of the Evesham case in the reigns of Richard and John show how easy it was for the heads of monastic houses to abuse their autocratic powers, and how utterly unfitted some of them were for such trust. There was as much variety between one abbey and another as between one manor and the next Idealization and sweeping censure are equally dangerous with regard to any period—whether Past or Present.

In deciding about the dishes proper to a refectory table, and in more weighty matters of the law, Henry II would have worked well enough with his Bishops, whom he had himself appointed, if he had not made the memorable mistake of naming his Chancellor and friend, Thomas Becket, to be Archbishop of Canterbury The new Primate, freed from the King's service, held himself to be representative only of the Church and of the Pope. [1162] It rejoiced his combative nature and litigious intellect to stand up almost single-handed against a combination of King and Barons and a varying proportion of the Bishops themselves

The sympathies of the English Church and nation were divided, but on the whole they inclined to the King—for Becket was both violent and inconsistent in his conduct of the case. Unfortunately Henry's ungovernable temper broke out in a cry of rage that inspired four of his knights to steal away from his court and murder his enemy in Canterbury Cathedral [1170] The wave of reaction caused by this appalling deed deprived the State of many important

rights only recovered at the Reformation The cult of St. Thomas the Martyr remained for three centuries the most popular in England So many myriads besides Chaucer rode to Canterbury 'the holy blissful martyr for to seek,' that the word *canter* passed into the language for the pace at which pilgrims bound thither should ride—presumably between one tale and the next It was left for another masterful King Henry, in an age when much had changed, to grind the shrine to powder as being not only the chief centre of a relic worship which the pupil of the Renaissance reformers wished to destroy, but as the monument of the famous triumph of clerical privilege over the King and the King's law. [1538.]

The matter of the criminous clerks on which Henry II was worsted by the dead man was this In the Constitutions of Clarendon, [1164.] when a grand council of Barons and Prelates had defined the boundaries of Church and State, the King had successfully claimed that clerks who committed felony should be accused first in the lay court, then handed over to the Church court for trial, and, if condemned and degraded from holy orders by their spiritual superiors, should finally be brought back by the King's officers to the lay court for sentence and punishment This, he argued, was agreeable to ancient usage and not inconsistent with the Canon Law He did not claim that lay courts could try persons in holy orders

To many even of the clergy this had seemed a reasonable compromise. But Becket, after a temporary acquiescence, threw it over. His intransigence was approved by his martyrdom, and the result of his posthumous victory was that not only monks and parish priests, but professional men, and an enormous crowd of menials and minor officers of clerical establishments, and in later times anyone who could make some show of being able to read, were safe from the dread of any serious penalty for such crimes as burglary, rape and homicide, at any rate for the first offence It was only too easy to obtain minor orders, and the attraction to baser spirits of such privileges and protection

was great. 'One of the worst evils of the later Middle Ages,' wrote Maitland, 'was the benefit of clergy '

Although Henry's rash outcry and the knights' wicked deed saved the skins of felonious clerks for more than ten generations to come, in many matters Henry successfully set up the barrier of the lay courts against the encroachments of the clerical power. During the atrophy of the State under Stephen, the Church had naturally and deservedly improved her position and prestige Supported by the high Papal claims from oversea, the Church courts now threatened to invade many provinces not their own. Henry stayed this tide. The 'benefit of clergy,' that he was forced to concede, only affected cases of felony. For minor offences and in civil actions arising from contract and delict, clerks must appear as defendants in the lay courts of England, to the scandal of high churchmen.

Above all, advowsons were declared lay property and cases about Church benefices were to be tried in the lay courts This victory of the Common over the Canon Law set some limit to the power of the Pope over the English Church Cases decided in the spiritual courts could be carried by appeal to Rome, and the Pope was in the habit of stopping cases while they were still pending and calling them up to Rome or before tribunals appointed by himself in England The Church was in no position to resist this procedure, for she admitted its legality In matters spiritual she was subject to the Pope, and therefore the only way to protect her against him was to restrict the frontiers of the spiritual field, and compel her to take refuge behind the lay power in the King's courts

Henry II's firm stand in the matter of advowsons, which he insisted were temporal property, prevented appointments to benefices in England from passing wholesale, by the route of the Church courts, into the hands of the Roman Court.

Even as it was, the Pope soon learnt how to make appointments by 'provisors,' largely for the benefit of Italian priests The struggle between the Pope and the patrons of English livings, whom the King sometimes championed and

sometimes betrayed, went on for centuries, and led to the Statutes of Præmunire and other anti-Papal enactments of Parliament under the later Plantagenets, all tending towards the far-off event of the full Tudor solution [1]

The greatest of many benefits that Henry II conferred upon England was legal reform The new judicial procedure that he introduced was destined to shape the future of English society and politics, and to give distinctive habits of thought to all the English-speaking nations 'in states unborn and accents yet unknown' For the increase of power and jurisdiction that he gave to the King's central courts and to their offshoots travelling in the shires, rendered possible the rapid growth of English 'Common Law,' that is to say a native system 'common' to the whole land, in place of the various provincial customs still administered in the Shire and Hundred Courts and in the countless private jurisdictions.

The organs of old Anglo-Danish life, the communal courts of Shire and Hundred, could never have become instruments for creating the supremacy of the Common Law They were the courts of the middling class of gentry, and could not have been clothed with enough power and prestige to wrest jurisdiction from the feudal and ecclesiastical courts held by the great nobles and prelates Moreover, the knights and freeholders who were judges in the Shire Court were themselves too much wedded to various local customs, and their intelligence was too untrained and too provincial to evolve by the light of their own wisdom a new jurisprudence for all England Even the sheriffs who presided there were not lawyers bred in one great central school like the King's Justices If a common law was to be created for the nation it must emanate from a single source. That source was the royal *curia*, the King's Court.[2]

Henry II, with his foreign legal learning and his gift for choosing men, made a famous bench of royal judges. Some

[1] Maitland, *Canon Law in the Church of England*, especially pp 84–107.

[2] See pp 170–71, above

were in holy orders, but others, like Glanvil himself, were of the feudal warrior class. These men and their intellectual progeny in succeeding reigns evolved the Common Law from the procedure of the King's central courts. And the same men went forth to every corner of the land as Justices of Eyre or of Assize, carrying with them the Common Law as fast as it was made, teaching its new doctrines and enforcing its new procedure among 'uplandish men' in every shire

The Common Law, the great inheritance of the English-speaking nations, has in modern times sharply divided them in their habits of thought from the world of Latin and Roman tradition. Nevertheless it was an outcome of the Norman Conquest The men who made it between the reigns of Henry II and Edward III were lawyers who thought and pleaded in French, while making their official records in Latin 'How shall one write a single sentence about law,' said Maitland, 'without using some such word as *debt, contract, heir, trespass, pay, money, court, judge, jury*? But all these words have come to us from the French. In all the world-wide lands where English law prevails, homage is done daily to William of Normandy and Henry of Anjou.'

The Common Law owes only a little to the Anglo-Danish codes and customs with their barbarous procedure, their compurgation and their weregild, representing a bygone stage of society It owes something to the feudal custom of all Europe, particularly as regards land tenure. But the favourite subject of study in the Twelfth Century was the 'Civil Law' of the old Roman Emperors, and the Canon Law of the Church, then in process of elaborate definition These two Roman 'laws' served as the exemplar in legal method and science for the men who were making the very different Common Law of England From about 1150 to 1250 the Universities of Bologna and Paris, where the 'two laws' could best be studied, drew across the sea and the Alps young English clerks, lawyers and archdeacons by the hundred, who returned, as their countrymen complained, Italianate Englishmen full of foreign vices, but full

also of strange legal learning. Oxford, almost as soon as she became a University, had flourishing schools of Civil and of Canon Law

The question then arises—why did the law of England grow upon lines so native and so free in spite of the intellectual attraction exercised during the most critical century of its growth by these potent alien forces? No doubt the Barons of the land, already an English and a conservative body, eyed the Civil Law askance as something foreign and as favouring autocratic kingship, and they had shown in the Becket controversy that they had no love for the Church courts These feelings on the part of the grandees of the land had to be respected by the King's lawyers, who, moreover, shared them at least in part. And so, while they used the Civil and Canon Law as lesson books in method and spirit, they rejected their positive contents, all except a few great maxims The English 'Common Law' was not a code imitated from the Code of Justinian but was a labyrinth of precedents, cases and decisions of the various royal courts, a labyrinth to be unravelled by the help of clues held by the legal profession

Throughout early Plantagenet times the King's *curia* or Court began to specialize its work among various subordinate committees, each gradually acquiring a special function and a procedure of its own, as the financial Exchequer had begun to do as early as the reign of Henry I. A bench of judges, known in after times as the Court of Common Pleas, was by John's reign fixed for the convenience of the subject at Westminster, where the Exchequer also sat, thereby 'giving England a capital.' Otherwise, parties to a suit in the *curia regis* had to chase the King about on his bewildering journeys. The King's courts were as yet judicial committees of the *curia*, rather than law courts in the modern sense. But they, and the itinerant justices in the shires, had enough regularity of procedure to manufacture 'case law,' the precedents which composed the Common Law of England.

By the procedure laid down in his writs, Henry II enabled the subject to bring many kinds of action in the

King's courts rather than in the local and private tribunals. The Crown at this period had plenary power to issue what writs it would, and they form a great original source of English law. Only in the more constitutional times of Henry III and de Montfort, when the King's power was being limited, were the permissible forms of writ defined, and the power of issuing novel writs circumscribed But by that time the King's courts were well on the road to becoming the ordinary courts of the land.

Partly by writs, partly by 'Assizes,' which were royal decrees issued in an 'assize' or session of notables, the Kings from Henry II to Henry III enjoyed the power of creating new legal remedies, new modes of litigation, new forms of action, to the detriment of the feudal and ecclesiastical courts. Other 'legislation' in our sense of the word there was none But Henry II, by offering the subject alternative and preferable methods of procedure in the royal courts by his 'Assizes,' in effect stole from the feudal courts most of their jurisdiction as to the title and possession of land. He thereby threw the shield of the royal justice over small landowners whose estates were coveted by some great feudal neighbour [8]

By this Assize legislation Henry II at the same time introduced the new procedure of trial by jury

The barbarous Anglo-Saxon method of trial by 'compurgation,' when a man proved his case by bringing his friends and relations in a sufficient number to swear that they believed his oath, the superstitious 'ordeal' by hot iron, originally heathen, but latterly Christian, the Norman warriors' favourite 'trial by battle,' always unpopular with the English, when the parties knocked each other about with archaic weapons of wood and horn, till one of the two was fain to cry the fatal word 'craven'—all these were

[8] The Assize of Novel Disseisin (1166) and of Mort D'Ancestor protected the possessor and his heir against unwarranted eviction The Grand Assize (1179) regulated proprietary actions, and the Assize of Darrein Presentment disputes as to advowsons All these added greatly to the jurisdiction of the King's courts.

methods which resulted perhaps as often as not in a wrong verdict, frequently in an unjust sentence of mutilation or death In looking back over the martyrdom of man, we are appalled by the thought that any rational search after the truth in courts of law is a luxury of modern civilization. It was scarcely attempted by primitive peoples. In mediæval England the first step in that direction was taken by Henry II, when he laid the foundation of the jury system in place of these antiquated procedures.

The jury which he established was not the jury we know to-day—persons empanelled to hear the evidence of others and decided on the facts laid before them. Henry's jurymen were themselves witnesses to the fact. Yet even this was a great advance, because hitherto courts had too seldom asked for witnesses to fact at all. Henry's Grand Assize enabled a man whose right to property in land was challenged, instead of defending himself through trial by battle, to claim trial by jury. [CIRCA 1179.] If such were his choice, twelve neighbours who knew the facts were to testify before the King's Justices as to which party had the better right to the land.

Another kind of jury, the jury of presentment or accusation, was instituted by the Assizes of Clarendon [1166.] and Northampton [1176.] Twelve sworn men representing each 'Hundred' were to 'present' to the court those of their neighbours who had committed crimes. Like the jurors of the Grand Assize, these jurors of presentment were not judges of fact but witnesses to fact—at least to the facts of the local reputation of the accused. Their 'presentment' sent the culprit to the ordeal, but even if the so-called judgment of God was given for him, though he escaped the gallows, he was to abjure the realm! When in 1215 the Lateran Council abolished the long-discredited ordeal, by forbidding priests any longer to conduct the mummery of the hot iron, the way was opened in England for further developments of the jury system. In the course of the later Middle Ages the jury were gradually transformed from givers of sworn evidence to judges of the evidence of others. In the Fifteenth Century the jury system, more or

less as we now have it, was already the boast of Englishmen, proudly contrasted by Chief Justice Fortescue with French procedure where torture was freely used.[4]

Henry's new justice was popular and was eagerly sought. Cruelty, violence and oppression were things of every day in a society slowly emerging from barbarism, and the royal writ at least afforded to the defenceless occasional help and remedy. Yet there was a less attractive side to the justice of the King. His courts were a means of extortion, to fill his ever-gaping Exchequer. It was not only the disinterested desire to give his people true justice that caused Henry II to extend the profitable domain of the royal courts. Richard, John, and Henry III cared even less than he about abstract justice, and even more about money, and they all continued to foster the royal jurisdiction. The Justices were quite as busy collecting the King's revenues as enforcing the King's peace. They were two aspects of the same operation.

Specially extortionate, unpopular and monstrous, from the time of Henry III onwards, were the proceedings of the 'General Eyre,' when a King's Commissioner was sent down to some unhappy shire to overhaul every judicial and financial action of the sheriff and freemen since the last Eyre perhaps seven or more years before, and extort heavy fines for every trifling oversight. In 1323 the men of Cornwall fled with their families to the moors and woods to escape the dreaded visitation. In Edward III's reign, partly on account of their unpopularity, the General Eyres came to an end—the itinerant Justices thenceforth holding smaller commissions. Although royal justice was the chief method of progress under the early Plantagenets, it no more deserves unqualified praise than other human institutions.

[4] The jury system as created by the Plantagenet Kings and judges was suggested by the methods used by Norman Kings to take the evidence of townships on the Domesday and other inquests. But Anglo-Danish customs had already in Ethelred's time a system curiously like Henry II's jury of presentment. See p. 116, above.

Henry II was an autocrat, but like his Tudor namesakes he lived in times when people wished for strong government more than anything else. And like them he was an autocrat who ruled by law, who trusted his people, and who had no standing army, but encouraged his subjects to be armed, as unpopular tyrants dare not do. The Assize of Arms of 1181 decreed in detail what weapons and armour the men of every rank to the lowest freeholders and artisans must keep ready for the King's service in time of need. It was a measure anti-feudal in tendency, looking back to the Saxon fyrd, and forward to the new England in the making.

It was owing to Henry of Anjou that anarchy was quelled in the early morning of our history, instead of the late noon, as happened in the feudal lands of the continent. And it was due to him that the King's Peace was maintained through a native Common Law, which, unlike the systems more directly drawn from the civil law of the Roman Emperors, made law itself the criterion, and not the will of the Prince.

CHAPTER THREE

Richard I and the Crusades Hubert Walter and the Middle Classes. Constitutionalism Grows Out of Feudalism John and Magna Carta. Henry III and Simon de Montfort.

KINGS Richard I, 1189–99, John, 1199–1216; Henry III, 1216–72

Christendom in the Ninth and Tenth Centuries had been ringed round by foes encroaching upon her from east, from south and from north. Europe had been, not the attacker, but the attacked; not the explorer, but the explored. If her enemies no longer, after the days of Charlemagne, threatened her very life, they bade fair to deny her the use of the sea, the possession of her own coasts, and therewith the prospect of the commerce and the world

expansion which we associate with the destiny of the European peoples In the North, the heathen Vikings held both sea and shore. Most of Spain and Sicily were under Saracen rule The Mediterranean was swept by Moslem and Viking craft. From the lower Danube the heathen Magyars pushed into the heart of Germany and across the Lombard plain. Both by sea and by land Western Europe was being cut off from everything outside herself, even from Constantinople, the hearth of Eastern Christianity and learning.

[SEE MAP 3] In the course of the Eleventh and Twelfth Centuries the situation was reversed The slow conquest of Spain from north to south began. Norman instead of Saracen reigned in Sicily The Vikings were repelled or converted, and their splendid energies, renewed in Norman warriors and statesmen, became the spearhead of Christian chivalry. The Magyers too were baptized, and their kingdom of Hungary gave the crusading armies free access by land to the Balkan territories, the Byzantine Empire, and thence into Asia Minor and on to the Holy Land. Sea power passed into the hands of the Italian maritime Republics of Genoa and Venice, who were therefore able to convoy the soldiers of the Cross to the Levant

This brilliant change in the prospects of Europe had been achieved in the main by feudalism Feudal Christianity, for all its faults, had imposed its ideals on Viking and Magyar as something superior to their own social order. And it had turned back the Moslem advance When the feudal knight charged, as he had now learnt to do, with heavy lance in rest, no one could resist his onset. Infantry were no longer of great account till the rise of the English bowmen And during the Twelfth and Thirteenth Centuries the military power of feudalism was crowned by improvements in the science of castle building Richard I's famed Château Gaillard in Normandy and the fortresses of the Crusaders in the East were vastly superior to the mound-and-stockade castles with which the Normans of the Conquest had held down England They were superior even to the square donjon-keeps whence

the anarchy of Stephen's reign had emanated, for the scheme of the new military architecture was a long curtain wall, defended by towers placed at intervals along its circuit, and enclosing a single great courtyard. The type is to be seen in Conway, Carnarvon and Harlech, with which Plantagenet England held down the Welsh, and in Bodiam Castle in Sussex.

In these altered circumstances and with these improved methods of warfare, the recovered self-confidence of feudal Christendom was bound to seek outward expansion. The Crusades satisfied at once the dictates of piety and the craving for battle, exploration and plunder. They were the policy not of the national statesman but of the knight errant, a characteristic figure in real life during the Twelfth and Thirteenth Centuries The Crusades were the first phase in that outward thrust of the restless and energetic races of the new Europe which was never to cease till it had overrun the globe. It was the same spirit which had inspired the Vikings, but it was directed no longer inwards against the vitals of Europe, but outwards against her Asiatic neighbours.

As yet these adventurous energies, which were one day to cross the Atlantic and Pacific Oceans, were turned to the South-East, by the reopened routes of Danube and Mediterranean. England, in the North-West corner of the world, was left in a backwater. Individual English knights long continued to go on crusade, but the movement never became a national undertaking and tradition, as it did in France. The reason is obvious. France had a Mediterranean seaboard and England had not.

[1095–99] England, then, had practically no share in the First and most successful of the Crusades, when Godfrey of Bouillon liberated Jerusalem and set up the Frankish states of Syria. In the Third Crusade [1190–93], for the recovery of these territories most of which had been lost to Saladin, King Richard Cœur de Lion won personal glory as the greatest of knight errants. He took with him other Englishmen of an adventurous disposition, but not the solid part of the baronage, who stayed at

home to govern the island in his absence. As for the English common folk, the emotions of the Third Crusade touched them just enough to produce some shocking pogroms of Jews

But indirectly the effects of the Crusades upon England were very great, because they enriched and enlarged the mentality of mediæval Christendom, of which England formed part. They brought many of the ablest men of the half-developed society of the West into fruitful contact with the trade, arts, science and knowledge of the East. Both Saracen enemy and Byzantine ally were the heirs of civilizations older and better equipped than that of contemporary Europe. Even the art of fortification was largely imitated from the castles the Crusaders found in Asia. The settlements and ports founded by the Franks in Syria gave a great impetus to commerce between the two continents. The Crusades raised Venice, as the principal carrier of that commerce, to the pinnacle of her wealth and glory, enabled her citizen Marco Polo and many Italian traders and missionaries to traverse the heart of Asia sometimes as far as the Chinese littoral, and flooded Europe and England with luxuries and crafts imported or imitated from the East; while the nascent intellectual curiosity of the West, taking shape in Universities and in heresies, was deeply affected by Eastern philosophy and science. The rich, many-coloured fabric of later mediæval life, the world of Dante and of Chaucer, would never have come into existence if barbarous Europe had remained as much shut in upon herself as she had been before the Crusades.

Such were the prizes that Europe carried back from the East. Her ardour was not rewarded by the permanent liberation of the Holy Sepulchre; nor by the fraternal unity of Christendom, of which the tale of the Crusades is one long negation, nor did she permanently strengthen the Byzantine Empire, the true bulwark of our civilization against Islam, which the Crusaders of 1203 basely betrayed for their own ends. What the blood and the zeal of the Crusaders really purchased for their descendants was the increase of commerce, craftsmanship and luxury,

the lust of the eye and of the ear, the pride of intellect, the origin of science, everything that was most despised by Peter the Hermit and the zealots who first preached the movement in the simpleness of their hearts.

[1189–99.] Richard as King of England was a negligent, popular absentee, as befitted the character of knight errant. He left the island on his long Crusade, after making provisions for the government that ensured its disturbance by his brother John In the hands of that man, already a proved traitor and ne'er-do-well, he placed half a dozen counties, which were to pay nothing into the Exchequer, and which no royal justices were to visit It was a dangerous blow at the system of direct royal government built up by Henry II, but that system had taken such firm root that even a rebellion plotted by John against his absent brother failed to shake the State Richard had just appointed Hubert Walter to be Archbishop of Canterbury and Justiciar or Chief Officer of the Crown [1193–94.] Hubert, backed by the official baronage and by the Mayor and Citizens of London, suppressed the treason of John, and purchased Richard's deliverance from the Austrian prison into which his fellow crusaders had thrown him on his way home. He rewarded England's loyalty by draining her of money once more, and going off again at once to defend his Angevin inheritance. He never returned to England. Five years later he received his death wound in some obscure dispute with a vassal, beneath the walls of a petty fortress. [1199.]

Hubert Walter, indeed, governed England better than Richard would have done in person. He not only enforced the King's Peace, but began a new policy of trusting the middle classes of town and country, an important preparation for the great constitutional changes of the next two reigns.

With the doubtful exception of London and one or two more, the English towns were not, even those few of them that stood on Roman sites, survivals of Roman *municipia*, as were the French and Italian cities They were for the

most part villages or forts that had grown into market-towns in Saxon times.[1] In the Twelfth Century, therefore, the towns still lay under seignorial, prelatic or royal government, according to the owners of the land on which they were built. The era of their emancipation now began, but most quickly on royal land.

It had not, indeed, been any part of Henry II's policy to favour municipal any more than feudal autonomy Both had been equally suspect to him as encroachments on the direct authority of the Crown. But, if we may guess at Hubert Walter's mind by his actions, that wise prelate and statesman perceived that, while the power of the State would be weakened by feudal privilege, it would be increased by municipal growth.

He granted charters to various towns, conveying the privilege of self-government through elected officials. The old English word 'Alderman' and the word 'Mayor,' imported from France, reflect the dual origin of the liberties of the mediæval English towns. Hubert, indeed, like Henry II before him, seems to have feared the peculiar power which the citizens of London derived from their wealth, numbers and geographic position Nevertheless, during the period of disturbance caused by John's intrigues, the Londoners had secured once for all the right of electing their own Mayor—the first officer so called in England. When John came to the throne he continued and expanded the policy of selling municipal independence to the towns.

But Hubert Walter's policy of trusting and using the middle class as instruments of government was no less observable in the affairs of the shire. The class of rural gentry, the knights who were settling down on their manors to agricultural and peaceful pursuits, were increasingly employed for county business by the wise Justiciar. It is here that we see the first sure signs of that peculiarly English system of government whereby the Crown depends largely on the amateur services of the local gentry for the enforcement of the King's Peace, instead of depending

[1] See p 119, above.

wholly on the sheriff and Judges, or on a centralized bureaucracy of the later continental type. The new policy reached its full development in the Justices of the Peace of later times. In Richard I's reign the gentry were not yet performing their tasks under that name, but already, if not earlier, they were being compelled by the government to act as Coroners to 'keep the pleas of the Crown,' that is to defend the King's judicial and financial rights in the shire. Their services were not always voluntary; it was indeed a function of the mediæval Kingship to force the English to acquire the habits of self-government. The Crown found in the knights of the shire a useful check upon the sheriff, who was suspected by both King and people of frequently abusing his great powers.

[1194–98.] Nor did Hubert Walter keep the appointment of Coroners in his own or in the sheriff's hands. He ordained that the suitors of the Shire Court, in other words the local gentry, should choose four of their own number to serve as Coroners. On the same principle, he ordered that the juries, instead of being chosen as heretofore by the sheriff, should be chosen by a committee of four knights who also were to be chosen in the Shire Court.

Here we have the self-government of the shire not through its great Barons but through its gentry, and here also we have the principle of representation Thus by the end of the Twelfth Century, two hundred years before the Franklin of Chaucer's *Prologue*, a rural middle class was arising in England, accustomed to the transaction of public business and to the idea of electing representatives. When these local activities of the smaller gentry and the idea of representation were carried up to the larger sphere of a national Parliament, mighty consequences followed to England and to the world.

In the reign of John [1199–1216] the feudal resistance of the Barons to the exorbitant demands of the Crown began gradually to turn into constitutional resistance, embracing all other classes of freemen The King by his plenary power had familiarized the country with the idea of a Common

Law of the land. In the reigns of John and Henry III after him, men began to formulate more precisely the conception of law as something with a life of its own, distinct from the regal power—something above the King, by which he must rule.

What we should now call 'constitutional ideas' were growing, slowly but steadily, all through the Thirteenth Century. Our constitution was the child of Feudalism married to the Common Law. For feudalism is the opposite of despotism. It may often be tyranny and it may sometimes be anarchy, but it is never despotism, for it is an elaborate balance of defined rights and duties as shared by the King and the various holders of land. The Barons and knights were protected from the King by feudal law and custom. When he claimed service, aids or reliefs on a scale larger than the custom allowed, they resisted him on point of feudal law That was the beginning of the Constitutional and Parliamentary movement The King, instead of arguing each disputed case with each separate lord, found it quicker to come to an agreement with them collectively in Council or in Parliament

Moreover there is another sense in which English constitutionalism was feudal in origin. The resistance to royal despotism in the Thirteenth Century was successful because the feudal class, unlike the squires of later times, was still to some extent a warrior class. Although, as we have seen, many of them were unused to war, they all had chain-armour and war-horses, some had gone on the Crusades, and many lived in a state of chronic skirmishing with their Welsh and Scottish neighbours. That is why the Barons of Magna Carta and the followers of Simon de Montfort were able to put up a fight against the King That is why Barons Bohun and Bigod so confidently replied to the threats of Edward I 'By God, Sir King, we will neither go nor hang' Sir John Eliot would never have dared to answer Charles I in such terms, Pym and Cromwell had to tread the paths of revolution in order to procure the armed force which the Parliamentarians of the Middle Ages normally and legally possessed

John was the very man to arouse a movement of constitutional resistance. A false, selfish and cruel nature, made to be hated, he showed pertinacity and tactical ingenuity in pursuit of his designs, but he had no broad political strategy or foresight. He strained the feudal law and misused the splendid machinery of State, to extort money from all classes of his subjects, lay and clerical, rich and poor, burgher and Baron—and then spent it in clumsy and unsuccessful attempts to defend his Angevin inheritance against the rising power of the Capet Kings of France. The loss of Normandy to Philip Augustus took place in 1204, and ten years later John's scheme to recover it through a grand European coalition against France was shipwrecked by the defeat of his German allies at Bouvines. [1214] These events, together with the long-drawn-out quarrel of John with the Pope involving the interdict on England, were the prelude to Magna Carta John's prestige was shattered, and the strength which previous Kings of England had drawn from their foreign possessions was turned into weakness.

Bouvines, besides helping England to become a constitutional country, ensured the reunion of France under the monarchy of Philip Augustus The poetry-loving French Court, and the University and architectural schools of Paris, were the cultural centre of chivalric and crusading Europe It was but natural that the Court should also become, after Bouvines, the political centre of the French feudal provinces. But it failed to develop administrative institutions like those with which the Plantagenets strengthened the English throne, and the French monarchy was therefore destined, in the days of Crecy and Agincourt, to go down once more before renewed English attack from without and feudal treason from within

[SEE MAP 9.] But meanwhile, between the reigns of John and Edward III, the possessions of the English Kings abroad were reduced to reasonable dimensions. Their Angevin Empire was no more, but they still retained Gascony and the port of Bordeaux, a stimulus to overseas trade, supplying cheap and excellent wine to replace mead

and ale on the tables of the English middle class, and so putting an end to the pathetic efforts of our ancestors to grow grapes under our sunless sky. But the connection with Gascony had not the intimate character of the old connection with Normandy, when so many Barons had lands or relations on both sides of the Channel During the century and a quarter that intervened between the loss of Normandy and the beginning of the Hundred Years' War, the English Kings, nobles and knights, though still talking a caricature of the French tongue, interested themselves in questions proper to England—her relations with Wales and Scotland, and the development of her law and of her Parliament This return to a more insular outlook saved us from too close an identification with France. If the England of the Thirteenth Century had been occupied in defending the Angevin Empire against the French Kings, the energies and thoughts of our leaders would have been drawn away from national interests and internal problems When at length, in 1337, Edward III resumed the conquest of France, the English law had already acquired, and Parliament was fast acquiring, well-defined native forms, and the English people had become conscious of its own identity.

[1215] The first great step on the constitutional road was Magna Carta The Barons in arms who extorted it from King John at Runnymede were none of them, so far as we know, remarkable men, but their ally, the Archbishop Stephen Langton, had both moral and intellectual greatness He was all the greater man because his support of the constitutional cause was contrary to the wishes of the great Pope Innocent III, who, in return for John's politic submission in 1213, backed him at every turn in his quarrel with his subjects and declared Magna Carta null and void. Considering that Stephen Langton owed his election to Canterbury to the Pope's support, his stoutness on political questions in England was doubly remarkable

The Barons were acting selfishly and class-consciously to just the same degree—no more and no less—as other

English classes and parties who in successive centuries have taken part in developing 'our happy constitution' by self-assertion ending in a practical compromise. Doubtless they would have sworn mouth-filling oaths if they could ever have been made to comprehend the idealised misinterpretations of the Charter which held the field in Stuart and Hanoverian times—such for instance as the belief that Clause 39 demanded trial by jury for the meanest villein, and that Clauses 12 and 14 required all taxes to be voted by a national Parliament. Their demands were more limited and more practical, and for that reason they successfully initiated a movement that led in the end to these yet undreamt-of liberties for all.

The Barons had come together to prevent the King from abusing feudal incidents and from raising aids and reliefs on their lands beyond what feudal custom allowed. It has been called a 'tenant-right' movement on the part of an oppressed upper class against their landlord the King, though it must be remembered that what the King unjustly extorted from the Barons had most of it to be extracted by them from the classes below The Barons also wished to put some limit to the King's plenary power of withdrawing case after case from their courts to his own, through the procedure of writs. We may sympathize less with the latter object than with the former. But, taking the situation as a whole, it was time that the King's plenary powers were curbed or nationalized, and no one but the Barons could have made such a movement effectual.

Stephen Langton was an enlightened guide to his baronial allies, but even without him the circumstances of the age in England were forcing them into the path of true progress. For the strength of the Plantagenet State machinery precluded a return to pure feudalism, nor had the Barons any such thought in their hearts. They had no desire to destroy the work of Henry II which had become a part of their own and of the nation's life. Knowing it to be indestructible, they desired to subject it to some form of common control, to prevent it from being any longer the instrument of one man's will.

In England a hundred years before, and still in Scotland and on the continent, the policy of the Barons was each to maintain his individual independence and private 'liberties' upon his own estates to the exclusion of the King's officers. But in England after Henry II, that was no longer to be dreamt of The new English baronial policy, enshrined in Magna Carta, is designed to obtain public 'liberties' and to control the King through the Common Law, baronial assemblies, and alliance with other classes. When the Barons extracted the famous concession that no extraordinary 'scutage or aid shall be imposed on our kingdom, unless by common council of our kingdom,' 'and in like manner it shall be done concerning aids from the City of London,'—although they proceeded to define the 'common council' as a strictly feudal assembly of tenants-in-chief—they were none the less taking a step towards the principle of Parliaments and of 'no taxation without representation' It was a very short step, but it was the first, and it is the first step that counts

Moreover the Barons of Runnymede were not strong enough to rebel against the son of Henry II without the aid of the other classes whom John had oppressed and alienated The Londoners opened their gates to the baronial army and took the field in warlike array The clergy gave their moral and political support The *liberi homines* or freemen—roughly including all classes above the unregarded villeins—aided with their passive sympathy, it was useless for John to call out the fyrd of all freemen under the Assize of Arms, as Henry II would have done against baronial rebellion The English people for the first time sided with the Barons against the Crown, because they could do so without fear of reviving feudal anarchy.

Each of the classes that aided or abetted the movement had its share of benefits in the clauses of the Great Charter In that sense we may call it a national document, though no claim was made on behalf of 'the people' or 'the nation' as a whole, since those abstractions had not yet begun to affect the minds of men Protection against the King's officers and the right to a fair and legal trial were assigned to

all 'freemen.' The term was of limited scope in 1215, but owing to the economic and legal evolution of the next three hundred years it came to embrace the descendant of every villein in the land, when all Englishmen became in the eye of the law 'freemen.'

Several clauses in Magna Carta give expression to the spirit of individual liberty, as it has ever since been understood in England. And the constant repetition of these brave words in centuries to come, by persons who were ignorant of the technical meaning they bore to the men who first wrote them down, helped powerfully to form the national character —

> No freeman shall be taken or imprisoned or disseised or exiled or in any way destroyed, nor will we go upon him nor will we send upon him except by the lawful judgment of his peers or (and) the law of the land.

Numerous other clauses apply sharp checks to various lawless and tyrannical habits of the King's officers, both in his forests and elsewhere, which, if patiently suffered, would have created a tradition of the worst type of continental *droit administratif*.

The Charter was regarded as important because it assigned definite and practical remedies to temporary evils. There was very little that was abstract in its terms, less even than later generations supposed Yet it was the abstract and general character of the event at Runnymede that made it a great influence in history A King had been brought to order, not by a posse of reactionary feudalists, but by the community of the land under baronial leadership; a tyrant had been subjected to the laws which hitherto it had been his private privilege to administer and to modify at will A process had begun which was to end in putting the power of the Crown into the hands of the community at large.

It is for this reason that a document so technical as the Charter, so deficient in the generalizations with which the Declaration of Independence abounds, so totally ignorant of the 'rights of man,' has had so profound and lasting an influence on the imagination—in every sense of the word—

of succeeding ages Throughout the Thirteenth Century the 'struggle for the Charter,' with its constant reissues, revisions, infringements and reassertions, was the battle-ground of parties—although both sides were drifting away from the feudal 'consilia' of Clauses 12 and 14, towards the larger ideal of a national Parliament. But until the Edwardian Parliaments were fully established, the Charter remained in the foreground of men's thoughts.

In the Fourteenth and Fifteenth Centuries it fell into the background, its task apparently accomplished. Parliament held the place in men's minds which the Charter had once occupied The later copyists and the early printers were never called upon to issue popular English versions of the great document. In Tudor times the Charter was even more utterly out of fashion, because it emphasized the distinction between the interests of Prince and people, which throughout the Sixteenth Century Prince and people were equally anxious to deny. Shakespeare's *King John* shows that the author knew little and cared less about the Charter, though he treated fully and freely the human tragedy of Richard II's deposition and death.

But when, under James I, Prince and people again began to take up opposing ground, Magna Carta came quickly back into more than its old splendour The antiquarians and lawyers who asserted our Parliamentary liberties in the age of Coke and Selden, saw looming through the mists of time the gigantic figure of Magna Carta as the goddess of English freedom. Their misinterpretations of the clauses were as useful to liberty then as they are amazing to mediævalists now. Under the banner of Runnymede the battle of Parliament and the Common Law was fought and won against the Stuarts.

In the Eighteenth Century, the era of unchallengeable chartered liberty and vested interest, the greatest charter of all was worshipped by Blackstone, Burke, and all England It had become the symbol for the spirit of our whole constitution. When, therefore, with the dawn of a more strenuous era, the democracy took the field against the established order, each side put the Great Charter in the

ark which it carried into battle. Pittites boasted of the free and glorious constitution which had issued from the tents on Runnymede, now attacked by base Jacobins and levellers, Radicals appealed to the letter and the spirit of 'Magna Charta' against gagging acts, packed juries and restrictions of the franchise. America revolted in its name and seeks spiritual fellowship with us in its memory. It has been left to our own disillusioned age to study it as an historical document, always remembering that its historical importance lay not only in what the men of 1215 intended by its clauses, but in the effect which it has had on the imagination of their descendants.

The Barons, having no idea of Parliamentary institutions, could only devise the most clumsy means to enforce the treaty they had wrung from the momentary need of their shifty and able adversary By one of the final clauses of the Charter, John was forced to concede to a revolutionary committee of twenty-five Barons the right, if he broke any of the terms, 'to distrain and distress us in all possible ways, namely by seizing our castles, lands and possessions and in any other way they can' The situation immediately after Runnymede was as black as it could well be. John was incited by the Pope and his legate to repudiate the Charter, while the Barons called in the armed intervention of the French Prince We were saved from having to choose between a cruel despotism and a foreign dynasty, by that fortunate surfeit of 'peaches and new cider' John's death [1216.] afforded a last chance to reunite the nation on the principles of Magna Carta

In the hands of patriotic statesmen like William Marshall and Hubert de Burgh, with Langton as mediator between parties, the cause of the infant King Henry III made successful appeal to the nation In a few years the land was pacified The Charter was reissued with modifications, the Frenchmen were expelled on the one hand, and on the other the growing Papal influence on our politics was kept in check Castles which the feudal classes had built for themselves or seized from the Crown during the civil war, were pulled down or resumed into royal hands, in many

cases after serious siege operations The minority of Henry III [1216–27.], which began in the midst of war and bade fair to see a revival of anarchy, was turned to good account, thanks to the honesty and ability of the statesmen exercising power in the name of a King who never afterwards used it well for himself. This period saw an increase in the authority of the King's Council, through whom Marshall and de Burgh had to act during their regencies. Yet even so the Council was still a wholly indefinite body of men.

Henry III had so great a veneration for the memory of Edward the Confessor, whom he resembled in more ways than one, that he pulled down the church which it had been the chief life's work of the Confessor to erect, and built in his honour and round his high raised shrine, the Westminster Abbey that we know.

Henry's personal piety controlled his political action. It made him the instrument of the Pope's ambitions in England and in Europe. Since the clergy had no means of protection against the Pope except only the royal power,[2] the King's defection exposed them to the full blast of Roman covetousness. Italians and other foreigners, often of bad character, generally absentees, and nearly always unfitted for the cure of souls in England, were foisted into innumerable benefices by Papal 'provisions.' On one occasion the Pope rewarded the loyalty of the Romans with the promise of the next 300 benefices that should fall vacant in our country Meanwhile the English clergy were pitilessly taxed to support the political schemes of the Papacy against the Emperor Frederic II and others These experiences set going an anti-Papal current in English popular feeling, that went on increasing in force until it had accomplished the Reformation. In earlier times the English people, at least since the Norman Conquest, had been regarded as peculiarly loyal subjects of the Pope. Their new-born hostility to the Roman Curia, though shared by many of the clergy, had no logical basis in ecclesiastical theory until

[2] See p. 211, above.

the time of Wycliffe, but could find occasional expression through the acts of the State

In further pursuance of the Pope's ambitions in Europe and Italy, Henry III allowed his second son Edmund of Lancaster to assume the disputed Crown of Sicily [1255], and his brother Richard of Cornwall to be a candidate for the Imperial throne [1257], England being expected to pay for the war of succession of the one and the election bribery of the other These demands, unconnected with any conceivable English interest, roused the baronage and the nation to fury.

[1258–65] Thus, for a whole generation after the King had come of age, misgovernment continued, keeping up discontent, till it burst out in another period of civil war and constitution-making. It was still 'the struggle for the Charter,' a continuance of the issues raised in John's reign, but with a significant difference In the reign of John it had been a duel between the King on one side and the baronage supported by the people on the other. Under Henry III it was a triangular conflict The 'bachelors,' that is the rising class of knights and gentry, accustomed to local work as Coroners and jurymen, now took a line of their own in national politics Discontented with the selfishness of the Barons as displayed in the Provisions of Oxford [1258.], they demanded and in the end obtained, that the baronage should concede to them as vassals and tenants the privileges that it extorted on its own behalf from the supreme landlord the King And in the matter of royal against seignorial justice, the 'bachelors' favoured the King's courts

The real strength of Henry's party lay in this division of its adversaries, which his able son Edward was eager to exploit. In opposition to the more popular movement, many of the Barons eventually went over to the King's side, while the constitutional or reforming party, that continued to follow the flag of Simon de Montfort, was almost as much democratic as baronial The contest became, like the Civil War of Stuart times, less a class war than a war of ideas.

[1264, 1265.] In the final crisis, centring round de Mont-

fort's victory at Lewes, and his overthrow in the following year at Evesham, his party consisted of the reforming section of the Barons; the more politically minded of the knights and gentry, the best of the clergy in revolt against the unnatural combination of Pope and King; the students of Oxford University, and the other popular elements to whom the preaching friars made appeal in the heyday of their democratic zeal for work among the poor. Though the Pope excommunicated him, Simon had the more potent religious forces upon his side. And among his partisans must be numbered the citizens of London, whose flying ranks Prince Edward at Lewes pursued in the fashion of Rupert, while Simon like Oliver was destroying the main of the King's army.

The political rhymes and treatises of the hour show that this reforming party of Simon's last years clearly conceived law as a thing above the King.[3] And many of them were filled, like their leader, with a religious spirit which they devoted to the cause of reform as being the will of God.

Simon de Montfort, Earl of Leicester, was of French extraction and education, but in an age when the English upper class talked French in its familiar intercourse, that did not prevent him from becoming an Englishman at heart. He was one of those commanding natures, like Cromwell or Chatham, who cannot play the second part, whom to accuse of ambition seems almost irrelevant Like many such men he was not overscrupulous But he too learnt to identify his cause with his country's, and the country felt it and knew it. He derived his broader conception of patriotism not a little from his long friendship with Grossetête, Bishop of Lincoln, [DIED 1253.] one of the noblest, wisest and most learned men of that remarkable century, who for many years stood out as the critic of royal and papal misrule in England. Simon was Grossetête's friend and successor, as Cromwell was Hampden's, and who shall say

[3] *E.g*, from a political song of the time of Lewes —'Nam Rex omnis regitur legibus quas legit. / Rex Saul repellitur, quia leges fregit.'

whether the forerunner would have approved all had he lived?

The party that Simon led in his last two years was indeed remarkably like the Cromwellian both in its strength and its weakness Democrats before an age of democracy, they were in an impossible position, and could not themselves have effected any settlement But their action dictated the future, at least negatively. Lewes, won like Naseby with prayer, psalm-singing and cold steel, was, like Naseby, a fact that could never be obliterated The restoration of Henry III was no more a return to the old despotism than was the restoration of Charles II. In each case restoration was adopted as the only possible way to obtain government by consent

But there were also differences More of what Cromwell valued perished with him than in the case of de Montfort. It is no paradox to say that this was partly because Oliver had greater success than Simon as a ruler of the land. The Cromwellian rule was protracted by force for a dozen years, so that in the end the popular reaction against everything associated with it was much stronger. Simon's rule lasted hardly more than a year, and in fact he was never able to impose order on the North and West. And so it was Simon, dying for freedom on the field of Evesham, who became the beloved martyr in popular imagination—a part which Cromwell made over to Charles I.

There was a further reason why Simon's work profited by his death, he had made an intellectual conquest of his greatest enemy, the victor of Evesham. Henry III's son and heir Edward 'was one of those people whom revolutions teach.' He had learnt that the King must reign under and through the law, and that the Crown opposed to the nation was less strong than the Crown in Parliament.

What then was Parliament? The name 'Parliamentum'—'talking shop' as Carlyle translated it, 'parley' or 'discussion' as it might more fairly be rendered—was first applied in Henry III's reign to the purely feudal assemblies of tenants-in-chief sitting with the other members of the King's Curia.

The name 'Parliament' as yet carried no idea of election or representation, nor did it necessarily imply a legislative or tax-voting assembly It was simply the King's Curia or Council, that elusive Proteus, in the largest and most majestic of its forms, when Barons and King's servants met together to 'talk,' to debate high politics foreign and domestic, to discuss petitions, grievances, ways and means, and new forms of writ, and to conduct State Trials. It was not more legislative than administrative, not more financial than judicial Having 'talked,' it acted, for it was an epitome of all the powers in the State. But the method of selecting its members had not yet been defined.

In the course of Henry III's reign it became an occasional but not an invariable practice to summon to this great assembly two or more knights elected in each Shire Court to represent the county. This was not to create a new assembly, or to 'originate Parliament', it was merely to call up some new people to the plenary session of the old *curia regis* Neither was it a party move either of the King or of his opponents, both sides felt that it was best to know what the 'bachelors' were thinking. It was a natural evolution, so natural as scarcely to attract notice. For two generations past, knights elected in the Shire Court had transacted local business with the King's judges and officers [4] It seemed but a small step to summon them collectively to meet the King among his judges and officers at some central point. Moreover representatives from individual shires and boroughs had long been in the habit of attending the King's Curia to transact the business of their community To us, with our knowledge of all that was to come, the step of summoning them collectively and officially may seem immense. But in the mediæval world the representation of communities was a normal way of getting business done, and its application to the central assembly of the realm was too natural to cause remark When the wind sows the acorn the forester takes little heed.

Then and for long afterwards the summons to Parlia-

[4] See p. 223, above.

ment was often regarded as a burden, grudgingly borne for the public good, much as the companion duty of serving on a jury is still regarded to-day Communities, particularly boroughs, often neglected to send their representatives; and even the elected knights of the shire sometimes absconded to avoid service. Doubtless it was galling, when you looked round the Shire Court to congratulate the new member ironically on his expensive and dangerous honour, to find that he had slipped quietly on his horse and ridden for sanctuary, leaving the court to choose you in his stead! 'The elective franchise' was not yet a privilege or a 'right of man.' In Edward III's reign, the borough of distant Torrington in Devon obtained by petition the 'franchise' of not being required to send members to Parliament; for the payment of members' expenses then fell on the communities that sent them up.

Nevertheless the presence of the knights of the shire strengthened the authority and aided the counsels of the Parliament of magnates The Government found it convenient and advantageous to enforce the presence of the 'communities' or 'commons' of the realm through their representatives. And so in the year of revolution after Lewes, Simon de Montfort summoned not only the knights of the shire, but for the first time two representatives from each of the chartered boroughs [1265.] He probably knew that the burghers would be of his faction, and he was the first of our rulers to perceive that the general position of a party government could be strengthened by calling representatives of all the communities together and talking to them. It was a form of 'propaganda,' over and above any financial or judicial use that was made of the Assembly. We learn from the writs that the burghers were summoned, but we do not know how many came, or what, if anything, they did. That particular Parliament was a revolutionary assembly to which only those Barons were summoned who were of Simon's party, but it set a precedent for the summoning of burghers which was imitated in the more regular Parliaments of Edward the First.

The English Parliament had no one man for its maker,

neither Simon nor even Edward. No man made it, for it grew. It was the natural outcome, through long centuries, of the common sense and the good nature of the English people, who have usually preferred committees to dictators, elections to street fighting, and 'talking-shops' to revolutionary tribunals.

BOOKS FOR FURTHER READING Kate Norgate, *John Lackland*, F M Powicke, *The Loss of Normandy*, McKechnie, *Magna Carta*, Lives of *Simon de Montfort* by Creighton, Charles Bémont and G. W. Prothero. Also see p 206, above.

CHAPTER FOUR

The Corporate Sense of the Middle Ages. The Universities The Friars. The Jews. The Common Law and Lawyers. Parliament under the Edwards. The House of Commons. The Justices of the Peace

KINGS. Edward I, 1272–1307, Edward II, 1307–27

In the Middle Ages men thought and acted corporately. The status of every man was fixed by his place in some *community—manor*, borough, guild, learned University or convent The villein and the monk scarcely existed in the eye of the law except through the lord of the manor and the Abbot of the monastery. As a human being, or as an English subject, no man had 'rights' either to employment or to the vote, or indeed to anything very much beyond a little Christian charity The unit of mediæval society was neither the nation nor the individual but something between the two,—the corporation.

By thus strictly formulating on the group principle the relation of every man to his fellows, civilization emerged out of the Dark Ages into the mediæval twilight Only in the later age of the Renaissance and Reformation, after the emancipation of the villeins had shattered the economic system on which the feudal world rested, was it possible to take another step forward towards personal free-

dom. Then indeed many of the mediæval corporations went down before the omnipotent State on the one hand and the self-assertive individual on the other. The monasteries and orders of friars disappeared from England, and the town corporations and guilds saw their more important functions divided between the individual and the State. But some mediæval institutions survived unimpaired. The secular clergy, the lawyers and the Universities adapted themselves to the service of the new nation, and the 'House of Commons,' where the 'commons' or 'communities' of the Realm were represented, became the chief organ of the national life.[1] Such has been the priceless legacy to England of the mediæval genius for corporate action.

In this chapter we are concerned with the rise of four great institutions, of which three have survived and one perished in England—the Universities, the orders of friars, the lawyers incorporated in the Inns of Court, and Parliament, more especially the House of Commons. The monastic and the feudal systems had arisen in the struggle against barbarism during the Dark Ages, but these newer institutions were the ripe fruit of mediæval society at its culminating point.

Universities, like Parliaments, were an invention of the Middle Ages, unknown to the wisdom of the ancients Socrates gave no diplomas or degrees, and would have subjected any disciple who demanded one to a disconcerting catechism on the nature of true knowledge Philosophy and science rose in the Hellenic world to a point far above any regained in the Middle Ages. But ancient learning and wisdom were never organized in Universities. Partly for this reason they decayed, and fell before the attack of the regimented Christian priesthood.

After that, during the long centuries when the Church

[1] Originally the House of 'Commons' represented, not as to-day statistical aggregations of individual voters, but certain definite communities—the City of London, the Shire of York—somewhat as the United States Senate represents the separate States.

supposed that all necessary knowledge was a simple matter, and the world agreed with her, no need was felt for any organization of learning outside the occasional efforts of monastic cloisters and Cathedral chapters But the Twelfth Century saw a Renaissance of learning and thought, partly owing to the contacts set up by the Crusades, partly to the automatic increase of mental activity in a richer and safer Europe. The study of Civil and Canon Law, of classical Latin, of philosophy based on Aristotle, of mathematics and medicine based on Arabic numerals and treatises, seemed to require a new corporate life of their own

The zeal for learning, like the contemporary zeal for the Crusades, was compounded of many diverse elements—pure fire of the spirit, professional ambition, greed for benefices, curiosity high and low, love of adventure and of travel. Like the Crusades, the impulse was international, leading men to desert their own country and wander over Alps and seas. Out of this intellectual ferment over the face of Europe, the Universities suddenly arose, first in Italy, then in almost all the lands of Christendom. Such was the genius of the Middle Ages for giving corporate life to an idea Even when each land had set up its own Universities, the more famous centres of learning still had 'nations' of foreign students in their midst, for, so long as all educated persons talked and wrote in Latin, learning remained cosmopolitan in spirit.

The mediæval as distinct from the modern University was 'built of men' alone, not of stone and mortar, of colleges, laboratories and libraries, of endowments from capitalists and grants from the State. Nor was it burdened with overmuch examining or too many regulations It would have been the freest of all human societies had it not been for the control of the Church over heresy, which drove the keenest speculative abilities into narrow and arbitrary channels.

Just because the original Universities were not dependent on endowments or buildings, they were able to propagate their species all over Europe in the Twelfth and Thirteenth Centuries with amazing rapidity, without wait-

ing for the patronage of wealth Thus it was that, owing to trouble between Henry II and the King of France, the English students at the University of Paris lightly migrated to their native island and founded a University at Oxford. It was a convenient spot, easy of access to all Southern and Western England, with houses where the scholars could lodge half a dozen in a room, taverns where they could sit drinking, arguing, singing and quarrelling, churches which could be borrowed for University functions, rooms where the Masters could lecture, each with some precious volume open before him, while the students on the floor took notes and applauded or hissed him like a rowdy audience at the theatre

[1209] So too, it was probably an enforced migration from Oxford, the result of town and gown feuds of the murderous kind then usual, that gave birth to the rival University. Cambridge was a meeting-place of waterways and Roman roads convenient for the North and East of England Both Oxford and Cambridge were each just over fifty miles from London, which had no University of its own until the Nineteenth Century. Wales went to Oxford, and Scotland to Paris and Padua, until at the beginning of the Fifteenth Century the Scots set up a University of their own at St Andrews

The early Universities were neither assisted nor corrupted by great endowments, nor by the presence, as in later times, of 'the noblest youth of the land' Mediæval Oxford and Cambridge belonged to the poor, in the sense that the upper classes made relatively little use of them. The knights and Barons thought themselves above University education But the villeins, bound to the soil of the manor, were below it The actual students were for the most part the cleverest sons of yeomen, retainers, and citizens When, abandoning their fathers' farms and crafts, they took minor orders as the first step in the pursuit of knowledge, they became indeed 'poor clerks' and 'poor scholars,' the chartered beggars of learning.

For such men the University was the way to professional honour. It was almost the only path to high promotion in

the Church for those who were not of noble family And all who aspired to rise by their wits to be civil servants, secretaries of great men, physicians, architects or ecclesiastical lawyers, must needs take holy orders and pass through the University. The first profession to be laicized was the Common Law bar and bench, in the course of the Thirteenth Century. Yet even they were largely recruited from men who had once been at Oxford and Cambridge, in such minor orders as gave no indelible character of 'clergy.'

When, therefore, we imagine what the first English undergraduates were like, we must think of them as nearly all 'clerks' of a sort, protected by the shadow of Becket from the King's courts and hangman, but by no means of a type in which we should recognize the characteristics of a modern 'clergyman' Any time before the Fifteenth Century, the typical student was a poor, clever lad of lower middle-class origin, coming up to Oxford or Cambridge at fourteen and staying probably till he was twenty-one or more, subjected all the while to slight discipline either of school or 'college' character His morals have been depicted by the author of the *Miller's Tale* and the *Reeve's Tale* and by many others of less note, though Chaucer has also given us a nobler type in the Scholar of the *Prologue* The songs of the student, Latin rhymes common to all the Universities of Europe and known as 'goliardic' verses, boast his resolution to 'die in a tavern,' and meanwhile to enjoy all the sweets of a vagabond life, now on the road, now in the city They have small savour of any religion save that of Bacchus, Venus, and the heathen hierarchy as pictured by Ovid. Yet many of the students were pious, and all were devoted, at least in theory, to learning

The atmosphere was that of the *Quartier Latin* rather than that of the later Oxford and Cambridge of the collegiate life, half aristocratic and half respectable The mediæval student was neither When Simon de Montfort raised his banner, the Oxford undergraduates flocked off in ragged regiments to fight for the cause of freedom, in

the same mood as the undisciplined students of France, Italy and Germany fought on the barricades of 1848. In Simon's day it was still possible for youth to be the sectary at once of learning, licence, liberty and religion, and to feel no contradiction.

A sound and generous instinct has led people in modern times to compare themselves unfavourably with the 'poor clerks' of mediæval Universities who faced the direst poverty in pursuit of knowledge. But there was another side to the picture. Boys of fourteen sent, with little or no money and no advice or protection, to fend for themselves in a scene of riot, of debauchery, and frequently of murder, among practised extortioners who lived by cheating the 'silly scholars,' might often get as much harm as good from academic life.

When, therefore, the first Colleges were started, towards the end of the Thirteenth Century,[2] originally to provide food and maintenance for scholars to be placed 'on the foundation' of the College, it was soon perceived that the protection and control of the boys were hardly less valuable than the financial assistance afforded them. Careful English parents became more and more anxious to put their sons into one or other of these arks of safety, an increasing number of undergraduates who were not scholars 'on the foundation' sought and obtained a place in the envied life of the Colleges. The number, wealth and importance of these institutions increased generation after generation to meet a natural demand, characteristic of the English craving for the comfort and security of a settled 'home.' From the Fifteenth Century onwards an additional motive in the endowment of Colleges was to preserve the youth from the influences of Lollardry, Popery, Puritanism, Arminianism and similar evils of each passing age. Where

[2] Balliol, Oxford, 1261–66, and Merton, Oxford, 1263. Peterhouse, Cambridge, 1284. The numbers of mediæval Oxford students were probably always below 3000, and at Cambridge they were still smaller. There has often been gross exaggeration of this as of other mediæval figures.

a fold and shepherds were provided, the wolf could less easily prowl

It is a mistake to suppose that Colleges were always peculiar to Oxford and Cambridge Italian Universities had many Colleges or endowed residences for students, which have since disappeared with a very few exceptions. At Paris University upwards of fifty Colleges were founded between 1180 and 1500 But they never attained to the size, wealth and importance eventually reached by the corresponding institutions in England They withered away and failed to preserve their property, and what was left of them finally disappeared in the French Revolution. The English Colleges grew in wealth and numbers until in Stuart times they had devoured their mother the University

The chief study of mediæval Universities was a peculiar school of logic, much needed to reconcile Aristotle with the unchallengeable doctrines of the Church, a feat which St. Thomas Aquinas accomplished to the general satisfaction. A promising revival during the Twelfth Century of classical Latin on its literary side, took feeble root in the new Universities and withered away. The time for the poets, orators and historians of Greece and Rome was not yet True vision of the ancient world, especially that of Hellas, only came with the second Renaissance in the Fifteenth Century When it came, it gave the spiritual death-blow to the whole mediæval system, for men saw, or thought they saw, far back in time, something more wise, more noble and more free than the world of their own experience The early doctors and students had no such disturbing vision

Physical science did not get far in theological swaddling-clothes, the genius of friar Roger Bacon of Oxford shone like a star in the night, but with only scientific weapons he was, as Newton would have been in the Thirteenth Century, a powerless and unpopular victim of the prejudices of his age. Wycliffe, being a master of scholastic reasoning, was far more formidable a century later in his influence upon the minds of men

The great work of mediæval logic and scholasticism was to train and subtilize the crude intellect of Europe. The intellectual progress of the Middle Ages is to be measured not by results in original thought, which was under an interdict, or at least in strict confinement, but by the skill with which men learned to handle their philosophic material. Though much of the subject-matter of their disputes seems to us as vain and nugatory as the much-debated problem 'how many angels can stand on the point of a needle,' the debt we owe to these ancient choppers of logic is none the less great for being strictly inestimable[3]

Another great social change in Thirteenth Century England, besides the growth of the Universities, was the coming of the friars. We cannot indeed say of England, as was said with more plausibility of the continent, that the orders of St Dominic and St. Francis saved the tottering Church In the England of Henry III the Church as an institution was safe enough. There was much ignorance, neglect and practical heathenism, but there was no heresy and little anti-clerical feeling. There was nothing comparable to the Albigensian, Waldensian and other continental movements which were persecuted with ruthless and wholesale cruelty by the Inquisition, largely under the inspiration of the friars of St. Dominic The Dominicans flourished in England, but as yet there were no heretics for the 'hounds of God' to hunt It was the gentle Francis-

[3] Mr Pearsall Smith, in his excellent work on the *English Language*, p 187, says 'If we were to study the history of almost any of the great terms of ancient or mediæval philosophy, . . . we should be able to observe the effect of the drifting down, into the popular consciousness, of the definitions of high and abstract thought We should find that many of our commonest notions and most obvious distinctions were by no means as simple and self-evident as we think them now, but were the result of severe intellectual struggles carried on through hundreds of years, and that some of the words we put to the most trivial uses are tools fashioned long ago by old philosophers, theologians and lawyers, and sharpened on the whetstone of each other's brains.'

cans and their Umbrian evangel that most completely and rapidly won the hearts of the English after their landing in 1224.

Nor can the friars be said to have saved the Papal power in England. It is indeed remarkable that the anti-Papal feeling first grew strong over here in those very years of Henry III's reign when the friars were obtaining their greatest hold over the people. The two movements were not antagonistic. Grossetête took a leading part in both, and the commission which the friars held from the Pope did not prevent them from giving reign to their democratic sympathies and joining with the party of Simon de Montfort, which though religious and orthodox was openly at feud with the Roman court.

But if in England the friars cannot be said to have saved either the Papacy or the Church, they gave to religion a new spirit and new methods. The earliest Franciscans, themselves converts from the class of gentry, made a great religious revival among the poor, comparable in more ways than one to the Puritan, Wesleyan and Salvation Army movements. In the spirit of their founder, they sought out the poorest, the most neglected, the diseased, especially in the slums of the larger towns, insufficiently provided for by the parish system.

The secret of the friars' propaganda was preaching, in words which the common people could feel and understand. Parish priests were then seldom competent to preach, while the higher clergy had their heads full of matters of Church and State, and the monks abode in their convents or rode about on mundane business and pleasure. Before the coming of the friars, religion relied too exclusively on the sacraments she dispensed, nor were they always at hand for those who needed them. The friars not only made the sacraments more available, but erected preaching and religious instruction into a popular system. It was the destined method of the Lollards and Protestants in later times. By enhancing the importance of the pulpit the friars prepared the way for those who were to replace and destroy them, for they brought re-

ligion to the common people, endeavouring to make it intelligible to their minds and influential over their lives.

The monastic movement from the Fourth to the Twelfth Century had been the desperate resource of pious men in ages of decadence or of barbarism, to save their own souls and to make a garden of God in the midst of the world's wilderness. The garden had often served as a useful model for the cultivation of the wilderness, but the wall between the two had always been maintained But now the friars, in a somewhat more hopeful and better ordered world than that which had generated many successive orders of monks, regarded the world itself as God's garden. They went down into the market-place and the slum to wrestle for the souls of men and women The monk remained, theoretically at least, shut up in his cloister, when he wandered abroad, as he frequently did, he was more often than not breaking rules to escape the monotony of a life to which he had no real vocation But it was the duty of the friar to walk from town to town, nursing the sick, preaching, and hearing confessions The monk was supported by the income of broad acres and sheep-runs, but the friar was to live on the alms he received from door to door.

In theory, indeed, the friar might hold no property. But, contrary to the original intentions of St Francis, his disciples acquired not only priories but libraries and great churches of their own As their popularity increased, the ideals of their founder were forgotten or explained away with mediæval subtlety, until those who still stood by his tenets of evangelical poverty were persecuted inside his own order Learning, which he had deprecated as a snare to the purity of the evangelical mission, was taken up with splendid results by the Grey Friars of Oxford University, under the patronage and guidance of Bishop Grossetête. His friend Adam de Marsh and Roger Bacon himself were among the earlier Oxford Franciscans; and in a later generation came Duns Scotus and William of Ockham Philosophy, physical science and medicine owed much to the English followers of St. Francis.

As with all such movements, the true apostolic spirit gradually sank into its embers, while the institution survived In the Fourteenth Century the English friars, Franciscan and Dominican, were two powerful corporations with a host of enemies The secular clergy in whose parishes the friars poached, carrying off their flocks and their fees under their very faces, hated the friars scarcely less bitterly than did the Wycliffite reformers, who saw in Franciscan and Dominican their chief popular rivals, men of the world like Chaucer laughed at the hypocritical devices of 'brothers' who made gain out of popular superstition while pretending to observe rules of evangelical poverty, and the pious and orthodox Gower could write of the friars: 'Incest, flattery and hypocrisy and pandering to vices, these are the qualities have raised their minsters, their steeples and their cloisters.'

But even at the end of the Fourteenth Century the friars still had a strong popular following, to die in a friar's dress was still held by many to be a passport to heaven During the Fifteenth Century, though they saw their Lollard enemies crushed, their own influence was declining. When the storm of the Reformation broke they were almost without friends The secular clergy had always regarded them as interlopers and rivals. And when Henry VIII set out to destroy the Papal power, the disbandment of the friars was an essential part of the policy, for they were the Pope's special protégés and servants.

The coming of the friars was the last great wave of the flood of foreign influence that had been washing over England ever since the Norman Conquest After that the waters recede, leaving a rich sediment, while the wind shifts and blows from inland woods In the Edwardian and later Plantagenet period, England, instead of perpetually receiving, gives out of her own plenty. She becomes profuse in the creation of native forms Her own law and Parliament develop under the First Edward, her own language and literature arise under the Third, and with Chaucer comes also Wycliffe and the beginning of the

distinctive English contribution to religion. Meanwhile the English yeomen conquer France with the island weapon, and the archer enshrines himself in the general imagination of a woodland people of sporting instincts, fun and good-nature, as that exclusively English figure of the jolly outlaw and radical—Robin Hood.[4]

All this was accompanied and aided by the growth of English liberty in the emancipation of the villeins, and the increase of English wealth in the substitution of the manufactured cloth trade for the export of raw wool. At the same time, English finance and money-lending passed into English hands in the course of the Fourteenth and Fifteenth Centuries, the way for that development was prepared by Edward I's expulsion of the Jews.

The Jews, like so many other foreigners, had come into England in the wake of the Conqueror. Saxon England had been so primitive as to require few money-lenders. But the Norman and Angevin kings, like other continental princes, employed the Jews to supply them with ready cash in anticipation of revenue. The Jews throve on money-lending for interest, a practice forbidden by the Church, which Christian traders, having no gold to lend, were fain to abandon with a curse to the infidels who had it. The Jews were the King's sponges. They sucked up his subjects'

[4] Robin Hood, originally a woodland elf of infinite antiquity, was a 'good yeoman' in his greatest days towards the close of the Middle Ages. He only became vulgarized as a disguised Earl of Huntingdon late in the Sixteenth Century. His story, as it is known to us to-day, dates from late Plantagenet to early Tudor times. The King with whom the early ballads connected him was not Richard I, but an Edward, probably the First. Robin's feats with the long-bow (see p. 280, below) and his animosity against rich Churchmen bespeak a period subsequent to the Thirteenth Century, and his 'friar' Tuck has had time to acclimatize himself to the island atmosphere. Maid Marian, who seems to have had an earlier existence on her own account, did not join Robin's troupe before 1500, yet the fully developed idea of her is as distinctively English as any part of the legend. Perhaps she owes most to Peacock in the Nineteenth Century!

money by putting their own out on usury, and were protected from the rage of their debtors solely by the strong arm of the King, who in his turn drew what he wanted from their ever-accumulating wealth. They stood to the King as the villein to his lord, all they had was, theoretically, his. His 'exchequer of the Jews' aided them to collect their debts. They were utterly at his mercy, for he was their only friend in a hostile land. Their unpopularity was twofold, for were they not the arch-creditors when no one else had money to lend on usury, and the arch-infidels when everyone else, of course, believed?

Their operations in England, besides their dealings with the King, consisted very largely in lending money to the baronage and the warrior class. They supplied the sinews of war and government, but not yet of commerce and industry, for the day of commercial capitalism was still in the future.

Some of the English Jews became very rich, like Aaron of Lincoln in the reign of Henry II, who had the honour of a special department of the Exchequer, '*Scaccarium Aaronis*,' to wind up his affairs. In the towns of wealthy East Anglia, the stone houses of the Jews, not easily broken open, stood as rivals to the stone castle and the stone church among the mud and timber hovels of the poorer Christians. But whenever the King drew in his protecting arm, horrible pogroms put an end at once to the Jews and their tell-tale parchments.

[1290.] In Edward I's reign this unhappy system came to its cruel end. Edward, perhaps, was only acting up to the best lights of his time, in driving the Jews out of the island. The expulsion was praised as an act of self-sacrifice on his part, and was of course intensely popular. It was a feasible policy because the time had come when it was just possible for a King and his nobles to get money elsewhere, from 'usurious' Christians. At first the money-lending business in England passed largely into the hands of the Flemings and Italians, like the great Florentine firms of Bardi and Peruzzi, from whom Edward III borrowed. Then English capitalists gradually became more impor-

tant Merchants like William de la Pole of Hull, the first commercial founder of an English noble family, and Richard Whittington, Mayor of London and hero of the cat-myth, became money-lenders to the King and baronage, financing the Hundred Years' War and the Wars of the Roses Edward IV lived on intimate terms with the great London citizens, not only because he liked their wives but because he borrowed their money When, therefore, under the Tudors the age of commercial capitalism slowly dawned, high finance was in native hands

When the Jews returned to England in the Stuart and Hanoverian era, they found the English in control of their own money-market and of the other intellectual professions. And by that time the new Bible-reading culture of the English had diminished the religious hatred against the Chosen People. For these reasons the relation of the Jews to the English was renewed under happier auspices than even now prevail in lands where the natives have not had the wit or the opportunity to contract the habit of managing their own affairs

Edward I [1272–1307] has been called 'the English Justinian,' in reference to the Emperor [527–65] who carried through the codification of old Roman law on the eve of its decline. It has indeed been said that to compare the English law of Edward's time with the Roman law of Justinian is to compare childhood to second childhood But Edward at least resembled his prototype in being a royal definer of things legal He did not, it is true, perpetrate anything so definite as a code, which is unsuited alike to the childhood of a nation and to the plastic genius of English law But he gave closer definition to our land law, our public law and our Parliament Under him the institutions of the mediæval State, hitherto fluid, began to take form Henceforth the distinction between Parliament and Council is, for practical purposes, clear

The first eighteen years of Edward I saw the beginning of our Statute Law Surrounded by great lawyers, native and foreign, the legal-minded King, in the prime of his

magnificent manhood, passed Statute after Statute through his Parliaments, with a legislative vigour comparable, according to Maitland, only to that of the Whigs in the first few years after the Reform Bill.

These Statutes are a new phenomenon, for they alter the very substance of the law. Hitherto there has always been 'law,' Anglo-Danish in origin, traditional, customary, unwritten, much of it local, most of it obsolete, and there has been feudal law, also customary, more recently there has been 'case law,' made by pronouncements of famous royal judges, and commented on in professional treatises like those of Glanvill and Bracton, there have been public treaties, like the Constitutions of Clarendon and Magna Carta, purporting only to restate and re-enforce the law, though perhaps in fact enlarging it; there have been royal Assizes or ordinances altering legal procedure, substituting for instance trial by jury for trial by battle. But now under Edward I we get for the first time 'laws' undoubtedly competent to alter 'law' itself—with the exception of an undefined residuum of 'fundamental law,' for neither King nor Parliament are as yet 'omnicompetent'.[5]

In these first Statutes of the Realm, especially *De Donis Conditionalibus* and *Quia Emptores,* feudal law was restated with alterations, in such fashion as to become the starting point of our modern land law. Indeed the two great Statutes of Edward I remained so long the basis of our law of real property that a knowledge of them has remained necessary for English lawyers up till our own day.

[5] 'The vigorous legislation' of Edward I 'has an important consequence in checking the growth of unenacted law.' Maitland, *Const. Hist.,* p. 21. While there was still no Statute Law the law courts had been more free to mould the law than they ever were again; *e.g.,* from the Eleventh to the Thirteenth Century it had lain with the King and his Judges to decide whether murderers and felons should be blinded or otherwise mutilated, or hanged. William I had decided for mutilation, the Judges of the Thirteenth Century for death. But in later times the list of capital offences is settled by Parliamentary Statute, in obedience to which the Judge must put on the black cap.

De Donis [1275] originated the practice of entailing estates, which for so many centuries wrought widespread mischief in rural England *Quia Emptores* was passed by Edward I and his tenants-in-chief to preserve to themselves the full value of their feudal dues by preventing subinfeudation But in fact this only hastened the decay of feudalism. For when the tenants-in-chief wished to dispose of land, they had in future to make the purchaser become a tenant-in-chief like themselves This caused a great multiplication of persons holding land direct from the King, and a consequent levelling of classes and a further disintegration of the feudal spirit.[6] Before long a man was more proud of being summoned to Parliament than of being one of the innumerable tenants-in-chief And the King had more prestige as head of the executive and as the holder of Parliament than as the supposed universal landlord From a feudal society we were becoming a Parliamentary nation

Edward defined the land law, and the process of defining the law courts was always going forward, not least in his reign In the course of the Thirteenth and Fourteenth Centuries, the Exchequer, Common Pleas, and King's Bench, one after the other, became distinct courts, each with its own records, procedure, permanent officers and judges. The rise of the Court of Chancery was later and more peculiar[7]

From the time of Edward I onwards the courts of Common Law, as distinguished from the Court of Chancery and the Church courts, were manned by persons not in holy orders The Pope had for some time past taken objection to the service and teaching of the secular law by the priest-

[6] *Quia Emptores* allowed land to be freely sold, but the purchaser must hold it as the vassal of the King or of the lord from whom the vendor held it, and not as the vassal of the vendor himself Scottish law continued to permit subinfeudation—one reason why Scotland remained more feudal than England.

[7] See note, pp 266–67, at end of this chapter.

hood. The King's judges were ceasing as a rule to be ecclesiastics like Bracton, or warrior-statesmen like Glanvill. The normal movement of legal promotion in England was no longer from outside, but from bar to bench, whereas in many countries of Europe to this day judge and pleader belong to two distinct and mutually exclusive professions. In the professional atmosphere of the King's courts in Westminster Hall, where English law was perpetually on the anvil red-hot, the corporate sense of the Middle Ages was forming pleaders and judges into a single self-conscious society. Jealous of outsiders, rivals to the ecclesiastical lawyers, 'learned brothers' to one another, makers and guardians of a great intellectual and moral tradition, acquiring too all the faults and all the unpopularity of a powerful and highly organized profession, they were not a close 'noblesse of the robe,' but offered to any Englishman of brains and industry a ladder to wealth and greatness as attractive as the Church herself.

The common lawyers were, as a class, the first learned laymen, and as such were of great importance to the growth of the nation. Their place in English history is only a little lower than that of the Parliament men. Without the lawyers neither the Reformation nor the victory of Parliament over the Stuarts would ever have been accomplished. Yet their tradition and their society are a highly characteristic product of the Middle Ages, closely comparable to the Universities.

And as the English Universities developed Colleges, so the English lawyers built their Inns of Court. During the reigns of the first three Edwards they grouped their halls, libraries and dwelling places in and around the deserted groves of the Templars. Their place of public performance lay two miles further westward, in the shadow of the royal residence, where they were royally accommodated in Westminster Hall, the magnificent excrescence which William Rufus had added to the Confessor's Palace, as it were in rivalry to the Abbey. But the lawyers slept, dined and studied in their own Inns of Court, half-way between the commercial capital at London and the political capital at

Westminster, a geographic position that helped the English lawyer to discover his true political function as mediator between Crown and people [8]

In the reign of Edward I the famous Year Books begin. They were unofficial verbatim reports of legal proceedings, taken down in court in the French tongue, which was then spoken by the upper classes and therefore by the lawyers in their pleadings. There was no such full reporting in any other country or in any other sphere of English life, political or ecclesiastical, for centuries to come All that is of professional and much that is of purely human interest is recorded word for word as it was uttered, 'the shifting argument, the retort, the quip, the expletive.' These reports, carried on for generation after generation, stood in the place of the Code of Justinian or the Decretals as the authority and inspiration of the great students who, in apostolic succession through the ages, built up English law

Proud of his courts of law, and jealous of any baronial franchises more extensive than the usual manor court, Edward I instituted a formal enquiry, known as the *Quo Warranto* inquest [1278–79], into the origin of the higher private jurisdictions, demanding to see a charter where in many cases there was only the prescriptive right of immemorial custom The attempt was premature, seeking to achieve by a bold stroke of political authority what could more safely be left to the invisible action of time The story goes, with somewhat doubtful authenticity, that in answer to the questions of the Justices, the Earl Warenne drew his old, rusty sword and told them that he held his land and franchises by that charter King Edward did not press the issue, for he had seen enough of Barons' wars in his youth. But the *Quo Warranto* inquest at least put a stop to recent or future encroachments on the sphere of the King's tribunals, and the preference felt by suitors for royal justice gradually brought private courts to an end. When, during the Wars of the Roses [1455–85], anarchy

[8] In the latter part of Queen Victoria's reign the Law Courts themselves were moved from Westminster to the neighbourhood of the Inns of Court at Temple Bar.

raised its head for the last time, the great lords no longer claimed extensive jurisdictions of their own, but were content to employ their retainers to overawe judge and jury in the King's courts.

England's characteristic institution, Parliament, was not devised on the sudden to perpetuate a revolution in which one power rose and another fell It grew up gradually as a convenient means of smoothing out differences and adjusting common action between powers who respected one another—King, Church, Barons, and certain classes of the common people such as burgesses and knights. No one respected the villeins and they had no part in Parliament. Knowing that Parliament was hostile, 'labour,' as soon as it began to be self-conscious, preferred 'direct action' like the rising of 1381 But, setting the villeins aside, Parliament represented a friendly balance of power The English people have always been distinguished for the 'Committee sense,' their desire to sit round and talk till an agreement or compromise is reached This national peculiarity was the true origin of the English Parliament

It was during the reigns of the first three Edwards that Parliament gradually acquired something like its present form After his experiences in the time of de Montfort, Edward I saw in frequent national assemblies the best oil for the machinery of government His object was not to limit the royal power or to subject it to the will of the commonalty His object was to make the royal power more efficient by keeping it in constant touch with the life of the governed. And like Henry VIII, the only other monarch in our annals who did as much to increase the prestige of Parliament, he knew the value of the support of the middle classes in shire and town

Edward I, therefore, decided to continue and popularize the experiment that had occasionally been made during his father's turbulent reign, of summoning representatives of the counties and boroughs to attend the great conferences of the magnates of the realm He wanted, for one thing, to collect certain taxes more easily. The difficult as-

sessments could not be well made without the willing help and special knowledge of the local knights and burgesses. Their representatives would return from the presence of King and assembled magnates, each to his own community, awestruck yet self-important, filled with a new sense of national unity and national needs In that mood they would help to arrange the assessments locally, and facilitate payment And they would explain the King's policy to their neighbours, who had no other means of information.

When there were no newspapers and few letters, and when travel was difficult and dangerous, the King's rigid insistence on the perpetual coming and going of ever fresh troops of knights and burghers between Westminster and their own communities began the continuous political education of Englishmen, and perhaps did more to create the unity of the nation than Chaucer or the Hundred Years' War. Nor, without such a machinery for the easy levy of taxes, could the great Scottish and French wars of the Edwardian period have been fought It has been said that it was not England who made her Parliament, but Parliament that made England, and there is an element of truth in the epigram

Financial need was not the only reason why the King summoned the representatives of town and shire Indeed Edward I sometimes called them together on occasions when he asked for no money at all For he had another end in view, to gather together the petitions and grievances of his subjects, so as to be able to govern in accordance with real local needs, and to keep a check on the misdeeds of local officials. Thus a large part of the business of these early Parliaments consisted in receiving piles of petitions for redress, mostly from private persons or single communities, but increasingly as the Fourteenth Century went on, from the House of Commons as a whole. In the reign of Edward I these petitions were directed, not to Parliament, but to the King or Council They were dealt with in Parliament either by the King, by his ministers, or by committees of councillors, judges and Barons, known as 'Triers.' The redress afforded to the petitioners in these

eaily tmes may now be regarded as either judicial, legislative oi administiative, the distinction was not then made. But, as tme went on, while many of the private petitions weie refeiied to judicial processes in the Chanceiy Court oi elsewhere, the moie important class emanating from the Commons' House as a whole began in the ieign of Heniy VI to take the foim of 'bills' to be passed into law by Parliament Such was the oiigin of the iight of the House of Commons to initiate legislation

But we must not speak of 'Houses' of Pailiament as eaily as the reign of Edwaid I There was then but one assembly, presided over by the King from his thione, or by his Chancellor from the woolsack, the iest of the chief officers of State weie present *ex officio*, together with the Barons, lay and spiritual, summoned each by special writ, there were also piesent, humbly in the background, the iepiesentative knights and buighеis summoned thiough the sheiiff of each shire, not likely to speak unless they weie fiist spoken to in such a piesence This was the 'High Couit of Parliament,' which is still visible to the eye in the modern House of Loids with its throne and woolsack, although the Chancellor alone of the King's Ministers can now attend *ex officio* even if he is not a peer, and although the throne is now occupied only when Pailiament is opened oi proiogued Then, when the Commons flock to the bai to hear the King's words, we have the original Plantagenet Pailiament reassembled

In the reign of Edward I the iepiesentatives of the Commons were not yet a separate House And though they often attended the sessions of the Pailiament one and indivisible, their presence there was not essential foi much of the important business tiansacted by the magnates. Their consent to legislation was not always asked The gieat Statutes for which the reign was famous weie some of them, like *Quia Emptores*, passed when no representatives of the Commons were in attendance And it is piobable that if knights and buigesses were present at all when high matters of foieign and domestic policy weie debated by the

Ministers, Barons and Prelates, it was but as audience.'

The House of Commons as a separate Ch nated in unofficial meetings of the knights ar discussing anxiously behind closed doors what ply they should give to some difficult questio with which they had been confronted by the ers. They were so careful to leave no repc proceedings that we know nothing of the inte ment of the early House of Commons. We know how and when the Speaker became i For the Speaker was originally the person . 'speak' for the Commons in full Parliamen knights and burgesses being silent in presence ters. But until Stuart times the Speaker was the Crown much more than a servant of th early as the reign of Edward III we find some household officers sitting as knights of the shi sibly to direct the debates and decisions of t Commons in the interest of the Crown, as Priv continued to do with very great effect in Tu was also in the reign of Edward III that the Cl of the monks of Westminster came to be reg customary meeting place of the Commons.

The most important fact in the early history c tions is that the English Parliament, unlike a semblies of the same period in Europe, d during the later Plantagenet reigns, not into of clergy, nobles and bourgeois, but into tw Lords and Commons. The greater part of our and social history is in some sense either caus that unique arrangement.

In the continental system of 'Estates,' all th as we should call them, were represented in the '*noblesse*' But the '*noblesse*,' in the large the word bears on the continent, was in the E ment divided in two The *barones majores*, ea by special writ, sat in the upper house.

minores, even though tenants-in-chief, shared with knights, gentry and 'franklins' the liability to be elected as knights of the shire Thus the forms of English Parliamentary life abolished the distinctions of feudalism. Even a tenant-in-chief might be found sitting and working with the burghers of the towns.

This strange and significant arrangement of the Fourteenth Century English Parliaments was rendered possible by earlier developments which we have already noticed The active part taken by the smaller gentry in shire business had often brought them in contact with the burghers as well as with the humbler rural freeholders.[9] The English rule of primogeniture, which sent the cadets of a noble family out into the world, had given the inhabitants of castle and manor-house a friendly interest in trade and commerce. The inter-marriage of classes and the constant intercommunication of the upper and middling ranks of society were already much more marked in England than elsewhere. Ages long ago, before the battles of Bannockburn or Crecy, the House of Commons already reflected these English peculiarities Already the knights of the shire, a semi-feudal class, were acting as elected representatives of the rural yeomen, and were sitting cheek by jowl with the citizens of the boroughs. That is why the House of Commons was able to assert its importance at a very early date, when burghers and yeomen had small political prestige unless they were acting in association with knights. That also is why the English Civil War of Stuart times was not a class war, and why the English of Burke's time could not understand what in the world the French Revolution was about.

Neither was any Estate or House of the Clergy formed

[9] See p 223, above. The members of the Lower House, including the burghers, were all summoned through the sheriff, not by special writs directed to individual towns. This made a connection between burgher and knight—they were both *in a sense representatives of the shire, in its* rural and urban aspect respectively. The sheriff and the shire had played so great a part in royal government that the arrangement seemed natural to all.

as part of the English Parliament Not only did the spirituality refrain from drawing together as a separate clerical 'Estate' in Parliament, but they voluntarily abandoned all their seats among the Commons and many of their seats among the Lords.

In the Upper House, indeed, the Bishops and certain of the greater Abbots continued to sit in their secular capacity as holders of baronies in a feudal assembly Moreover some of the Bishops were royal ministers and civil servants. But the Prelates who were churchmen first and foremost took little stock in Parliament The majority of the Abbots and Priors, wrapped up in local monastic interests, disliking the trouble and expense of long journeys, and feeling more bound in duty to the Pope than to the King, would not be at the pains to attend They fell out of the national life and abandoned their places in Parliament, with results that became apparent in the Parliamentary Statute Book of Henry VIII [10]

So, too, the representatives of lower clergy did not become a permanent part of the House of Commons, and gradually ceased to attend Parliament at all. The business of voting the 'fifteenths' and 'tenths' of clerical property to the King was conducted instead in the Convocations of Canterbury and York Those assemblies were and are ecclesiastical, not political They were in no sense an Estate of Parliament like the French Clerical Estate which figures in the original session of the *États Généraux* of 1789. The English clergy, on the principle that the things of Cæsar and the things of God were best kept apart, deliberately stepped aside from the political life and growth of the nation in the later Middle Ages But since they also preserved their great and envied wealth and many ancient privileges, which came to be regarded as abuses in a changed world, their position was one of isolation, peculiarly exposed to attack when the Reformation began.

[10] The number of Abbots and Priors attending Parliament declined from about 70 in the reign of Edward I to about 27 under Edward III and his successors.

From humble beginnings in the reign of Edward I the House of Commons attained in the next hundred and fifty years to a great place in the constitution The consent of its members became necessary for all making of Statutes and for all extraordinary taxation, their own petitions very frequently received the assent of the King in Parliament, and even the highest acts of State like the deposition and election of Kings took place with the Commons as parties to the deed. Their constitutional power when the Wars of the Roses broke out was indeed more apparent than real, for the strongest forces in politics were Crown, Barons and Church, not Commons But their recorded position in the public law of the country supplied invaluable precedents for the assumption of real power by the Lower House after the Tudor monarchs had clipped the wings of Church and baronage

If in later Plantagenet times the Commons increased in real power much, and in nominal power more, the reason is not far to seek They were a third party, holding the balance, and courted by the principals in the warfare of State The constant struggle between King and Barons under the three Edwards, the equally constant struggle between the great families around the throne in the days of the House of Lancaster, put the Commons almost into the place of umpire. They were well fitted to take advantage of the position, because their interests were not wholly bound up with either Barons or King

Edward I had probably looked to the Commons to support him against the baronage But the townsfolk, too, had their own griefs against the King It was his habit, when in need of instant supply for Gascony or Scotland, to seize a larger share of the exports of wool than was warranted by the 'customs' These 'maltoltes' or 'ill takings' of wool were declared illegal, after the burghers, on a famous occasion, had joined the opposition of the Barons and clergy, who were suffering from grievances of their own with regard to the King's hasty demands [1297]

[1307] Nevertheless, when Edward I died he was on the way to make himself absolute master of England and

of Scotland both. He had in the last years of his life gone far to break the baronial opposition at home, and to tread out the embers of the fire that Wallace had kindled and that Bruce was trying to fan. An able successor might have destroyed constitutional liberty in England and national liberty in Scotland. Parliament might have become, not an opposition or a critic to be conciliated, but a useful cog in the machine of royal government—as no doubt Edward himself regarded it. The reign of his innocent-minded but lazy and incapable son, Edward II [1307–27], saved the situation. It is not good to have an unbroken succession of great rulers like Henry II, Edward I, or the Tudors. John, Edward II, and the Stuarts had their appointed place in the destiny of Britain.

The lax rule of two people of such unbusinesslike and artistic temperaments as young Edward II and his friend Piers Gaveston, presented the Barons with another chance. Gaveston was by no means the first nor the worst 'upstart,' nor the most alien 'foreigner' who had risen to the head of affairs in England, but he had no prudence, for he gave nicknames to the leading Barons. In return, some of them took his life by treachery [1312]. Edward II and Gaveston were perhaps as unfit to govern England as Charles I and Buckingham. But the leaders of the baronial opposition, especially Earl Thomas of Lancaster, were stupid, selfish and brutal men, swollen with the pride of birth. The King's next favourite, Despenser, was not an 'upstart' like Gaveston, but he developed into a tyrant. And yet the struggle between such unpromising opponents worked out to the advantage of the nation. The machinery of administration was improved, not by subjecting it to the clumsy control of the Barons, but by certain bureaucratic reforms. And the powers of Parliament were much increased, for on several great occasions it was called upon, now by Edward II, and now by the baronial opposition, to regularize their alternate victories by vote and Statute. In this new prestige of Parliament the Commons had their share.

The net result of the baronial tumults—they can scarcely be called baronial wars—during the reign of this unhappy

King was not to increase the power either of Crown or of baronage. Throughout the Middle Ages the Barons were never able, in spite of repeated efforts, to dominate the King's counsels on any regular plan, though they held that on feudal principles he ought always to be guided by their noble advice, instead of by the advice of trained clerks and civil servants whose only qualification was that of understanding the King's business The Barons failed to establish their claim to govern, because government means steady application, which a Baron could seldom give His castles, his hunting, his estates, his retainers, his habits of life, his manors scattered over half the counties of England, very properly took up his time He could not be the King's responsible Minister or attend at the regular sessions of the Council, because he had other duties and other pleasures.

A second reason why the Barons failed to control the government except in moments of revolution was that the King's Court and household were too large and complicated to be easily subjected to control. If one office--say the Chancery with its Great Seal—was secured by the baronial opposition, the King could dive underground and still govern the country through the Wardrobe with its Privy Seal. The King's Court was plastic and adaptable in its organization, yet highly specialized as a civil service, full of trained and able men who went on quietly governing, while far over their heads fools or scoundrels like Gaveston and Thomas of Lancaster, Despenser and Mortimer, ranted and killed each other for the benefit of posterity and the Elizabethan dramatists Meanwhile peaceful stone manor-houses could rise in quiet corners of the land, the export of wool could increase, the population could go up, all classes could grow less poor and less ill-fed, because all the while the King's Peace was indifferently well enforced.

In the reign of Edward III an addition was made to the State machinery, significant of much Keepers or Justices of the Peace were set up in every county to help the central power to govern. Like the Coroners before them, they were not bureaucrats but independent country gentlemen. As typical of the rising class of knights and smaller gentry,

the Justices of the Peace took over more and more of the work previously done by that great man the Sheriff, or by the Judges on circuit The 'J P.'s' seemed to strike root in the shire and grow as a native plant, equally popular with their neighbors and with the King's Council, between whom it was their task to interpret For four hundred years their powers continued to increase, both in variety of function and in personal authority, till in the Eighteenth Century they were in a sense more powerful than the central government itself This would not have happened if they had not responded to the needs and character of the English over a long period of time According to Maitland, the respect in which the English hold the law was generated not a little by this system of 'amateur justice ' For the magistrate who expounded and enforced the law for ordinary people in ordinary cases may not have known much law, but he knew his neighbours and was known of them

BOOKS FOR FURTHER READING· See p 206, above Also Rashdall, *The Universities of Europe*, Haskins, *The Rise of the Universities* (Holt, New York), Reginald Poole, *Illustrations of the History of Mediæval Thought*, Jessopp, *The Coming of the Friars*, Sabatier, *Life of St Francis*, A L Smith, *Church and State in the Middle Ages*, Tout, *Edward I*, and *Place of Ed II in Eng History*, Maitland, *Year Books of Edward II*, Introd (Selden Soc), and *Memoranda de Parl*, 1305 (Rolls Series), Introd ; Pasquet, *Essay on the Origins of the House of Commons* (translated, 1925, Cam. Press), M. V Clarke, *Mediaeval Representation and Consent*

NOTE ON THE COURT OF CHANCERY From the time of Edward I's friend Robert Burnell, if not before, the Lord Chancellor was the chief officer of the Realm, for his office, in charge of the King's Great Seal, was necessarily as much in touch with all departments of State as the Treasury in our own day Until the Reformation, the Chancellor was frequently an ecclesiastic as well as a lawyer In the course of the Fourteenth and Fifteenth Centuries, his Chancery Court became a definite tribunal where equitable remedies were provided for unforeseen abuses in the working of the courts of Common Law. His court, on behalf of the King's Council, answered petitions of the aggrieved subject in a judicial manner Since Parliament now prevented the King from altering procedure or calling up cases by the issue of

unauthorized writs, and since the Common Law was rapidly becoming a law unto itself, a rigid system independent of the King's volition—this equitable and correctional jurisdiction of the Chancellor was invaluable to the King as a method by which he could turn the flank of the common lawyers and of the Parliament men But no strong objection was taken, because the relief it often afforded to individual subjects was so great Before the accession of the Tudors the Chancery Court had become a recognized part of the Constitution, and was destined to survive later royal expedients for supplementing the Common Law, such as the Court of Star Chamber

In the Fifteenth Century, Chancery had been a method of appeal to common-sense from the technicalities of the other law courts Four centuries later, in the days of Eldon and Charles Dickens, it had become the slave of its own technicalities, and the subject's remedy lay rather in the modern habit of frequent remedial legislation by Parliament.

CHAPTER FIVE

Celt and Saxon Attempts to Complete the Island Empire Causes of Failure in the Middle Ages Ireland, Wales, Scotland

The England of the later Middle Ages, the most highly organized of the larger States of Europe, lay alongside of Wales and Ireland, each a congeries of Celtic tribes, and abutted on Scotland, a poor and thinly inhabited Kingdom, racially divided between Celt and Saxon, but already becoming Anglo-Norman in language and institutions In such circumstances it was inevitable that attempts should be made to round off the island empire on the basis of conquest by England [1]

The Romans in Britain had been faced by precisely the same geographic problem Their good genius prompted them to leave Ireland alone, they tried repeatedly and vainly to conquer Scotland, but they quickly subdued Wales by their system of military roads and forts, without,

[1] I use the word Celtic in this chapter, as elsewhere, to designate the mixture of Celtic and earlier 'Iberian' races.

however, inducing the mountaineers to adopt the Latinized civilization of the plains Mediæval England had much the same measure of success as Roman Britain More slowly indeed than the legions, English feudal chivalry with its network of castles made a military conquest of Wales, but the full adjustment of Welsh to Saxon civilization was left over till Tudor and Hanoverian times, the attempt to subdue Scotland was a complete failure, while beyond St. George's Channel, England effected not a conquest, but a lodgment in mediæval Ireland, and hung on like a hound that has its fangs in the side of the stag.

A main reason why the mediæval English failed in Scotland and Ireland, and never reduced even Wales to good order, is to be sought in their continental entanglements Till the loss of Normandy in John's reign, the energies of the Norman and Angevin Kings of England had been occupied in the recovery or defence of provinces in France. The only time that the Plantagenet Kings were able to devote the best part of their thoughts and resources to purely British problems was during the century that followed the final loss of Normandy and preceded the outbreak of the Hundred Years' War. [1214–1337.] During that period there was only one great King, Edward I, and in his reign, as we should expect, the power of mediæval England in Wales, Ireland and Scotland reached its high-water mark After his death, the incapacity of Edward II, and the preoccupation of all later Kings before the Tudors with the extravagant attempt to conquer France or with resultant civil troubles at home, destroyed English rule in all Scotland and in nearly all Ireland, and weakened it even in Wales.

When we last looked towards Ireland it was in the heaviest midnight of the Dark Ages, when the light of learning sparkled in that distant corner of the world, casting back gleams on the opaque ignorance of Scotland and England, Germany and France [2] The saints, artists and learned men of Irish monasticism shone by their individual merits and were free from the bondage of organization Institution-

[2] See pp 81–82, above

alism was as abhorrent to the early Irish Church as to the tribal system from which it sprang It followed that the Irish clergy never helped, as the Saxon clergy had done, to organize their race in a united Church and a single State When the zeal and inspiration of the early saints died away, they left nothing behind but memories, and Ireland was little less dark and distracted than she had been before.

Even the suzerainty formerly exercised over the other chiefs by the 'High Kings' at Tara had become in the Eleventh Century a mere title. The career of Brian Boru, King of Cashel in Munster, the racial hero against the Viking invaders, did not permanently strengthen the 'High Kingship' or unite the Celts But the victory of Clontarf [1014.] on his death's day saved Ireland from the Norsemen and confined the Danes to the towns they had founded such as Dublin, Waterford and Limerick Town life and trade had no attraction for the native. Cattle-feeding and cattle-lifting, tribal war and family feud, minstrelsy and a little agriculture still occupied the time and thoughts of the Celtic tribes, as of many other tribes all the world over for many thousand years in times gone by. It is a matter of opinion whether or not these simple folk were better employed than the new restless Europe with its Crusades and Hildebrandine movements, its stone castles and cathedrals, its feudalism, its charters, its trade-routes and all the stir of modernity But for good or for evil the time had gone by when a European race could, with impunity, remain primitive To eschew defensive armour, castles and feudalism in the days of Strongbow was as dangerous as to eschew machine guns and the industrial revolution in our own

The Irish, therefore, were regarded as savages, almost outside the pale of Papal Christendom It is true that in the first half of the Twelfth Century St Malachy and other Irishmen began a movement for Church reform The excessive number of Irish Bishops was reduced, in order to enhance the episcopal authority, a gallant attempt was made to rekindle the religious zeal of the laity, to enforce the payment of tithe, and approximate the Church a little

to the Roman model. But it was the armed invaders from England who gave full power to the influences which in the end attached Ireland irrevocably to Rome. The reforming Church party in Ireland was willing, in the absence of any strong national feeling, to welcome and abet Strongbow and the English. Adrian IV, the only English Pope in history, had commissioned Henry II to conquer the island if he liked, as the best means of bringing it into the Roman fold.

[1169–71.] Henry II was too busy on the continent to take up the Irish question himself. The conquest was, however, begun in his reign by private adventurers from Wales, led by Richard de Clare, Earl of Pembroke, nicknamed Strongbow. His partners in this last of the Norman conquests were not pure Normans, nor pure Anglo-Normans. Many of them, like the famous Fitzgeralds, were sons of Welsh mothers. They were a special border breed, these 'Marcher Lords', and their soldiers were many of them Welsh or Flemings. Perhaps the Celtic element in the blood and experience of these first 'English' conquerors of Ireland helped their descendants to mingle only too easily with the native Irish and adapt their own feudal institutions to the tribalism of the Celtic world beyond the Dublin 'pale'. Possibly pure Normans or Anglo-Normans might have stamped more of their own character and institutions on this land, as they did on so many others.

But no Norman intruders in England, Sicily or Scotland ever showed themselves superior in warlike efficiency to the followers of Strongbow. His chain-clad knights were supported by archers, whose skill was then the speciality not of England but of Wales. The unarmoured infantry of the Irish tribes, fighting with the Danish battle-axe and hurling stones and javelins, were helpless against the best archers and some of the best cavalry in Europe. The only refuge of the natives was the marshes, woods and mountains of their roadless and unreclaimed island. They knew all the arts of guerrilla war, using felled trees and earthworks to block the narrow passages through forest and bog. But the opposition to the invaders was not truly national. They found

many allies both among tribesmen and churchmen. Dermot, who had invited over Strongbow, was not in his own lifetime universally execrated as the traitor that he appeared in the distant retrospect.

Castle-building was the cement of Anglo-Norman rule in Ireland, as in the sister island. Here, too, the Celt was at a great disadvantage, for the only resistance behind permanent fortifications which the invaders had to encounter was in the port-towns of the Danes. But since the battle of Clontarf, the Danes in Ireland had become peaceful traders instead of warrior Vikings, and moreover they were few in number. Their towns were easily captured, and were transformed at a stroke from Scandinavian to English. The citizens of Bristol were given the right to inhabit Dublin. Dublin Castle, first erected by the Vikings, became the centre of Saxon rule in Ireland from the Twelfth to the Twentieth Century.

The Danes were massacred or returned to Scandinavia, making way for the conquerors, who henceforward held in these port-towns the keys of entry into the island. Celtic town life did not yet exist. Even towns like Galway in the far west were of Anglo-Norman origin. Only towards the end of the Middle Ages, the English inhabitants of the towns outside the Dublin pale gradually adopted the speech of the surrounding population with whom they bartered, and became by intermarriage and otherwise scarcely less Irish than English.

At the time of Strongbow's conquest and for long afterwards, national feeling did not exist, and foreign rule would have been accepted on its merits. All that was then necessary to put the races on a friendly understanding was strong and just government. But throughout the Middle Ages the government was neither strong nor just. Henry II, the father of rebellious sons, and the embarrassed ruler over half of western Christendom, had perforce to limit the liabilities which Strongbow had created for him, for he had neither time, money, nor men to establish his own rule in the island, in anything more than name. Yet, while he could not afford to keep up an effective royal government, he

dared not let Strongbow or any of the feudal leaders obtain Viceregal authority. The adventurers therefore continued to prey on the natives, and to carve out baronies for themselves, fighting for their own hands without either proper support or proper control from the English King. For more than a century the Conquest went forward, slowly enlarging its boundaries westward, meeting no determined resistance from the natives, but divided and uncertain in its own purpose, and bringing in its train neither justice nor even a strong tyranny

In these circumstances there grew up that three-fold division of the island which, with continual variation of boundary, held good throughout the rest of the Middle Ages There was the 'Pale' round Dublin, where English law was administered as in an English shire. Far in the west lay the purely Celtic chiefs and tribes, threatened but still untouched by the invasion And between these two Irelands, and intermingled with them both, lay the areas of mixed rule, the baronies where the descendants of the great adventurers bore sway from their castles over the native population But their Norman-Welsh feudalism was gradually transformed into something very like the Celtic tribalism which it was intended to replace. If, long afterwards, with all the differences of religion, the descendants of so many of Cromwell's soldiers were quickly absorbed into the Celtic atmosphere around them, it is no wonder that the same evolution took place in the case of the Anglo-Irish Barons. Throughout the greater part of the island English rule had been built upon the foundation of an Irish bog

In the reign of Edward I, the greater attention paid at that period to insular affairs enabled Ireland to enjoy a brief spell of prosperity, especially in Leinster and Meath where the English interest was strongest Villages sprang up and agriculture spread under the protecting shadow of the castles Trading towns like Dublin, Waterford and Cork pushed their commerce oversea

Then came one of those rapid wrong turnings, so habitual in Irish history. Edward I's attempt to conquer Scotland

led to reprisals under his feeble son Immediately after Bannockburn the Scots under the Bruce brothers broke into Ireland through Ulster, where in all ages they have had strong connections. [1315–18] The delicate prosperity of the new Ireland was destroyed with fire and sword, and the English influence never recovered for two centuries. The invasion of the Bruces was rather the occasion than the cause of the collapse. At bottom it was due to the character and power of the Anglo-Irish baronage, ever less distinguishable from the Celtic chiefs, and ever enlarging the boundaries of their rule at the expense of the genuinely English colony.

The Pale grew narrower both in space and in spirit The English settlers and officials, increasingly conscious that they were a garrison in an alien land, cooped up and hard beset, drew in upon their own company and their own ideals of life They came to regard almost everyone and everything outside the Pale ditch as belonging not to the 'English' but the 'Irish' interest The distinction set the tone to a policy that for centuries was fruitful of mischief The colonists drew ever more rigidly the line between the two races, and proscribed native law, language and custom, so far as their little power extended in pre-Tudor times

The Hundred Years' War with France distracted England's attention yet further from the overseas possession where her real duty lay In the interval between the two parts of that long struggle, Richard II came with an army to Ireland. Then he fell, and no English King set foot in Ireland again until William of Orange. The utter neglect of Ireland by the rival Houses of Lancaster and York completed the relapse to Celtic tribalism outside the Pale, and, in spite of the efforts of one section of the colonists, Irish language and custom spread among the English of the Pale itself The native civilization had indeed profited by the conquerors whom it had absorbed Town life had been started, most of the towns founded by Danes and English had become, in part at least, Irish-speaking, while the Anglo-Irish nobility presided over a native world that gave

EMERY WALKER LTD SC.

Map 11 Ireland towards the close of the Middle Ages

in the Fifteenth Century signs of a rude social prosperity of its own.

But the bare presence of England in Ireland prevented any project of national unity from being pursued on native lines The scant footing maintained by the English in and around Dublin, and the acknowledged claims of the English King as overlord, sufficed to prevent the union of the country under one of the Anglo-Irish Barons It is true that in the last half of the Fifteenth Century there was a movement towards the government of the island in the name of the King by Deputies chosen from one of the great Anglo-Irish families, particularly the Fitzgeralds, Earls of Kildare. But events in the reign of Henry VII showed that this arrangement, whatever its effect upon the internal condition of Ireland, was incompatible with the safety of the King of England, whose dynastic enemies used the Fitzgeralds and

the credulous Irish people as allies of Yorkist intrigues and for armed invasion of England on behalf of pretenders like Lambert Simnel [1487] 'Aristocratic Home Rule' therefore proved a failure, since a free Ireland was employed to attack and disturb her great neighbour. 'Poynings' law' put a term to the experiment, by decreeing the complete dependence of the Irish Parliament on the English executive [1494] The attempted solution had failed, but the actual reconquest of Ireland was not undertaken till the following century

England had proved too weak to conquer and govern Ireland, but strong enough to prevent her from learning to govern herself. It is significant that the island which had once been the lamp to Europe's ignorance was almost alone of European countries in having no University when the Middle Ages came to an end It was a sorry heritage overseas which the mediæval English handed on to the English of the Reformation. They had neglected Ireland for centuries when a forward and active policy might have saved the situation, when the policy of real conquest was adopted under the Tudors it was in an age too late, an age of religious cleavage, commercial competition and national self-consciousness all in their crudest form

The relation of the Celt to his neighbour has proved more happy in Britain than in Ireland. And again we must look to mediæval history to see why.

[SEE MAP 4] In the latter stages of the Anglo-Saxon conquest, the remaining territories of the Cymri or Welsh had been cut by the English advance into three separated parts —Strathclyde in the north, Wales in the centre, and the Devonian-Cornish peninsula in the south Their collective power of racial resistance was greatly reduced by their geographic isolation from one another, which was rendered complete by their enemies' command of the sea from the Isle of Man, the Vikings' centre of operations, and from the great port-towns of Chester and Bristol Before the Norman Conquest, Scandinavian settlers had already given a thoroughly Nordic character to the Lake District and North

Lancashire,[3] while Devon had been so far colonized by the Saxons of Wessex that it has ever since been regarded as an integral and characteristic part of the life of England. Cornwall remained as a pocket of Celtic race and language, but too small and isolated to give trouble on that score. Conquered in Anglo-Saxon times and closely annexed to the English Crown, it was subjected to Norman feudalism as Domesday Book records, and subsequently to mediæval English law. But it spoke a Celtic tongue of its own until Stuart times, and it preserves a regional and Celtic character in its population to this day.

The larger problem of Wales remained. The wide extent of its mountain area had brought the Saxon Conquest to a halt behind Offa's Dyke But the mountains which kept back the English prevented the union of the Welsh In Edward the Confessor's reign, Harold made headway westward, and secured the alliance of some of the Celtic tribes ever at feud with one another, thus opening a road to further advance under the Normans

From William the Conqueror till the accession of Edward I the most successful efforts to subdue Wales were made, not by the Kings of England, but by the 'Marcher Lords' and their private armies, men of the type of Strongbow and the Fitzgeralds. In blood a mixture of Norman, English and Welsh, they represented feudal government and English economic penetration rather than the English monarchy. At one time there were reckoned to be 143 Lords Marcher, and wherever a Marcher Lord carved out for himself an estate with the sword, he built a castle and proceeded to exact feudal dues from the inhabitants, and to enforce in his own court feudal law, English law or fragments of Welsh tribal custom. Under his protection English-speaking colonists,—military, farming and trading,—settled on the land he ruled. He was in reality a petty sovereign, representing the intrusion of a new race and a more elaborate civilization.

The Anglo-Norman invasion conquered the lowlands and

[3] See note, p 67, above.

penetrated up the valley bottoms, because the valleys were the only gates of entry into the roadless mountains, and because they contained the arable land. But as the valleys themselves were frequently choked up with forest and marsh, the process was slow. The English had to play the part of pioneer farmers, as well as of warriors ever on the alert.

Before the coming of the Anglo-Normans, the Welsh had been a pastoral rather than an agricultural people. They did not inhabit towns, villages or even houses, but lived in huts of boughs which they twisted together for a few months' occupation, as they followed their flocks and herds from winter to summer ground upon the mountain side. But whenever these simple tribesmen saw their valley dominated by a Norman castle of timber or stone, with a feudal court and an English-speaking agricultural village attached, one part of them fled higher into the neighbouring hills in pursuit of freedom. Others remained below as vassals of the new lord, but were often at heart faithful to the tribal chief exiled onto the neighbouring mountains, whence he was perpetually returning in destructive raids upon the vale.

To imagine such a situation in fifty different valleys is to get some idea of the chaos that Wales must have presented in the Twelfth Century. Tribalism and feudalism were struggling for the land. And mountain barriers separated district from district, increasing the tendency inherent in both tribalism and feudalism to divide political authority into fragments. In the hills tribe fought against tribe, and in the valleys Baron fought against Baron, while every baronial valley was at war with its tribal hills.

Yet civilization was advancing, however slow and however bloody the process. Time was on the side of the invaders, who were near to their own bases and were perpetually recruited by sea and land, unlike the forlorn hope of Anglo-Norman civilization, derelict among the bogs of Ireland. Ships from the great ports of Bristol and Chester commanded all the valley mouths of Wales that ran into the sea, while, inland, the upper valley of the Severn gave

The Principality (shaded) as delimited by Edward I, is in two parts, Gwynedd, and Cardigan-Carmarthen
All except the Principality and the English border counties may be regarded as normally Marcher Lordships
Names of some of the chief Marcher Lords in brackets thus - (Bohun)

Map 12 Mediæval Wales

the invaders an easy route from Shrewsbury into the heart of the country, enabling them to overrun Powys and cut off Gwynedd in the North from Dinefawr in the South. Pembroke was planted from the sea by so many industrious English and Flemings that it lost the use of the Celtic tongue and became known as 'little England beyond Wales' But even at the height of their power the Lords Marcher were never able to subdue the Gwynedd district centred round the impenetrable fastnesses of Snowdon.

The Lords Marcher represented a type of government more backward than that of England but more advanced than that of tribal Wales Bohun, Mortimer and the other Marcher families were an element of disturbance in the English polity, because they were accustomed to fighting and feudalism while the nobles and gentry of England proper were becoming accustomed to peace and centralized government. But to the tribal Celts the civilization forcibly imported by the Marcher Lords meant progress. All through the Middle Ages the native Welsh, in imitation of their English lords and neighbours, were slowly taking to agriculture, erecting permanent houses, trading in market-towns built and maintained by English-speaking folk, and learning, though slowly, to cease from the tribal blood feud and to accept the English law Yet they preserved their own tongue, which it was their boast should answer for Wales at the Day of Judgment, and they continued to elaborate their own bardic poetry and music, destined in our own day to save Welsh intellect and idealism from perishing in the swamp of modern cosmopolitan vulgarity [4]

The warfare that went on for so many centuries both before and after the Edwardian conquest, resembled all warfare of civilized armies against hill tribes. Giraldus, the Welshman, has described how his countrymen would rush down with terrifying shouts and blowing of long war horns, to fling themselves, with indiscriminate valour, a half-naked infantry, against ironclad horsemen. If they were not at once successful their courage ebbed, and they would fly in disgraceful panic But they as quickly recovered, and carried on long and stern guerrilla warfare, rendered doubly formidable by the character of their wooded

[4] About 1200 A D Giraldus the Welshman wrote of his countrymen words which are equally true of them to-day. 'In their musical concerts they do not sing in unison like the inhabitants of other countries, but in many different parts; so that in a company of singers, which one very frequently meets with in Wales, you will hear as many different parts and voices as there are performers'

mountains, their own savage hardihood and their indifference to agriculture and the arts of peace. The English had put up no such resistance to the Norman Conquest. The invaders of Wales were indeed invincible when they could charge on level ground, but there was little level ground in Wales, and much of that was swamp Horses and armour are not easily taken up into steep hills covered by forest. The Anglo-Norman warriors had, therefore, to learn and borrow much from their despised antagonists.

Above all, the English borrowed from the Welsh the use of the long-bow. It was in the south-east corner of Wales, between the upper waters of the Wye and the Bristol Channel, that this famous weapon first emerged into local fame. As early as the reign of Henry II it had been known, in Welsh hands, to pin a knight's armoured thigh through his saddle to the horse's side Eighty years later there were Welsh archers with de Montfort at Lewes, but they still attracted less notice in England than the crossbowmen It was Edward I's experience in Welsh campaigning that determined him to adopt the long-bow as the special weapon of his infantry in his Scottish wars. It is true that in an Assize of Arms of Henry III's reign certain classes of English freemen had, for the first time, been required to possess bows of some sort. But it was the Welsh who taught Edward I and his subjects what a 'long-bow' really meant Not till the Fourteenth Century can it fairly be called the English national weapon, when it crossed the seas to affright the feudal chivalry of Europe at Crecy and Poitiers

In the early years of the Thirteenth Century a Welsh national revival took place It was displayed not only in a fresh effervescence of bardic poetry, but in a movement to unite all the tribes under the hegemony of the Llewelyn princes, who ruled over Gwynedd, among the fastnesses of Snowdon and in the rich grain-bearing island of Anglesey, sheltered behind that lofty barrier North Wales summoned all Wales to unite and be free Llewelyn the Great [1194–1240] reconquered much of Powys from the Marcher Lords. He was a prudent diplomatist as well as a great warrior, for while he called on his countrymen to

rally round him as the native Prince acclaimed by the Bards, he never forgot that he was also a great feudal magnate, owing allegiance to the Crown, and could as such play a part in English faction most helpful to his other rôle as Welsh patriot. By the judicious policy of joining the Barons' party in England, he secured for Welsh rights three clauses of John's Magna Carta.

His grandson Llewelyn ap Griffith [1246–83.] carried on the same double policy and allied himself with Simon de Montfort. He still further enlarged the area of his Welsh Principality at the expense of the ever divided and quarrelsome Lords Marcher, many of whom were forced to do him homage. At length he began to dream of complete separation from England. He went out of his way to defy Edward I, who was more than ready to take up the challenge That was the beginning of the end of Welsh independence.

[1277] In the greatest of Edward's numerous Welsh campaigns he surrounded the unapproachable Snowdon fastnesses by sea and land and starved Llewelyn and his mountaineers into surrender After another rebellion, provoked by harsh government regardless of Celtic laws and susceptibilities, another war resulted in another conquest and a better settlement [1282–84] Royal castles such as Conway, Carnarvon, Beaumaris and Harlech rose to make the King's authority in North Wales as secure as feudal authority in the centre and south Edward divided up Llewelyn's 'Principality' into shires on the English model,—Carnarvon, Anglesey, Merioneth, Flint, Cardigan and Carmarthen,—and soon afterwards gave to his infant son, Edward, born at Carnarvon, the title of 'Prince of Wales' But the 'Principality' was not yet a part of England, and all the rest of Wales remained to the Lords Marcher [5]

Edward I would fain have abolished the feudal independence of the Marcher Lords, by subjecting their jurisdictions to a strict *quo warranto* inquiry. But he had not the power to do it, and he had need of their co-operation

[5] The whole of Wales is now often called the 'Principality,' but in Edward's time the 'Principality' contained only these half-dozen counties.

to keep down the spirit of the Welsh, perpetually incited by Bards recounting the glories of the House of Llewelyn. Until the Tudor reforms, Wales remained divided between the feudal territories of the Lords Marcher on the one hand, and on the other the Celtic Principality, ostensibly governed by English law, but with a large allowance for tribal custom. In both districts English and Welsh were slowly learning to mix and to co-operate Civilization was creeping forward with the growth of towns, trade and agriculture.

Nevertheless, by any standard of English comparison, Wales in the Fourteenth and Fifteenth Centuries was a scene of tribal feud, baronial violence and official tyranny and extortion In the troubled times of Henry IV, Owen Glendower, reviving the policy of Llewelyn the Great, made play with the rivalries of English factions while appealing to the hopes and grievances of his race [1400-15] This wonderful man, an attractive and unique figure in a period of debased and selfish politics, actually revived for a few years the virtual independence of a great part of his country, at the cost of wars that proved utterly disastrous to the economic life of Wales, both in the Principality and in the Marches The Welsh and English districts, which were then found side by side in the same county and even in the same feudal manor, were again set by the ears, and the necessary amalgamation of the two races into the modern Welsh people was further delayed Even after the death of Glendower and the re-establishment of English rule, the King's Peace was but poorly enforced Between Celtic and feudal anarchy, Wales remained a paradise for the robber and the homicide, so long as the Crown was preoccupied with adventures in France and dynastic strife in England.

The disorders alike of the Principality and of the March lands preserved the military habits of the Welsh so long, that even after the Tudor pacification poets still regarded them as

An old and haughty nation, proud in arms.

They followed the military life not only at home but in the King's armies in Scotland and France, while in every English Civil War from Henry III to Charles I it was always found easier to recruit infantry among the poor of Wales than among the settled and peaceable English. The Wars of the Roses were to a large extent a quarrel among Marcher Lords. For the great Lords Marcher were closely related to the English throne, and had estates and political interests both in England and in the Welsh March. Harry Bolingbroke of Hereford and Lancaster was a great possessor of Welsh lands, as also were his rivals, the Mortimers. The House of York, Warwick the Kingmaker, and Richard III's Buckingham were all in one way or another connected with Wales and the Marches. Such men brought a fighting element into English constitutional and dynastic faction. Because mediæval England had left half done its task of conquering Wales for civilization, Welsh tribalism and feudalism revenged themselves by poisoning the Parliamentary life and disturbing the centralized government of its neglectful overlords. But when at length a Welsh army put a Welsh Tudor Prince upon the throne at Bosworth Field, Wales supplied a remedy to those ills in the English body politic which she had helped to create.

The history of Scotland presents yet another version of the contact of Saxon with Celt. Wales and Ireland were both eventually forced to submit to England's rule more completely and for a longer time than Scotland, yet they both remain to this day far more Celtic in character. The apparent paradox is explained if we remember that the wealthiest and most important districts inhabited by the Celt in Scotland had already adopted Anglo-Norman language and institutions before the struggle for national independence began in the time of Edward I. Resistance to England was not therefore identified with Celtic speech and tribal traditions, as in mediæval Ireland and Wales. The wars of the Edwards against Wallace and Bruce were a struggle between two kindred nations, each organized as a feudal monarchy. The analogy to Irish or Welsh me-

diæval history is to be found rather in England's conquest of the Highland tribes after Culloden

It had indeed seemed likely, in the Dark Ages, that Scotland would emerge as a Celtic Kingdom with a Saxon fringe along the lowlands of her eastern coast For the union of the Picts and Scots under the Scot, Kenneth Macalpine [844], had enabled them to impose a name and a dynasty on the land from the Celtic capital at Scone But history began to revolve in the other direction when Lothian, the part of Saxon Northumbria that lay to the north of Tweed and Cheviot, [SEE MAP 5] was detached from its southern connections and converted into an integral part of Scotland [6]

The change was a natural result of the dissolution of the Kingdom of Northumbria under the blows of the Viking invasions After many generations of warfare between Celt and Saxon in the heart of Scotland, Lothian was acknowledged, in the time of Canute, to be a possession of the Scottish Crown. [1018]

It was in the newly acquired territory of English-speaking Lothian, with its rich agricultural soil and its rock-fortress of Edinburgh, that the Scottish Kingship, which had been Celtic, tribal and North-Western in origin, became Anglo-Norman, feudal and South-Eastern by choice Led or driven by the monarchy, Strathclyde and Galloway, though very largely Celtic in race, eventually adopted English speech and feudal organization. We can only notice one or two of the more obvious stages in that long, complicated and obscure process of evolution

First, before the period of Anglo-Norman influence, came the period of purely English influence in the last half of the Eleventh Century Malcolm III [REIGNED 1057–93.], before he dethroned Macbeth, had spent his boyhood in exile in the England of Edward the Confessor The English proclivities of his education were enhanced in later life by his second marriage with the saintly and strong minded Margaret, sister of Edgar Atheling As Queen of

[6] See p 113, above

Map 13 Mediæval Scotland and North England

Scotland she did much to strengthen the English language and the Roman ecclesiastical system against Celtic tradition. Her pertinacious efforts, far from popular with the

tribes and priests of Celtic Scotland, were helped by the catastrophe that had befallen her own race and lineage in England after the battle of Hastings. The first result of Norman conquest down south was to drive over the Border troops of Saxon and Scandinavian exiles of all classes, from Margaret herself to the hinds of Yorkshire and Durham fleeing from the red wrath of William and his 'harrying of the North.' The Nordic element in Scotland, based on the Saxons of Lothian, was greatly strengthened by these refugees.

English influence prepared the way for Anglo-Norman penetration that followed hard on its heels David I [1124-53], a worthy son of Malcolm and Margaret, took advantage of the paralysis of England under Stephen to build Scotland anew in the form of a Norman feudal monarchy, and to appropriate as much as possible of the disputed territories in Cumberland, Northumberland and Durham His successes beyond Tweed and Cheviot were not permanent, and the Border between the two Kingdoms gradually took its present shape when England recovered her strength under the Plantagenets. But David's invasions of North England during the anarchy of Stephen had served to reveal how vain was the courage of the disorderly and savage clansmen of Scotland charging with their claymores, as compared to mail-clad feudal knights, whether of England or of Scotland. This had been demonstrated at the Battle of the Standard, near Northallerton. [1138] There is no wonder that the Scottish Kings embarked on a policy of change deliberately aimed at the extinction of tribalism and Celtic institutions.

Warriors of Norman or English race, like the Bruces and Balliols, were invited over the Border by King David, and given by him baronies in Scotland, to be held on terms of feudal service. There was no large displacement of existing proprietors, as in conquered England after Hastings, for this was Norman penetration, not Norman conquest. Estates of the Crown and unused lands, both very extensive, enabled David to create baronies for the new-comers without resorting to wholesale confiscation. But the Celtic tribal in

habitants, or the colonists of newly occupied waste land, found themselves placed in a strictly feudal relation to their Anglo-Norman overlords, who knew how to make their new-fangled claims respected Everywhere, as in contemporary England, rose the circular mound with the timber or stone tower on the top, whence the armoured cavalry ruled and judged the countryside

And beside the castle rose the parish church, for the country was divided under Anglo-Norman auspices into parishes on the English system The parish was often coterminous with the fief of the new lord Religion as well as government was territorialized, and St Columba's Church became a ghost and a memory, like the tribes to which it had ministered. King David and his nobility vied with each other in pious bequests and endowments of the feudal type The Twelfth and Thirteenth Centuries were the great age of ecclesiastical architecture in Scotland. Stately Cathedrals and Abbeys rose, destined to perish at the hands of English moss-troopers or Scottish reformers From the first the people resented the tithes and other novel burdens laid on them in David's reign for the benefit of an alien clergy. And ere long the attitude of the Barons to the Church became little more than a desire to secure the ecclesiastical endowments for their own families,—a desire gratified by many curious devices, such as warrior nobles masquerading as churchmen, until the Reformation introduced more direct methods

David and his immediate successor, William the Lion, reproduced many of the features of the English State with remarkable success. The Shire system and the King's justice were brought in gradually, though much limited by the franchises of the Barons Scottish 'burghs' received royal charters to elect their own magistrates, even more freely than the wealthier and more populous 'boroughs' of England.

The new Scotland was able to take shape and solidify, because she remained so long on tolerable terms with England During the century and a half before the era of the wars of independence, the nobles of Scotland served King

guage, nomenclature and institutions so successfully that these were the institutions for which Scots under Wallace and Bruce were prepared to die The world of Celtic tribalism passed away out of the Western Lowlands, making less armed resistance than we should expect, save in fierce Galloway, where things Celtic lived longest and died hardest With his formidable following of mail-clad feudal cavalry, the King could disregard those Celtic tribal chiefs who refused to become feudal lords The old order gradually shrank into the mountain area of the Northern Highlands, where tribal Scotland survived intact until 1746. South and east of the Highland Line men gradually adopted the names, manners and language of the new regime.

While these great changes were in process, Crown and baronage were still necessary to each other, and both were still necessary to the best interests of the youthful nation It was only when the war of independence against Edward I put that new-made nation to the test, that the Barons proved less responsive than the commons to the novel creed of patriotism, because feudalism is international, and their estates in England involved them in a dual allegiance And it was only after the Scottish monarchy had established itself in the hearts and habits of the people, that the baronage became its constant and most dangerous foe.

[1286.] The golden age of mediæval Scotland came to an end when Alexander III's horse carried him over a sea-cliff His surviving heir was his grand-daughter Margaret, 'the maid of Norway,' a girl who resided in Scandinavia during her brief reign By the Treaty of Brigham it was arranged that she should marry the first English 'Prince of Wales,' afterwards Edward II of England. [1290.] The peaceable union of the whole island was close in sight. The crowns of Scotland and of England would meet on one head, but the two countries would be administered as separate realms, much as afterwards took place when James VI of Scotland became James I of England But

from oversea. That very autumn the Maid of Norway died in the Orkneys on her voyage home.

The chance of a peaceful solution died with the Maid. Edward I, pressing the claims of ancient English Kings to be overlords of Scotland, asserted his right to act as arbitrator between the various claimants to the vacant throne, of whom the chief were John Balliol and Robert Bruce He decided in favour of Balliol, justly it would appear. But, not content with that, he treated Balliol as a puppet and Scotland as a subject land Balliol, goaded to desperation, renounced his allegiance to his oppressive overlord But he received little support from a divided and jealous baronage, and was easily deposed by Edward, who marched in triumph through the land, carried off the coronation stone from Scone to Westminster, and made himself direct King of Scotland [1296] The Ragman Roll contains the long list of the Scots nobles who did him homage.

All seemed finished All in fact was about to begin. Deserted by her nobles, Scotland discovered herself The governors whom Edward I left behind him were incapable and cruel, and the foreign soldiery made the Scots feel their subjection In the following May a guerrilla chief of genius, a tall man of iron strength, who suddenly appears on the page of history as if from nowhere, defeated at Stirling Bridge end an English army under its blundering feudal chief the Earl of Warenne, of *Quo Warranto* fame. [1297] Thence William Wallace broke ravaging into Northumberland and Cumberland

This unknown knight, with little but his great name to identify him in history, had lit a fire which nothing since has ever put out. Here, in Scotland, contemporaneously with the very similar doings in Switzerland, a new ideal and tradition of wonderful potency was brought into the world, it had no name then, but now we should call it democratic patriotism It was not the outcome of theory. The unconscious qualities of a people had given it reality in a sudden fit of rage Theories of nationhood and theories

of democracy would follow afterwards to justify or explain it Meanwhile, it stood up, a fact.

Edward I had thought that he was going to yoke Scotland to England through the ordinary feudal apparatus of the time. His mistake was very natural, for by the accepted standards of the day, his proceedings were less abnormal than Wallace's amazing appeal to the Scottish democracy to save the Scottish nation. Nowadays, indeed, we expect as a matter of course to find both national feeling and democratic instincts in every part of Europe. But in mediæval times things were very different Society was divided, not perpendicularly into nations; but horizontally into feudal strata And Edward I had the feudal magnates of Scotland mainly on his side. Anglo-Normans, owning estates in England as well as Scotland, were excusably lukewarm in their Scottish patriotism and anxious not to quarrel with England's King, from whom they held their English lands.

But the Scottish people had national feeling and democratic feeling, both hitherto unconscious and unexercised. Wallace called them into activity. The burghers and peasants, led by the lairds or small gentry of whom Wallace himself was one, defied the power of England and when necessary defied the power of their own Scottish nobles The 'schiltions,' thick masses of plebeian spearmen, standing shoulder to shoulder, withstood on many a field the onset of the armoured English knights and their horses, who had made short work of the Celtic clan charge in Wales and Ireland Here was a steadier spirit, and the discipline of a more settled civilization But on other occasions the Scottish schiltrons were broken by the irresistible combination of feudal chivalry with Welsh or English longbowmen, whose arrows prepared a passage for the horsemen through the ranks of death Falkirk, which put an end to the effective part of Wallace's career, was but the first of many English victories won by these tactics. [1298]

But to defeat the Scottish army now and again was not to conquer Scotland The common people were accustomed to the state of war, and every peasant was a warrior In

that at least Scotland resembled rough Wales rather than peaceful England The Scots were ready to fire their huts and lay waste their country in front of the invader rather than give in, and again and again they were called on to put this stern virtue into practice. Two things decided the long-doubtful issue in favour of Scottish independence. the personality of Robert Bruce, and after his death the distraction of Edward III with the Hundred Years' War in France

Robert Bruce, grandson of the claimant of 1290, had been brought up in no tradition of high-flown Scottish patriotism Both he and his father had adopted the trimming politics common among the nobility, he had changed sides more than once in the days of Wallace But he was betrayed into the path of duty and heroism by his own fiery temper. When once he had cut the throat of the Red Comyn in the church, he was a hunted outlaw, and had no choice but to throw himself on the patriotic section of the Scottish people, and revive the Wallace tradition. [1306] In that he found salvation for himself and his country. To the democratic traditions of Wallace were now added a much needed element of feudalism which Bruce and 'the good Sir James' Douglas could supply, and an element of true Kingship to be found in Bruce and in Bruce alone.

When the timely death of Edward I [1307.] left the Scots matched with Edward II, the desperate conditions of their struggle for freedom became more equal One by one the castles from which the English held down the land were captured and destroyed by those redoubtable men of war, Douglas and Bruce. The crowning victory of Bannockburn, in which the English failed properly to deploy their masses of cavalry or to use their archers to advantage, enabled the homely Scottish schiltrons to thrust the English baronage and knighthood at the spear's point into marsh and stream [1314.] Never before or after was there such a destruction of English chivalry. After that, the English carried off the main of their archers and men-

at-arms oversea to southern lands where the peasantry had no such spirit.

The Border warfare of England and Scotland during the centuries that followed Bannockburn went best for the Scots when they fought it with guerrilla tactics. Some rude rhymes known as 'good King Robert's testament' handed on the supposed advice of Bruce to his people to avoid the open field,—in spite of the great exception of Bannockburn,—and to sacrifice their homes and property again and again to foil the invader. The conditions were indeed unequal for the Scots, demanding in them a marvellous patience, for while they could only raid the comparatively barren lands of Northumberland, Cumberland and Durham, the English moss-troopers and armies again and again harried the richest parts of Scotland, lying as they did within two days' ride of the Cheviot Border.

Scottish independence was won at a heavy price, as most things worth having are won. For two centuries and a half after Bannockburn, Scotland remained a desperately poor, savage, bloodstained land of feudal anarchy, assassination, private war and public treason, with constant Border warfare against England, with a peculiarly corrupt Church, with no flourishing cities, no Parliament worth calling such, and no other institutions that seemed to give promise of a great future. Her democratic instincts had prevented her from being annexed to England, who would have given to her wealth and civilization. But her democratic instincts had done nothing else for her politically, had not kept her feudal nobility in order, still less found expression for the national feeling in any representative system. Her alliance with France, useful militarily against England, was unnatural culturally, and could be no true substitute for the broken connection with her nearer neighbour. What then had Scotland gained by resisting England? Nothing at all,—except her soul, and whatsoever things might come in the end from preserving that.

BOOKS FOR FURTHER READING Professor E. Curtis, *History of Mediaeval Ireland*, Stephen Gwynne, *History of Ireland*, Mrs J R Green, *The Irish State to* 1014, and *The*

Making of Ireland, Giraldus Cambrensis, *Description of Wales* (trans *Everyman* Library), W. Ll. Williams, *Making of Modern Wales*, Rhys and Jones, *The Welsh People*, W Rees, *South Wales and the March* 1284–1415, Tout, *Edward I*, Hume Brown, *History of Scotland*, Vol I , Andrew Lang, *History of Scotland*, Vol I , Oman, *Art of War in the Middle Ages*, Scott's *Tales of a Grandfather*, Vol I.

NOTE Lines from Bruce's 'testament' 'On fut suld be all Scottis were, / By hyll and mosse themselff to reare / Let woods for wallis be bow and speire, / [Let woods instead of castle walls be their weapons of defence] / That innymeis do them no dere / In strait places gar keip all store, / And byrnen ye planeland thaim before / Thane sall thai pass away in haist / When that thai find na thing but waist. / With wyles and waykings of the nyght / And mekill noyis maid on hytht / Thaim sall ye turnen with great affrai, / As thai were chassit with swerd away / This is the consall and intent / Of gud King Robert's testament '

But in spite of the first line, the Scottish picked troops, when they raided England, were a *mounted* infantry, riding to battle and dismounting to fight. Froissart has described them on these raids in the reign of Edward III, 'for they are all a horsbacke, without it be the traundals and laggers of the host who folow after, a foote The knightis and squiers are well horsed, and the comon people and other on litell hakeneys and geldyngis, and they carey with them no cartis, nor charrettis, for the diversities of the montaignes that they must pass through in the countrey of Northumbrelande.' He goes on to describe how each horseman carries a little sack of oatmeal and a metal plate on which to cook it 'in manner of a cracknell or bysket, and that they eate to comfort of all theyr stomakis ' Otherwise they lived on the half-sodden flesh of the cattle they captured *en route* (Froissart Lord Berners' translation.)

Froissart also tells us how on one occasion in the reign of Richard II, when the French knights found the Lowlands apparently ruined by an English invasion, 'the people generally made light of it, saying that with six or eight stakes they would soon have new houses, and that they should have cattle enough for provisions from the forests, whither they had been driven for security ' This illustrates the working of the policy of 'Good King Robert's testament.' There was much more woodland in North Britain at that time than in the era of the Stuarts

CHAPTER SIX

The Hundred Years' War. Its Causes and Effects. The Birth of Nationalism. Archery and Yeomanry. English Language and Patriotic Feeling

KINGS Edward III, 1327–77; Richard II, 1377–99, Henry IV, 1399–1413, Henry V, 1413–22, Henry VI, 1422–61

It is sometimes held that the unity of mediæval Christendom prevented such wars as those which have devastated Europe at intervals from the Sixteenth to the Twentieth Century But there was, in fact, no unwillingness on men's part to wage war on one another, and the cruelty with which war was waged was even greater than in our own day. The desire to kill was under less restraint of conscience or of custom, but the means of killing were more restricted It was not the unity of Christendom but the limit of man's control over nature, the inferior methods of locomotion, and the want of political, administrative and financial machinery to keep and feed large bodies of men in distant campaigns that prevented wars on the colossal scale Europe, still very poor and with no elaborate system of credit, could not pay for the withdrawal from agriculture of a large proportion of her youth to engage in destruction as a skilled trade. The small warrior class of feudal Barons and knights were all-powerful, because they and their paid followers held a monopoly in the profession of arms From the Eleventh to the Fifteenth Century, wars on the continent were numerous and local, instead of few and large like those of modern times The arm of Mars was short, but it was kept in continual practice, and the peasant suffered more constantly from the soldier than he does to-day.

[1337–1453] Perhaps the first European war that can be called national was the Hundred Years' War as waged by England. The armies she sent year after year to lay waste

and plunder France were indeed very small, but their efficiency was the outcome of a national organization and a national spirit England, on account of her insular and remote position, and her strong kings, had since the Norman Conquest outstripped the rest of Europe in obtaining a certain measure of internal peace, and was passing from feudalism to nationhood. As soon as King and Parliament had endowed her with administrative machinery and national self-consciousness, she exercised these new powers at the expense of that clumsy giant, the French feudal Kingdom. She became for a while the plunderer and bully of her continental neighbours, not because she had less conscience than they, but because she had more power. In Tudor times the position was to be reversed, when united France and united Spain became each more powerful than England, but her island position saved her from reprisals, and suggested a more profitable outlet to her national energies in commerce and discovery beyond the ocean.

The Hundred Years' War was therefore a question of political dynamics It is useless to idealize it The fact that the plundering expeditions of four generations of Englishmen were supposed to be justified by the genealogical claims of Edward III and Henry V to the throne of France, no more proves that the Middle Ages had respect for 'the idea of right,' than the similar dynastic claims of Frederic the Great on Silesia can help the Eighteenth Century in like case Froissart, much as he admired the English performance which it was his life's work to record, was under no such delusion.

'The English,' he wrote, 'will never love or honour their king, unless he be victorious and a lover of arms and war against their neighbours and especially against such as are greater and richer than themselves Their land is more fulfilled of riches and all manner of goods when they are at war than in times of peace. They take delight and solace in battles and slaughter: covetous and envious are they above measure of other men's wealth.' 'The King of England must needs obey his people and do all their will.'

Indeed no King could have constrained an unwilling people to wage war oversea for four generations. The Hundred Years' War was not, at bottom, the result of dynastic ambition, but of national, popular and Parliamentary institutions The new England passed through a phase of expansionist militarism, profitable at first, in the end disastrous

It was early in the reign of Edward III that English ambitions were diverted from Scotland to France To pick the famous lily was an enterprise of more profit, ease and honour than to pluck the recalcitrant thistle. When English noblemen, younger sons and yeomen returned from oversea, each brought back his share of booty, perhaps the gold vessels of an abbey, the tapestry of a merchant's house, or a brace of wealthy French knights to ransom, and each had his stock of tales for an admiring audience, in days when tales held the place in society that books and newspapers hold to-day,—rich tales of adventure, battle, free quarters and free love in the most famous cities and best vineyards of Europe. That way a man cut a finer figure in his own and his neighbour's eyes than when he returned from harrying a thrice-harried Scottish moorland, where he had burnt some empty huts and a few stooks of oats or barley, but found nothing to carry away save the skin of a cow too lame to hobble to the hiding place in the wood [1]

[1] Froissart's accounts of English proceedings in France and in Scotland, respectively, make this very clear In the invasion of 1346 he tells us in great detail how 'by the Englishmen was brent, exiled, robbed, wasted and pilled the good, plentiful country of Normandy' 'The soldiers,' he tells us, 'made no account to the King nor to none of his officers of the gold and silver that they did get They kept that to themselves' There is abundant evidence that the English armies of the Fourteenth Century frequently behaved like the Turkish bands to-day, robbing, massacring and burning Yet the English were not specially inhumane. In mediæval warfare humanity and courtesy were not shown to 'your even Christian,' but only to members of the knightly class, male and female, and to clergy and nuns, who often, though by no means always, obtained respect for their persons, but less often for their property

The modern mind, nursed on the theory and practice of racial nationalism, is astonished that the English should ever have thought it possible to annex France. But for many years the French resisted us less heartily and hardily than the Scots who spoke our own tongue. For Scotland was already a nation in spirit, while France was a loose collection of feudal fiefs. Moreover, when the Hundred Years' War began in 1337, Edward III and his nobles spoke French and were more at home in Gascony than in Scotland.

There were deeper causes of the breach with France than Edward III's dynastic claims to her throne His possession of Gascony, the last wreck of the old Angevin Empire, was coveted by the French King, who aided the Scots against us France, moreover, had designs in Flanders against the burgher democracy of Van Artevelde, and we could not brook French predominance in those parts because of our trade interests. our chief export, English-grown wool, was sold to feed the looms at Ghent, Bruges and Ypres, for our cloth manufacture at home was still in its infancy. At sea the English and French traders were perpetually cutting one another's throats, in the Channel and on the route across the Bay to fetch the Gascon wines The first great action of the war was the battle of Sluys [1340], won by the English merchant navy After that, Edward III claimed to be lord of the English sea, and the gold noble he struck represents him standing armed and crowned in a ship

Foure things our noble sheweth to me,
King, ship and sword and power of the sea,

wrote the author of the 'Libel of English Policie,' who in the latter part of the Hundred Years' War put out the first reasoned case for the necessity of sea-power to England Sea-power was one of the objects of the war, but unfortunately not the chief object

Because the struggle was much more than feudal or dynastic, it lasted intermittently for over a hundred years. John had failed to compel the English to fight in defence
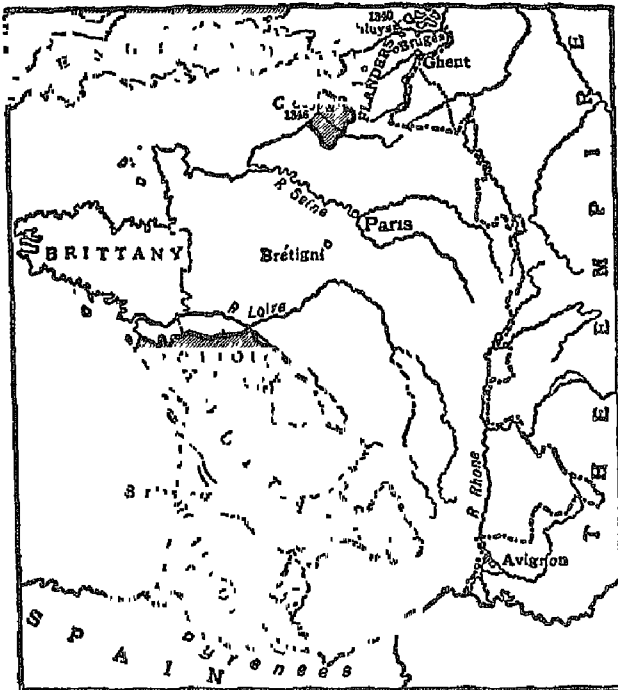
Map 14 France. First Part of Hundred Years' War. Height of Edward III's Power

of his Norman and Angevin possessions. But from Edward III to Henry VI Parliament after Parliament voted supplies for the war, and called to account Ministers who failed to conduct it with success Pride in the triumphs of the English archer 'for all the French boast,' the joy of seeing—

Our King go forth to Normandy
With grace and might of chivalry,

and return with the proudest princes and nobles of Europe as captives in his procession through London streets, intensified the patriotic sentiment that united all classes of the nation Hatred of the French was even stronger among the common folk than in the bi-lingual upper class. Therefore

we persisted so long in this disastrous enterprise, till our own well-ordered mediæval society was ruined, and till we had twice goaded the French themselves, once under Du Guesclin and again fifty years later under Dunois and Joan of Arc, to become conscious of their nationality and to change the purely feudal tactics and spirit of their armies The Hundred Years' War was the diplomatic and military aspect of the period of transition from the feudal to the national, from the Middle Ages to the Renaissance.

As so often happens in war, the armies and tactics employed by the two sides respectively represented underlying social facts, and registered changes of more than military importance.

France was a Kingdom in a very different sense from England. She was not governed in shires by the King's judges, sheriffs and coroners sitting in the King's courts. She was governed in provinces and baronies by her feudal princes and lords, each in his own territory. The peasant serf was bitterly despised by the noble, and there was no important middle class, no substantial yeomen, and no small gentry accustomed to serve the Crown and carry on public business in close connection with classes above and below their own France had indeed wealthy cities, but the links were slender that connected the townsfolk with the exclusive feudal society around them, there was no co-operation between the burghers and the lesser *noblesse* as in the English shire and the English House of Commons.

These social facts were reflected in the armies that suffered defeat at Crecy, Poitiers and Agincourt. They were feudal hosts, called out under feudal obligations, and with all the indiscipline, political and military, characteristic of feudal pride The King of France and his generals had the same kind of difficulty with the units of their command as Montrose or Prince Charlie with the Highland chiefs. The feudal army had no idea of tactics except the unsupported cavalry charge. Its shock had decided the issue of battle for many centuries past, but the English archers put a term to its supremacy on the day of Crecy. [1346.]

The best missile troops the French had were Italian mercenaries,—crossbowmen from Genoa The French peasant, despised in peace, was little regarded in war. His part was to pay the ransom from the estate, when his lord had been carried off to an English manor-house, to hawk and flirt with his captor's family till the money arrived. This method of securing 'reparations' during the war itself, especially the ransoms extorted for the great haul of highborn prisoners at Poitiers [1356.], in addition to the terrible plunderings of the soldiery, goaded the starving peasants of France into the revolt of the *Jacquerie*, a gesture of mere despair. [1358.]

The English social system was no less faithfully reflected in the organization and tactics of the invading armies. In the England of the Edwards, Piers Plowman was in better plight than Jacques Bonhomme across the Channel Even the villeins were relatively wealthy and well-fed, and the proportion of free-men agriculturists above the status of villein was on the increase. Indeed the Hundred Years' War covers the greater part of the period of servile emancipation in England Now the Plantagenet Kings had compulsorily organized all the freemen for training in military service, not on a feudal system but on the principle of the Saxon fyrd brought up to date by the Assizes of Arms. A large body of militia were kept familiar with the use of those weapons which each man was compelled by the State to possess. The fact that so many of the common folk had arms in their cottages which they knew how to use, was a chief cause why the island atmosphere breathed something of political and social freedom.

In the Fourteenth Century the longbow became more and more the prescribed weapon, and the practice at the butts behind the churchyard became the chief sport and excitement of village life Edward III encouraged it by royal proclamations, prohibiting under pain of imprisonment—

handball, football or hockey (*pilam manualem, pedivam, vel bacularem*), coursing and cockfighting, or other such idle games,

which drew men away from the butts In a later age Hugh Latimer used to tell from the pulpit the tale of his father the yeoman—

He taught me how to draw, how to lay my body in my bow, and not to draw with strength of arms as divers other nations do, but with strength of the body. I had my bows bought me according to my age and strength; as I increased in them, so my bows were made bigger and bigger. For men shall never shoot well unless they be brought up in it.

We may be sure that Crecy and Agincourt had been vicariously won by just such careful fathers as old Latimer. For the art of the longbow was so difficult that foreigners never learnt the knack that would send an arrow through plate-mail, and though the longbow was for more than a century the acknowledged master-weapon in European war, it never ceased to be an English monopoly. And even in England its gradual supersession by the less efficient hand-gun of Tudor times appears to have been due to the village neglect of archery for 'football and other lewd games,' or as Latimer thought, for 'bowling, drinking and whoring,'—Statutes and Proclamations notwithstanding

In Edward III's time this formidable militia was at the height of its efficiency and could on occasion be called out. When in the year of Crecy [1346] the Scots thought to make an easy prey of a land whose King and nobles were in France, the democratic levy of the shires taught the invaders, at Neville's Cross near Durham, the lesson they had learned at Northallerton and were to learn once more at Flodden, that England,—though she had no national motto to remind her of it,—can no more be 'provoked with impunity' than Scotland herself.

From this large body of armed and half-armed freemen, Edward III selected, by Commissions of Array addressed to each shire, a picked host to wage war oversea For this purpose he resorted at first to conscription, eked out with volunteers But as the French war went on, the Commissions of Array and the principle of compulsion were

abandoned in favour of the system of hiring private 'companies' of professional warriors.

These 'companies' were the backbone of the long English warfare in France. They were not feudal hosts or conscript levies, but long-service professional soldiers, enlisted for pay by some noble or knight who had determined to push his fortunes in politics and in war. The King could contract with their leaders for their services at easy rates, because they counted on enriching themselves further with plunder, ransom and free quarters Sometimes, especially during the intervals of truce between France and England, they fought and ravaged on the continent for their own hands, like the famous Hawkwood and his English Company in Italy. When driven back to England in the reign of Henry VI, the 'companies' became a chief cause of the social and political disruption at home, which provided them with fresh occupation as 'retainers' in the Wars of the Roses.[2]

The tactics of the English implied trust in the yeoman as a fighting man and in the longbow as a weapon. Those lessons had been learnt in the Scottish campaigns of the first two Edwards. The feudal warriors of the continent had taken no interest in such obscure and barbarous wars, and were stricken with amazement when, on the field of Crecy, the despised islanders revealed themselves as the masters of all Europe in the art military.

The lesson learnt in the Scottish wars had been twofold. At Stirling Bridge and Bannockburn the schiltrons of Scottish spearmen had shown that under favourable circumstances a self-respecting infantry could defeat feudal knighthood hand to hand, while the English victories, such as Falkirk, had taught the value of the longbow. From these two lessons of the Scottish war put together, the army chiefs of Edward III deduced a new method of war-

[2] Conan Doyle's *White Company* gives a spirited and well-informed if somewhat idealized picture of one of these 'companies' abroad, while Stevenson's *Black Arrow* describes Sir Daniel Brackley and his retainers at home, with a great measure of historical truth.

fare, combining the archer and the feudal knight in a single unit of battle, formidable alike for its missiles and its sword play. The English chivalry, perceiving that they had not the numbers to meet the French chivalry in the shock of horse and lance, consented to dismount and to fight in their full armour as a 'stiffening' to the line of half-armoured archer infantry, who were to win the battle by the rapidity of their penetrating volleys of cloth-yard shafts. Those of the French knights who struggled alive through the arrow-storm, came to hand grips with the English line, where the archer, drawing his sword, stood shoulder to shoulder with the armoured knights and nobles, sometimes behind a hedge or a line of portable stakes [3]

The French were so hopelessly defeated by these tactics at Crecy that they determined so far to imitate the victors as to fight on foot But that by itself was not the secret, as Poitiers proved. Their other remedy against the arrows was to increase the thickness of their armour and to substitute plate for chain mail over all parts of the body. But they lost as much in mobility as they gained in protection, and the absurd helplessness of the Fifteenth Century knight, in a case too heavy for him to carry, only hastened the decline of chivalry.

The French in fact never devised a means of successfully attacking the English infantry line, once it had taken up chosen ground with flanks protected But the English system elaborated by the Black Prince had one great defect. It was not mobile on the field of battle, like the 'thin red line' of Wellington. It could not advance to attack the mounted knights without exposing itself to be outflanked and ridden down In short it could only win victories when the French were foolish enough to attack it in position

The first deliverance of France was made by Du

[3] The archer, when his value as a fighting man had come to be fully recognized, was often supplied with defensive armour and a horse, so that the whole army of mounted infantrymen would scour through France on their raids. But all from King to scullion, dismounted to fight if occasion demanded.

Guesclin, the man who grasped the full meaning of these facts It was he who, in the last years of Edward III [1369–77], overthrew the compromise treaty of Brétigni, which in 1360 had assigned south-western France to England [SEE MAP 14] Du Guesclin hired the service of 'free companies' instead of relying on the undisciplined feudal host, and he avoided battle, except when he could surprise the English or take them in some circumstance of special disadvantage. His principal work was to besiege the castles from which the English ruled the country, and in that the French were our match, for they excelled in the early use of cannon. Gunpowder, not yet used effectively in the open field, was already revolutionizing siege operations It helped to liberate France, but it sapped the power of feudalism, for the King, who could best afford to pay for a train of artillery, would in the end put down the feudal Baron, if he could blow a hole in his castle wall

Yet even so feudalism died very hard in France. After Du Guesclin had freed his countrymen by finding substitutes for the feudal tactics which had failed at Crecy and Poitiers, a growth of French national monarchy at the expense of feudalism might have been expected during the generation of uneasy truce and intermittent warfare that divided the two halves of the Hundred Years' War. But no such development took place When Henry V, on his accession, [1413.] revived Edward III's pretensions to the French Crown in order 'to busy giddy minds with foreign quarrels,' the English, going out to fight with the tactics of the Black Prince, found themselves opposed, not by the proved methods of Du Guesclin, but by the idiotic feudal array of Crecy and Poitiers Agincourt was the natural result [1415]

Indeed the similarity of the second to the first half of the Hundred Years' War is extraordinary, as regards the military methods of both sides. For a long time the French refused to learn or to remember anything Henry V, being a great soldier,—he has been called 'the first modern general,'—secured the English hold on Normandy as an occupied province, and thence extended his power to the

banks of the Loire The quarrel between the great feudal Houses of Orleans and Burgundy tore France in two, and brought about the alliance of Burgundy and Flanders with England, to the delight of wool merchants on both sides of the Channel. In 1420 Henry V was acknowledged heir to the French Crown by the Treaty of Troyes Two years later he died, leaving his ill-gotten inheritance to an infant, who was acknowledged by Northern France.

During the minority of Henry VI came the second French revival, following tactically on the lines of Du Guesclin. His successor was Dunois, who had a harder task to face and was not his equal But Dunois obtained a most unexpected and extraordinary ally In one year of glory and one year of martyrdom [1429–31] Joan of Arc evoked a national tradition and sentiment in France which has never since looked back Spiritually she was the Wallace of France But more than twenty years passed after her death, before the English power had been completely worn away by the Fabian tactics and siegecraft of the Dunois era. When English Talbot and his son perished in the last battle down in Gascony, the Hundred Years' War drew to a close [1453.], its aftermath in England, the Wars of the Roses, began two years later at St Albans. So little rest had England in the ill-governed Fifteenth Century.

What had we gained by the long, persistent endeavour to erect an English Empire in Europe? We had most justly earned the break-up of our own mediæval society and a period of anarchy and moral prostration. We had gained the port of Calais which we kept for another hundred years, the solitary pledge of England's foretime rule in France, as Berwick-on-Tweed of her lost Scottish dominion Calais was used as a port of vent for our raw wool abroad, where it was gathered and taxed before sale The staple was fixed there by the King of England for that purpose But the use of the staple gradually declined with the increase of our cloth manufacture and trading enterprise oversea. Meanwhile Calais, the bridge-head firmly held in French soil, was a standing temptation even to prudent Yorkist and
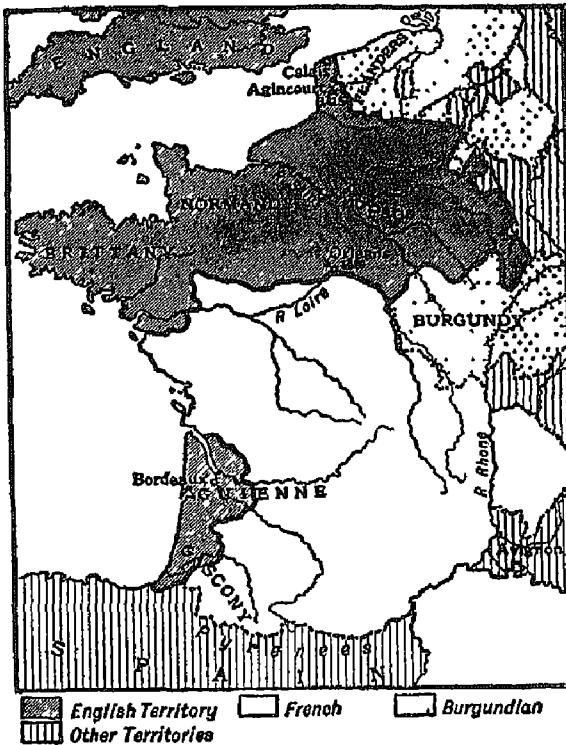
EMERY WALKER LTD SC.

Map 15 France: Second Part of Hundred Years' War, Height of Henry VI's Power

Tudor Kings to revive their never abandoned claims on France. Its loss under Mary was pure gain and helped the Elizabethans to look westward for new lands.

Had the Hundred Years' War, then, done nothing but harm to England? If it brought any compensating good it was of the intangible and intellectual order—a strong national self-consciousness, more democratic than feudal, great memories and traditions; a belief in the island qualities, which helped Englishmen to carry their heads high in the coming century of eclipse behind the crescent monarchies of France and Spain In Shakespeare we may read the inspiration given by the memory of Agincourt to the

better-directed national revival under Elizabeth In the days of good Queen Bess, Englishmen collectively had forgotten what the face of war was like, they had no memory of the bitter realities of the Hundred Years' War as they had been painted in Chaucer's vision —

> The carraine[4] in the bush, with throte ycorven,
> A thousand slain, and not of qualm ystorven, [5]
> The tirant, with the prey by force yraft,
> The toun destroied, there was nothing laft

But the contemporaries of Shakespeare said proudly of the English yeomen —

> These were they that in times past made all France afraid And albeit they be not called 'Master' as gentlemen are, or 'Sir' as to knights appertaineth, but only 'John' and 'Thomas' etc , yet have they been found to have done very good service. The kings of England in foughten battles were wont to remain among them who were their footmen, as the French kings did amongst their horsemen, the prince thereby shewing where his chief strength did consist

From the Hundred Years' War onwards, the 'yeoman *motif*' runs through English thought, literature and politics with a potent and life-giving force, right down to the coming of the Industrial Revolution

In earlier mediæval times hostility was normally felt against the natives of a neighbouring town, shire or village This unneighbourliness diminished as insular patriotism enlarged the mind and pointed out the Frenchman or the Spaniard as the true 'foreigner' The habits of thought and feeling that were contracted during the Hundred Years' War with France—a period of 'hate' less intensive but twenty-five times longer than our recent war with Germany—sharply defined the new patriotic feeling in the form of racial hatred of the French It was intensified in the era of Du Guesclin by destructive enemy raids on our South coast and not unsuccessful warfare against our shipping The feeling against the French outlasted the war, and helped to put an end to that subordination of

[4] Carrion, corpse

[5] Not dead of sickness

English to French culture which the Norman Conquest had established. From this time forward foreigners complained of the insular and surly exclusiveness of the English common people. In Henry VII's reign the Venetian envoy noted that.—

> They think that there are no other men than themselves, and no other world but England, and whenever they see a handsome foreigner, they say 'he looks like an Englishman' and that 'it is a great pity that he should not be an Englishman', and when they partake of any delicacy with a foreigner they ask him 'whether such a thing is made in his country?'

In the middle of the Tudor period a French visitor wrote:—

> The people of this nation mortally hate the French as their old enemies, and always call us 'France cheneve,' 'France dogue.' (French knave, French dog.)

In the reign of Elizabeth these feelings were turned for awhile against the Spaniard. Yet there was often an element of good-nature in English nationalism At the height of the Elizabethan struggle with Spain, Shakespeare's kindly caricature of Don Armado, 'a fantastical Spaniard,' in *Love's Labour's Lost,* does credit to the mentality of our people at war.

The upper classes followed more slowly in the wake of the common people in the repudiation of everything from beyond the Channel. Squire Western was in process of evolution, but not yet evolved. Ever since the loss of Normandy and the Angevin Empire, the French-speaking upper class had been cut off from estates and connections oversea, and their culture, severed from its roots in France, was clearly exotic. A hundred years before the days of Chaucer's Prioress, Frenchmen 'of Paris' used to laugh at the strange hybrid that passed for their tongue in the mouths of English gentlefolk Yet, such as it was, it was their everyday speech till the reign of Edward III, and was regarded as the hall-mark of a gentleman, till the increasingly racial character of the war compelled all men to regard French as an enemy language

Six years after Poitiers a statute was passed through

Parliament declaring that since the French tongue was 'much unknown in this Realm,' all pleading and judgments in the law courts should be spoken in the English tongue and enrolled in Latin 'Men of lawe fro that tyme shold plede in her moder tunge,' it was said 'Their mother tongue! Here indeed is a new and significant order of ideas! If the statute was imperfectly obeyed at first, it was obeyed before long, although lawyers, with professional conservatism, long continued to write documents in the 'law French' in which their predecessors had addressed the court

A still more fundamental revolution was taking place in regard to the language used in the schools English was becoming once more the tongue of the educated and of the upper class, as it had never been since Hastings —

> Children in scole (thus wrote John of Trevisa in 1385), agenst the usage and manere of alle othere naciouns, beeth compelled for to leve thire own langage, and for to construe thir lessouns and there thynges in Frensche, and so they haveth seth (*since*) the Normans come first in to Engelond. Also gentil men children beeth i-taught to speke Frensche from the tyme that they beeth i-rokked in ther cradel . . This manere was moch i-used to fore the first moreyn (*before the Black Death*, 1349) and is siththe sumdel (*since somewhat*) i-chaunged For John Cornwaile, a maister of grammar chaunged the lore in gramer scole and construccion of Frensche into Englische, and Richard Pencriche lerned that manere teaching of hym, and other men of Pencriche So that now, the yere of oure Lorde a thowsand thre hundred and foure score and fyve, and of the secounde Kyng Richard after the conquest nyne, in alle the gramere scoles of Engelond, children leveth Frensche and construeth and lerneth in Englische
> Here avauntage is that they lerneth ther gramer in lasse tyme than children were i-woned (*used*) to doo, disavauntage is that now children of gramer scole conneth no more Frensche than can thir left heele, and that is harme for them and (*if*) they schulle passe the see and travaille in straunge landes and in many other places Also gentil men haveth now moche i-left for to teche ther children Frensche (*have much left off teaching their children French*)

Thus did these humble schoolmasters, John Cornwaile and

Richard Pencriche, prepare the road for Chaucer and Wycliffe in their own century, for Shakespeare and Milton in time to come, for the English Reformation and Renaissance, and the whole development of English national life and letters as something other than a northern offshoot of French culture Some may regard the transaction thus casually recorded by the chronicler as more important than Magna Carta or the Declaration of Independence [6]

During the formative period of the English language, the centuries after the Conquest when it was out of fashion with the learned and the polite,[7] in the chrysalis stage between Saxon caterpillar and Chaucerian butterfly, it was divided into many regional dialects, of which the chief were Wessex, Northumbrian, East and West Midland The Wessex had been the Court language in Alfred's time, but the Norman Conquest had relegated it for ever to the cottage and the plough-furrow It was the speech of the East Midlands that became the ancestor of modern English, triumphing over the other dialects, partly because it was spoken in London, Oxford and Cambridge, partly because it was employed by Chaucer, who enriched it with many French words, and by Wycliffe, who enriched it with many words from the Latin Vulgate. Both Chaucer and Wycliffe founded a school of imitators who used mainly the same dialect Their writings and translations were for awhile widely circulated in manuscript Then in the later Fifteenth Century came Caxton's printing press at Westminster, under the patronage of the Yorkist Kings, it further popularized Chaucer, and spread through the

[6] The linguistic situation about the year 1375 is thus summed up by William Nassington —'Some can French and no Latin, / That have used courts and dwelled therein / And some can of Latin a party, / That can French full febelly / And some understandeth English / That neither can Latin nor French. / But lerid and lewid, old and young / All understanden English tongue'

lerid and lewid=learned and ignorant.

[7] See pp. 179–80, above

land translations of various works done into English of the same type.

In this way a standard of English was being formed for all those who could read, and for all, even beyond Trent and Avon, who wished to be regarded as educated men and women In Tudor times the Bible and the Prayer Book in the same dialect—already regarded as 'the King's English'—obtained a diffusion and authority quite unparalleled by any works in earlier times, and firmly fixed the standard During these two centuries from Chaucer to Elizabeth, the language in question, living on the tongues of men no less than in their books, was moving forward from strength to strength and from beauty to beauty, enriching itself with Latin words expressive of all the joy and learning of the Renaissance, until it fell into the perfecting hands of the man of Stratford. Since his day its adaptability to exact scientific statement has increased, and its poetic and literary quality has decreased, answering to the changes in the mind and life of the people who use it.

CHAPTER SEVEN

The Black Death The Emancipation of the Villeins and the Fluidity of Labour The Rising of 1381 The Church and the Laity Wycliffe and Lollardry

In a previous chapter we considered the life of the mediæval English village.[1] We saw it, self-sufficing in its labour and its poverty, often suffering from famine but never from unemployment, little connected with the world beyond its own forest bounds, except through the personal activities and requirements of its lord, supplying nearly all its own simple needs, containing its own miller, craftsmen and spinsters, feeding itself by tilling, on traditional methods, the strips owned by the villeins in the open field, and by sharing the common rights over meadow and waste.

[1] See pp 199–206, above

We saw too that the village was a 'manor' held by some lord, resident or non-resident, lay or spiritual We noted the relations between the lord and his villeins, who composed the great majority of the village, and by whose compulsory labour his domain was tilled under the supervision of his bailiff.

This system, found with variations all over feudal Europe, served no less than the sameness of religious observance to give unity to Christendom. In every land there was the same scheme of society resting on two pillars—the lord and his serf, and in every land the lord and the serf respectively had much the same outlook on life Change and variation began with the rise of the yeoman, the free labourer, and a number of active and intelligent middle classes, towards the end of the mediæval period. The citizens of Paris differed widely from the citizens of London, the yeoman of Tudor England from the peasantry of Valois France. And so the feudal unanimity of old Europe was at length broken up into nations, each with a character of its own

The manorial system had led England out of the Dark Ages and had enabled man to conquer the forest, subdue the soil, and colonize the land In ages of brute force it had protected the weak behind the shield of custom, even while making them half slaves. It gave stability and peace, but checked progress and denied freedom Its part in English history had been great, but its use was at length exhausted.

Already before the close of the Thirteenth Century the beginnings of change were perceptible Lords and their bailiffs occasionally found it more convenient to take money rents of a penny or a half-penny instead of the day's work due. But the villeins who thus commuted did not necessarily become freemen in the eye of the law, and were in most cases still bound to the soil, indeed the commutation was often made in a form revocable by the lord. The change from servile to hired labour went quietly forward on some estates during the first half of the Fourteenth Century, but the old system was still prevalent though not

universal when in 1348–9 occurred the most appalling of national catastrophes.

The Black Death, on its first visitation of Europe from some mysterious fountain-head of disease in the undiscovered East, swept off perhaps a third, possibly a half, of the compatriots of Boccaccio, Froissart and Chaucer. The most terrible feature of its first advent was its ubiquity In the most secluded English hamlets we often read, in the list of vicars in the parish church, the names of *two* incumbents under that fatal year. Some villages and hamlets ceased to exist, the whole population having died In the winter of 1349 the plague was stayed, but it remained in the island, and was perpetually breaking out in one insanitary township after another Its last appearance, as Charles II's 'Plague of London,' seems to have been little, if at all, worse than several plagues that had devastated the capital in Lancastrian, Tudor and Stuart times, with no Defoe to celebrate them Plague was a black cloud, ever hovering over the filthy streets and brief lives of our ancestors It was a frequent sequel to the famine of a bad harvest year.

The reduction of the English subjects of Edward III, in sixteen months, from perhaps four million to perhaps two and a half million souls, precipitated the class struggle, and embittered the process of emancipating the villein In a society accustomed to very slow changes in conditions of life, the market value of labour had been doubled at a stroke The consequence was twofold The labourer who was already free struck for higher wages, while the villein whose labour was not free struggled against the legal demands of the bailiff for customary services which were now worth more to both parties, gradually he was led on to demand his full freedom, the right to take his labour where he would, to plead in the King's Court even against his own lord, and to be free of irksome feudal dues

Lords and bailiffs were in a terrible dilemma. Half the domain land, half the rent-paying farms were lying untilled, turf and bushes overgrowing the strips, the ploughmen dead, the thatch falling from their deserted hovels. And the survivors were rising in open mutiny against law

and custom, and sometimes also against what was economically possible The world seemed coming to an end, yet it never occurred to the governing class to stop the French war, which was still regarded as a source of profit and plunder Poitiers followed Crecy, as though half the world had not died in the interval.

Part of their difficulties the landlords solved well and wisely, by substituting sheep-pasture for tillage It was not till a hundred years later, when the population had nearly filled up the gaps left by the Black Death, that there was any need for landlords to evict ploughmen in order to make room for the shepherd. In 1350 death had evicted the ploughmen, and 'the deserted village' was ready to hand In such circumstances, the multiplication of sheep-runs was pure gain to a community in distress. The export of raw wool to the Flanders looms, and the concurrent growth of cloth manufacture in England, aided by Edward III's importation of Flemish weavers to teach our people the higher skill of the craft, made demand for all the wool that English flocks could supply In this way a national policy and distant markets were beginning to disturb and to improve the parochial economy of the old manor, and to offer alternative occupations for the emancipated or the runaway villein

Other steps taken by the landlords in distress, though very natural, were less in harmony with the destined course of affairs An endeavor was made to keep down wages and prices by law, to limit the mobility of the free labourer in search of highly paid employment, and to prevent the further emancipation of the villeins But even in making these efforts to stop social and economic change, the landlords recognized the new and national character of the situation, for they legislated through Parliament. The conflict was moving away from the old manor court, which the peasant was learning to defy, to the arena of Parliament, which was already beginning to take over control of economic affairs from municipal and manorial authorities —a nation-making process completed under Queen Elizabeth Unfortunately Parliament represented too exclusively

the landed gentry and the employing classes of the towns. Their Statute of Labourers [1351], following up the King's Ordinance of two years before, showed a desire to be fair, and endeavoured to fix not only wages but prices of provisions at the old standards But no Statute could make two loaves or two labourers where there was only one No Act of Parliament could repeal the Black Death or abolish the spirit of the age. The statutory limitation of wages, and the refusal to complete the emancipation of the villeins aroused a fierce struggle which lasted for the remainder of the century, and culminated in the drama of the Peasants' Revolt.[2]

Nothing is more remarkable than the change in the temper and mental activity of the lower orders during the Fourteenth Century. Professor Davis has summed up the reign of Henry III with the words· 'Of all the contrasts which strike us in mediæval life, none is so acute as that between the intellectual ferment in the upper class and the oriental passivity of their inferiors.' But in the reign of Edward III the peasants could no longer be accused of 'oriental passivity,' and the 'intellectual ferment' in their ranks reminds us of a modern labour movement Village unions strike for higher wages, villeins demand freedom in return for *4d* an acre rent, and men ask each other in every field that deep-probing question—

When Adam delved and Eve span,
Who was then the gentleman?

The agitation was Christian in its form and language, but hostile to the Church authorities, whether as monastic landlords[3] or as royal Ministers. It had lost sympathy with

[2] Bertha Putnam, *Enforcement of the Statutes of Labourers*, 1349–59 (*Columbia University, Studies in History, etc*, Vol XXXII, 1908).

[3] There was no tendency on the part of the monasteries or other ecclesiastical lords to manumit serfs more rapidly than the lay landlords. Manumission of serfs was stigmatized as embezzlement of ecclesiastical property except when freedom was purchased as part of a business transaction Corporate bodies, like monasteries, tended to a more con-

the mediæval order in Church and State, drawing its inspiration from the equalitarian element in earlier Christian teaching. Some of the poor parish priests, some of the friars, and some of the Wycliffite preachers helped to fan the flame—Wycliffe himself maintaining a middle attitude sympathetically critical of both sides, which contrasts favourably with Luther's heated partisanship in the very similar case of the Peasants' Revolt in Germany.

Exalted by this new order of ideas, the peasants carried on the struggle for their freedom. The free labourers attempted to ignore the Statutes fixing their wages, and conducted strikes that were frequently but not always successful. Those who had no land of their own often emigrated to towns or manors where their illegal demands were accepted. Their prosperity in good times is thus described in *Piers Plowman*.—

Labourers that had no land to live on but their hands,
Deigned not to dine to-day on night-old worts.
May no penny-ale please them, nor a piece of bacon,
But it be fresh flesh or fish, fried or y-baked,
And that *chaud* and *plus chaud* for the chill of their maw.
But he be highly hired, else will he chide, . . .
Then curses he the King, and all his Council after
For making such laws, labourers to grieve.

But the Justices entrusted with the enforcement of the Statute of Labourers often succeeded in keeping wages from rising as high as they would have gone in an open market.

Meanwhile the villeins, still bound to the soil, slacked or refused the unpaid labour which they owed on the lord's domain. Some of them fled to the woods and became Robin Hood bandits, helping to build up the legend of that friend of the poor peasant and enemy of rich churchmen. Other villeins fled to distant estates, where in the general dearth of hands they were received as free labourers, no questions asked. Their former masters strove to drag them back to servitude and to exact the ancient dues

servative, though not necessarily a more oppressive policy than individual lords.

from those who had remained behind, by employing the 'rusty curb of old father antic the law.' The activity of the lawyers and well-to-do juries on the side of the landlords exposed the learned profession and its satellites to the popular hatred, as not a few judges and jurymen learnt to their cost in the days of June 1381.

The dramatic events of that summer had their roots in social rather than political causes, though the revolt was precipitated by the Poll Tax, a method of taxing the poor for the French war at a moment when it was singularly unsuccessful and therefore for a while unpopular. The incompetent government of Richard II's minority was hated and despised. But what chiefly brought the men of East Anglia and the Home Counties trooping up to London was their own grievances and ambitions as peasants. It was a rising, more or less concerted and prepared by John Ball and his agents, against the gentry, the lawyers and the wealthy churchmen. The rebels' chief demand was the commutation of all servile dues throughout the land for a rent of fourpence an acre, many of them also demanded the disendowment of the Church, free use of forests, abolition of game laws and outlawry—a 'Robin Hood' programme suggestive of the life recently led by some of those who were taking a leading part in the revolt.

The rising took the upper class by surprise, and for some days there was little resistance, either central or local. Admitted into London by the 'prentice mob and by certain democratically minded aldermen, the rebels held the capital and the government at their mercy. [JUNE 13, 1381.] The King was in the Tower, which his subjects proceeded to blockade. The situation was saved—but by very base means. Richard II was sent to a conference at Mile End with the rebels, where he made them promises of pardon and emancipation from villeinage, which his counsellors had no intention of carrying out. [JUNE 14.] It was easy thus to beguile the moderate section of the rebels, who had a simple-minded belief in the King as distinct from his Council, Parliament, lawyers, Church and knighthood

Yet in fact the Crown of England was identified with those interests.

Having received grants of emancipation and pardon hastily drawn up by the King's clerks, many of the insurgents set off home to their villages, deceived and happy. But meanwhile others had broken into the Tower and executed Sudbury, the Archbishop of Canterbury, on Tower Hill before a vast concourse of people who greeted the ferocious act with yells of triumph. They were incensed against him as Chancellor and chief Minister of the King, but the fact that he was Archbishop gave him no sanctity in their eyes. The relation of Church and people had undergone a profound change, since the ancestors of these same men had knelt beside their ploughs to pray for the Holy Martyr, Thomas Becket.

Other murders stained the rising, both in London and in the country, but there was no general massacre of the upper class such as characterized the French Jacquerie twenty years before. For the Jacquerie had been a gesture of savage despair, but the English revolt was the offspring of hope and progress, and was designed to hasten the advent of a freedom already on the way. It was one of the growing pains of the new England.

The forces of order were now beginning to rally. Another conference in the presence of the King, held in Smithfield, resulted not in further concessions, but in the slaying of a rebel leader, Wat Tyler, by the Mayor of London. [JUNE 15.] After that, the insurgents soon dispersed before a mixture of force and cajolery. The revolt went on spreading over the country till it reached from South Yorkshire to the South-Western counties But when it had lost its hold on London it was doomed.

Whether the rising of 1381 actually hastened or retarded complete emancipation it is difficult to say The immediate result was a strong and cruel reaction, when every promise made to the peasants in the hour of need was broken, and a bloody assize made mock of the pardons granted by the King But a class that could give its rulers such a fright could not ultimately be held down. As com-

pared to Peterloo, or to the rick-burning and the 'peasants' rising' in 1830, the revolt of 1381 was extremely formidable. Thistlewood talked about taking the Tower, but John Ball took it For the peasant of the Fourteenth Century was not unused to arms and archery, he had the leasehold farmer in his ranks instead of against him, and he was in close touch with the turbulent democracy of the towns. In the battle for the preservation of order at home, the feudal class of the Hundred Years' War had no such allies and no such organization as the gentry in the time of Castlereagh and Wellington.

The failure of 1381 by no means ended the strikes, labour troubles and riots against serfdom It must have been difficult to get a good day's work on the domain out of such surly fellows Partly for this reason, partly in obedience to the general economic tendencies of the age, landlords gradually ceased to work the domain by the forced service of villeins, and let it instead to farmers who produced for the market, and so obtained money to hire free labour In most cases the villeins bought their emancipation from serfdom, a process facilitated by the growing wealth of the country and of the peasants, and by the increasing quantities of coin of the realm. The emancipation took place mainly in the Fifteenth Century, and was completed under the Tudors. It was hastened by the changed attitude of the King's law courts, which became surprisingly liberal, and 'strained the law in the interests of the humbler classes'[4]

The emancipated villein filled many rôles in the new society He became a small yeoman farmer, whether freehold, leasehold or copyhold, or else he became a labourer

[4] Holdsworth, III 505. On the whole question of emancipation see '*Oxford Studies in Social and Legal History,*' Vol V, *Black Death, etc*, by Miss Levett and A Ballard, with introduction by Vinogradoff Also T. W. Page, *End of Villeinage in England,* and Maitland, *History of a Cambridgeshire Manor* (*Collected Papers,* Vol II), Ashley, *Economic Organization of England,* Chap III, G. G Coulton, *The Mediaeval Village,* especially Chaps. XII., XIII, on monks and serfs.

for hire, or else he drifted into the towns or village workshops, or took to the wars or to the life of the high seas. He retained valuable rights of his own in the open field and the waste, to induce him to stay in the village. but he was now free to go if he wished. 'The world was all before him where to choose,' and the modern English proved themselves great adventurers, both in the material and the spiritual world

The fluidity of labour had come, altering the whole outlook of economic society. The change from the fixed and limited rights and duties of the serf to the competition and uncertainty of the open labour market was by no means wholly to the labourer's advantage, though for a hundred years after the Black Death the dearth of labour enabled him to command a high price. But in the later part of the Fifteenth Century, when the population had recovered, wages fell. Under the modern regime, though famine was more rare and the average standard of life was raised, the horrors of unemployment became known, and the 'sturdy beggars' of Tudor times had little joy of their freedom. But the change was necessary if the English race was to be anything better than a race of serfs, if it was to make vast increase in numbers, wealth and knowledge, if it was to take to industrial and maritime adventure and people the lands beyond the ocean The power, liberty and progress that we associate with modern England, America and Australasia, required as a precondition the emancipation of the serfs. Emancipation and the consequent fluidity of labour formed the necessary prelude to the growth of trade, manufacture and colonization, as well as to the intellectual and political developments of Tudor and Stuart England.

One feature of the old village economy lasted on in whole districts until the reign of George III In the best wheat-growing belt of the midland and eastern shires, the open village field, with its queer strips, involving enforced adherence to early Anglo-Saxon methods of cultivation, survived in many places to shock the sensibilities of Arthur Young and his 'improving landlords.'

If the Fourteenth and Fifteenth Centuries saw the emancipation of the serf and the birth of English language, literature and national feeling, they witnessed also, in consonance with those great movements, the failure of the cosmopolitan Church of the Middle Ages to meet any longer the conscious requirements of the new nation.

It may be questioned how far the loss of moral and intellectual leadership by the Church was due to greater corruption or inefficiency than of old. It was not so much that the clergy had sunk as that the laity had risen. In Norman and early Plantagenet times, when the Church reigned supreme in the minds of men, the mass of the clergy had—as compared to the modern English clergy whether Protestant or Catholic—been very ignorant and often very irregular in their lives The ecclesiastical machinery was not strong enough to enforce the full programme of Hildebrandine celibacy upon the unwilling English priests But in those days the laity were even more ignorant and brutal than the clergy, and probably even more immoral A more or less barbarous Church had easily maintained its leadership over a laity still more barbarous But times had changed. In the days of Chaucer, though neither laity nor clergy led very reputable lives, there was a more widely diffused standard of civilized conduct, much more learning and a more intellectual outlook. It was a sign less of clerical decadence than of general progress that a new generation of laymen were alienated by abuses in the Church that were not new. orthodox Gower and Langland and humanist Chaucer were no less severe on the churchmen than Wycliffe the heretic.

In earlier days, whatever the average priest may have been like, the Church had supplied the intellectual and moral leaders of the country, from Lanfranc and Anselm to Langton and Grossetête But in the course of upward evolution this had ceased to be the case. It reflects no discredit on the Church that she had so well played her part as schoolmistress of the nation that her scholar was beginning to think for himself Except Langland, the most influential literary men of the new era, such as Chaucer and

Gower, were not clergy at all, while Wycliffe and his Oxford following, though clergy, were heretics in the eye of the Church. The lawyers, the gentry and the rising middle classes of town and country had not the unquestioning minds of their forefathers They were beginning to think for themselves. The pious Langland tells us:—

I have heard high men eating at table
Carpen (talk) as they clerkes were, of Christ and his might,
And laid faults upon the Father that formed us all
And carpen against clerkes crabbed words—

to the effect that we ought not to be damned for the fault of Adam.

At meat in their mirth when minstrels be still
Then tell they of the Trinity a tale or twain,
And bringen forth a bald reason and take Bernard to witness,
And put forth a presumption to prove the sooth

Times were ripe for ecclesiastical reform and religious growth, no less than for social and political change. But whereas Parliamentary institutions and servile emancipation were developing apace, religious reform was impossible. The Church in England had no power to reform herself, because she had no autonomy. She was part of a cosmopolitan organization centred abroad, of enormous prestige and power, knowing nothing of English needs and of set purpose to resist change If in England the Church had retired step by step before the rising tide of lay emancipation, there would have been no violent overturn in Tudor times But pent waters gather force. In the Fourteenth and Fifteenth Centuries the Church refused every concession, effected no reform, and called in brute force to repress heresy. If an opposite course had been followed, if the rights of sanctuary and benefit of clergy had been modified; if ecclesiastical property had been redistributed more fairly to the poor parson; if priests had been permitted to marry their wives as in Saxon times; if the Pope had ceased to job rich places of the Church for foreign favourites, if the ecclesiastical authorities had withdrawn their

countenance from the sale of pardons and relics and other superstitious practices that revolted the better sort of laity, orthodox as well as heretic, if the Church courts had ceased to make a trade of spying on the lives of the laity in order to extract fines for sin; and finally if Lollardry had been tolerated as Dissent, there would have been religious evolution spread over several centuries, instead of the religious revolution which we know as the Reformation.

But the doctrine of persecution was an integral part of mediæval Christianity To the men of the Middle Ages, life *outside the Church in disobedience to her doctrines* was no more conceivable than life outside the State in disobedience to its laws. Religious persecution was therefore as much a matter of course as civil police. It was a tradition some thousand years old, and only a long course of very bitter experience has in modern times gone far to eradicate the doctrine of persecution from the Christian mentality. It is necessary to understand this before we can be fair to the conduct of any of our ancestors in the terrible religious struggles that began for England with the rise and suppression of Lollardry There was never any serious question of tolerating Wycliffe's doctrines, if he could not get them accepted by the Church There is no need to ascribe evil characters to the energetic Kings and Bishops who persecuted the Lollards, any more than to the members of the court that sentenced Joan of Arc But neither is there any need to approve of the doctrine of persecution, because it was at that time very ancient, very respectable and universally held It was none the less erroneous, and was destined to cause incalculable evil for centuries to come That we should ever have cast out so deeply ingrained and so specious an error, is perhaps the most solid piece of human progress to which Europe can point

We may, on similar principles drawn from the history of the case, understand why the Church refused to make concessions to the laity on points of clerical privilege, and why the monasteries and the highly endowed clergy refused to redistribute tithe and endowment for the benefit

of the parish priest, before the Tudor squirearchy laid hands on the spoil. Men cannot so easily shake off the past. In the Dark Ages that followed the fall of the Roman Empire, the Church, struggling for existence in a world of barbarous and lawless force, had learnt how to bring the enginery of excommunication and the whole power of the united Church of Christendom to defend every right claimed by the clergy and every piece of property acquired by any specific clerical corporation, as if the foundations of Christianity were involved in their conservation. In an age too late the Church still held to these customs, which had become a part of her nature She would not treat with the State on the basis of concession. She would not reform herself from within. The complete triumph of the State over the Church was needed to effect any appreciable measure of change.

The Church of England, indeed, was in no position to reform herself, had she wished, because she had no independence, and indeed no corporate existence. All the friars and most of the monks in England were subject not to the English Bishops, but only to the Pope, to him, not to the Church of England, they owed loyalty and obedience Ecclesiastical law was the Roman Canon Law which the English Church was not competent to change. Appeal in ecclesiastical causes lay to the Papal courts. The Bishops were therefore without power to set the English house in order

Nor in any case did the episcopal bench contain men fitted for such a task Appointed by collusive arrangement between the King and the Pope, many of the Bishops were royal civil servants—like William of Wykeham, the great builder of colleges, and the Chancellor Archbishop Sudbury, the victim of the rebels of 1381. They were excellent and useful men, but they served the State rather than the Church,—Cæsar rather than Christ as contemporaries said,—and their eccesiastical duties were often committed to subordinates No one could look to them to reform the religious life of the country.

The Papal nominees were even less adapted to such a

task The Pope no longer sent men of the stamp of Theodore of Tarsus or Stephen Langton to govern the English Church. His modern favourites were most numerous in the ranks of the higher clergy just below the episcopate, many of them were foreigners who resided abroad and regarded England as a source of income.

While plurality and simony were rife among the upper clergy, native or foreign, the best element in the Church in the last two centuries before the Reformation were the poor parish priests. Miserably starved as many of them were for the benefit of the monks and higher clergy to whom the tithe was 'appropriated,' and often very ignorant, they were in close touch with their flocks, and not a few of them, no doubt, resembled Chaucer's poor parson. Would that we had their annals!

The collusion between the Pope and the later Plantagenet Kings was injurious to the Church, which had no defence at all if the King deserted her And the collusion was highly unpopular with Parliament. Yet it continued more or less until Henry VIII's change of front The Pope, who alone had the power to reform the Church, was deeply interested in the ecclesiastical venality and corruption of which Englishmen, orthodox and heretic alike, complained The chief centre of the traffic of simony was the Papal Court, held during the Fourteenth Century at Avignon on the borders of France, where the association of the Pope with the national enemy during the first part of the Hundred Years' War helped to turn English national feeling against the Papacy and all its works Nor did the schism that followed between rival Popes increase respect for the institution

But so long as mediæval theories of the relation of Church and State held good, England was without a remedy She might grumble, but no one at Rome or Avignon cared The 'English asses' might bray, but they must still bear the load. Parliament might pass Acts of Provisors and Præmunire to limit the Papal power as against the rights of the Crown But these laws were largely inoperative, and at the most served the King as an asset in his perpetual

bargaining with the Pope They were, however, a remarkable sign of the movement of opinion among the laity, and formed a precedent for much stronger action to be taken some day by the King in Parliament.[5]

John Wycliffe, a Yorkshireman by birth and an Oxford don by profession, pointed out to England a remedy for her griefs, and found what had hitherto been lacking, a theoretic basis for denying the Papal authority. His 'theory of dominion' taught that the authority of the wicked could not come from God The Pope's power was derived from the Cæsars of Rome, not from Christ or Peter. It is remarkable that an academician whose methods of thought and expression were involved in the technical labyrinths of later mediæval philosophy, should have foreseen so accurately many of the general lines of development which England was destined to follow between one and two hundred years after his death The Anglican, the lay[6] and the Protestant positions are all prominent in Wycliffe's teaching, and it was by a mixture of these three different points of view that the affairs of Church and State were ultimately rearranged in England.

[5] The Statute of Provisors (1351) protected the rights of English patrons against Papal 'provisions' to English benefices. The Statutes of Præmunire (1353, 1365, 1393) were of much more limited scope than was supposed in later times So far as they went they provided a machinery to check Papal interference with royal rights in England.

[6] 'Erastian' in the strict sense of the word Wycliffe perhaps was not. 'He was no Erastian,' Dean Rashdall writes, 'since while he held strongly a distinction between the clergy and the laity, he asserts very emphatically the priesthood of the laity, and insists that he is only calling on one part of the church to remove the evils due to the misconduct of the other.' But he did so call on the laity to reform the Church, as occurred in Tudor times, and many people would call that Erastianism. The tendency of his argument was to make the King the head of the Church, though he does not say so definitely. But the stress he lays on the individual conscience or priesthood of every lay person would have left him dissatisfied with the 'Tudor' solution.

The first important stage of Wycliffe's career as a reformer, in the last years of Edward III, brought him in touch with politicians. He was employed to state the case of the nation against Papal encroachments, and his attack on the 'possessionate' and 'Cæsarean' clergy not only won him much popular support, especially in London, but found for him powerful but unpopular allies in John of Gaunt, Percy of Northumberland and the party of lords and knights who were already nosing after the spoils of the Church. [1377.] And at this stage he also found defenders where he was afterwards to find his bitterest enemies, the friars[7] were always on bad terms with the rest of the Church in England and were still theoretically advocates of poverty and therefore of disendowment Some of them found in Wycliffe an ally against the landed classes of monks and Bishops, until his denial of transubstantiation and his attacks on their patron the Pope became more than the mendicant orders could endure

The peasants' rising in 1381, in which he was not involved on either side, did not directly affect Wycliffe's position, except by removing from the world the mild Archbishop Sudbury who had shown no desire to persecute him The new Primate, Courtenay, was his bitter and energetic enemy, and the period of active repression was at hand At the same time the Reformer broke with John of Gaunt, the politicians and the friars, by arguing against transubstantiation His propositions as to the nature of the sacrament were indeed very moderate, but for those days bold in the extreme, his followers in the next generation went farther

In the last years of his life Wycliffe became less political and less strictly academic He retired from Oxford to his last home, the Rectory at Lutterworth, in Leicestershire, and there developed further his popular methods of appeal, through English tracts written either by himself or his companions [1382–84] He attacked, and taught his disciples to attack, the Pope, the monks, the friars and the

[7] On the friars see pp 246–49, above

'Cæsarean clergy,' and many of the religious practices of the day such as the worship of images and relics, sale of pardons and masses for the soul He appealed for the direct relation of the individual to God without mediators, declaring that 'each man that shall be damned shall be damned by his own guilt, and each man that is saved shall be saved by his own merit.'

He demanded a service in English, and he produced, chiefly through the agency of his Oxford follower and secretary, Purvey, the first full English translation of the Bible, an admirable and scholarly piece of work, a great event in the history of English language as well as religion The Bible was not to Wycliffe, as it was to some later Protestants, the sole basis of his doctrine and his sole canon of appeal. But his doctrines led him to perceive the practical need of a diffusion of the Scriptures in modern English, and the reading of the English Bible became the distinctive practice of his sect. The Church, which permitted under special licence the use of vernacular versions to wealthy persons and to nuns, continued during the Fifteenth Century to deny its possession to the laity in general and to make possession of the Scriptures in English a charge against Lollards.[8]

Meanwhile a great disaster had befallen Wycliffism, which was in origin an Oxford movement The University, and even its officers, were to a large extent Wycliffe's partisans, at least in regard to many of his theses The monks and friars of Oxford were now solidly against him, but the secular clergy and undergraduates were largely on his side Archbishop Courtenay intervened in the quarrel, and with the help of the King overrode the liberties of the University and silenced or expelled the Wycliffites [1382] This purge, which had to be repeated in the reign of Henry IV, cut off Lollardry from its roots in the best culture of the day, and helped to turn it into a popular evangelicalism, hiding from authority and propagating it-

[8] On this question see Deanesly, *The Lollard Bible* (Cam Univ Press, 1920), in answer to Cardinal Gasquet's *The Old English Bible*.

self among the poor. Courtenay's suppression of the liberty of academic thought doomed the University to a hundred years of intellectual stagnation, in curious contrast to its great productivity in the relative freedom that it had enjoyed during the first two centuries of its existence. No single act had more to do with the barrenness of English mental and spiritual life in the Fifteenth Century.

Yet the dragooning of Oxford and Cambridge by the orthodox had one good side. It afforded an additional motive for the foundation and endowment of Colleges, because they were useful for secluding the students from heretical contagion.[9] The peculiarly English growth of the College system within the University made great strides in the period between William of Wykeham and Wolsey. The foundation by Henry VI of King's College, with its magnificent chapel, was one of the events that tended to bring Cambridge into prominence as a rival to the senior University. At the Reformation this famous rivalry became every day more marked.

Even after the intellectual roots of the Wycliffite movement had been cut by the hand of authority at Oxford, the influence of Wycliffe increased in the land till it was said, though with gross exaggeration, that every second man you met was a Lollard. Parts of Wycliffe's doctrines no doubt found favour with many who would have repudiated other parts. Thus in the reign of Henry IV the knights of shire in the Commons proposed that the King should seize the Temporalities of the Church to relieve taxation and the poor, and endow new lords and knights—the policy of Henry VIII. But they do not appear to have opposed the Statute *De Heretico Comburendo* [1401.] The Lollard movement was suppressed by persecution in the days of Henry IV and Henry V, who sought security for their questionable dynastic claims in the powerful support of the Church. Some heretics were burnt, more recanted under threat of burning. During the rest of the Fifteenth Century Lollardry survived underground in the towns and

[9] See page 244, above.

villages of England In the reigns of Henry VII and Henry VIII the recrudescence of this native heresy began to alarm the orthodox and to provoke a very active persecution, marked by many martyrdoms, before it became merged in the return wave of Protestantism from Luther's Germany. But every important aspect of the English Reformation was of native origin. All can be traced back as far as Wycliffe, and some much farther.

BOOKS FOR FURTHER READING: See notes pp 315, 319, above, on rural problems
Vickers, *England in the Later Middle Ages*, Kingsford, *Henry V*, Coulton, *Chaucer and his England*, Trevelyan, *England in the Age of Wycliffe*, Dean Rashdall's article in *Dict of Nat Biog* on Wycliffe, *The Lollard Bible*, Margaret Deanesly (Cambridge, 1920), especially Chap. IX.; R. Lane Poole, *Wycliffe and Movements for Reform*, Rev. H B. Workman, *John Wyclif* (Oxford Press, 1926).

CHAPTER EIGHT

Parliamentary Development from Edward III to Henry VI. Aristocratic Anarchy Some Aspects of English Life in the Later Middle Ages Wars of the Roses. The Yorkist Kings

KINGS Edward III, 1327–77, Richard II, 1377–99, Henry IV (Lancaster), 1399–1413, Henry V, 1413–22; Henry VI, 1422–61, Edward IV (York), 1461–83, Edward V, 1483, Richard III, 1483–85

Between the accession of Edward III and the deposition of Henry VI,[1] the English Parliament became fixed in its bicameral form, and acquired the outline of its modern procedure, while the House of Commons developed its financial and legislative powers and even asserted an occasional control over the executive by impeachment of Ministers before the Lords, and by insisting that redress of grievances should precede supply [1327–1461.] In all

[1] See pp 257–266, above, for Parliament under the first two Edwards.

these ways precedents were furnished for the future use of Stuart Parliaments, no less valid than the precedents of an opposite tenor quotable by royalist lawyers

But at the close of the Middle Ages the Lower House was not yet an independent power representing the chief political forces in the country, as it was under Charles I The mediæval nobility and the mediæval clergy stood between Commons and King, and dwarfed the stature of both The Lower House enjoyed, indeed, great influence in the State, but only on condition of becoming to a large extent the tool of rival factions among the nobility who were fighting each other for the control or possession of the Crown At the close of Edward III's reign, the 'good Parliament' of 1376 aided the triumph of the popular cause of the Black Prince and the Earl of March, and impeached their enemies, but the next year's Parliament was packed by the opposing faction of John of Gaunt Similarly in Richard II's reign [1377–99] the Commons had no consistent policy of their own, but were made the instrument of a series of State convulsions, contrived by the higher powers in deadly strife with one another In the following century the premature experiment in Parliamentary control of the executive ended in the aristocratic anarchy which we know as the Wars of the Roses

Before the Commons could aspire to take authority out of the hands of the King, an interlude was necessary of increased royal power under the Tudors, to strengthen the framework of the State and reduce the nobles and clergy to the level of other subjects But there was never any complete break in the forms or in the spirit of the 'mixed' English Constitution The most masterful of the Tudor monarchs used Parliament as the instrument of a revolution in Church and State which would, under the so-called 'Parliamentary' regime of the House of Lancaster, have been regarded as utterly beyond its competence The complex forms and the free spirit of English government persist from century to century with continuity in change.

The Hundred Years' War, following on the Welsh and Scot-

tish campaigns, rendered it more than ever impossible for the King to 'live of his own,' for in time of war the State expenses could not be met from the proceeds of the royal estates, law courts, feudal dues and other customary levies It was found increasingly convenient for all parties that the King should raise extraordinary taxation, not by bargaining with individual merchants, cities and counties, but by meeting their spokesmen in the national Parliament The voting of taxes on the wool trade, then the easiest way of collecting large sums in a hurry, gave to the burgher representatives a certain importance, in an age when they had no desire to meddle in affairs of State, or even, if they could help it, to attend Parliament at all The financial importance of the modest burghers increased the financial and political importance of the knights of the shire, at whose side they sat in the Westminster Chapter House.

The success of the warfare waged against France and the power of the Commons who voted the taxes depended upon one another, no less in the days of Sluys, Crecy and Agincourt than in the days of La Hogue, Blenheim and Waterloo. Only when the King bade fair to become ruler of France in good earnest did the Commons take momentary alarm at the prospect. what indeed would become of the liberties of England if her monarch ruled Western Europe from Paris? [1420] But the sudden death of Henry V and the career of Joan of Arc saved the British Constitution [2] [1422–29]

The mediæval English Parliament was not only a tax-voting and law-making assembly, it was also 'the High Court of Parliament,' charged with judicial functions, not all of them distinguishable in those days from its legislative powers The lawyers practising in Westminster Hall regarded the national assembly, so often held in their neigh-

[2] In 1420, when the French had acknowledged Henry V as heir to their throne, the English Commons withheld a money grant till the King returned from France, and called for a republication of the Statute of 1340, guarding against any subjection of the people of England to their King *quâ* King of France The danger was much greater in 1420 than in 1340

bourhood, as the greatest of all law courts, and were, for that reason, the more ready to assist its development The alliance of the common lawyers with the Parliament men can be traced back to Plantagenet times

The lawyer-like respect for precedent and procedure that has always characterized the House of Commons was a great strength to it from the first It began its life, not as a mere 'debating assembly,' but as part of the King's 'High Court' of Parliament, with the formality and the privilege of a law court By the help of the lawyers among them and around them, the knights of the shire learnt many indispensable arts, foremost among these the drawing up of well-drafted 'bills' ready to become Statutes, instead of mere petitions for redress This change seems to have begun towards the end of Henry VI's reign, and gave the Commons greater control over the Acts to which their assent was asked, and even some power of initiation Without the active help, continuous down the ages, of some of the best legal brains in the country, the House of Commons could never have become the principal source of legislation, nor have argued the constitutional case against the Crown lawyers and the royalist judges in the century of Coke, Selden and Somers

The early connection of the Inns of Court with the House of Commons increased a tendency, apparent in students of the English Common Law, to regard the King himself as subject to law, and not as the absolute monarch envisaged by the Roman Code and its students And so, at Richard II's deposition, it was formally imputed against him as a crime that he had declared the laws to be 'in his own breast,' and himself alone competent to frame and change them at will This issue was not finally decided until the revolution that drove James II from the throne, but a preliminary judgment was passed upon it when a similar fate befell Richard Plantagenet

These two revolutions [1399, 1688], separated by almost three centuries of time, have an extraordinary likeness in their constitutional, and to some extent in their personal and accidental circumstances, although the great religious

and international issues which make 1688 an era in European as well as English history were lacking in the quarrel between Richard and his subjects Three years before the event, neither revolution could have been prophesied by the keenest observer, without an exceptional inner knowledge of the King's character. In 1396 Richard, as in 1685 James, still had a tolerable public record, strong partisans and adequate popularity, and though each had bitter enemies, those enemies had been subdued Richard, indeed, had already governed well for half-a-dozen years, so long as his violent passions had been restrained by his affection for his first wife, Anne of Bohemia [3] But after her death some obscure psychological change destroyed his nerve and judgment, just as advancing years, sudden power, and religious fanaticism seemed to make another and a worse man of James.

Three years sufficed to unite against either monarch his old friends and his old foes. For each suddenly entered on a course of open tyranny; each, after packing Parliament in vain, tried to govern without it, each broke law on law, and finally frightened every freeholder in the country by depriving people of their estates, without pretence of right. 'Richard the Redeless' was not more bloodthirsty than the clique of domineering nobles whose power he had quelled in former years. But for ill-advisedness, not even the ejection of the Fellows of Magdalen by James surpassed Richard's seizure of the estates of the House of Lancaster, a family, till then, by no means inveterately hostile to his person The light-hearted folly of the act is heard in the jingle of Shakespeare's rhyming couplet.—

Think what you will we seize into our hands
His plate, his goods, his money and his lands

The return of Henry of Lancaster from abroad, claiming his paternal estates, rallied the whole country round him,

[3] It is supposed that some of her Bohemian (Czech) countrymen who came over with her, must have taken back copies of Wycliffe's works to Bohemia—with the result of the great Hussite movement there in the Fifteenth Century.

like the coming of William of Orange Richard, like James, made every possible mistake at the crisis, could get no one to fight for him, and was deposed by Parliament on the express ground that he had broken the fundamental laws of the Kingdom And Henry, like William, was called to the empty throne partly indeed by hereditary right, but yet more by Parliamentary title, for neither Henry IV nor William of Orange was the nearest heir.

The result of the Revolution of 1399 was to set the power of the two Houses of Parliament on ground at once higher and firmer than ever before. They had not only deposed a King—as had happened when Edward II was forced to yield the throne to his son—but this time they had chosen the successor The Lancastrian, like the Hanoverian Kings, ruled by Parliamentary title, and under them the power and privilege of both Houses must needs be respected.

It is not, therefore, surprising to find that the political theories of the Fifteenth and of the Eighteenth Centuries both lay great stress on the legal limitations of the Crown's power, and proudly contrast the freedom of the English subject to the slavery of the French Such was the constant theme of the contemporaries of Hogarth, Blackstone and Burke, and such, three hundred years earlier, was the boast of the typical common lawyer of the Fifteenth Century, Chief Justice Fortescue, a patriot who loved his country as being the land of liberty. Though he was driven into exile with the Lancastrian party after Towton [1461.], he sat down abroad to write the praises of the English constitution 'For the King of England,' he writes, 'cannot alter nor change the lawes of the Realme at his pleasure For why, hee governeth his people by power, not only royall, but politique'—'constitutional,' as we should say The spirit of the English Common Law, writes Fortescue, is repugnant to the theory of the Civil or Roman law, dominant in other countries, that 'The Prince his pleasure hath the force of a law.' He goes on to contrast, from personal observation, the misery of the French common people, continually robbed and insulted by the King's soldiers and servants, to the 'Realme of England, where no man

sojourneth in an other man's house without the love and the leave of the good man of the same house'—in other words, the Englishman's house is his castle

It is very remarkable that Fortescue should have used such language at the height of the Wars of the Roses, and the more so since he was bitterly conscious of what was wrong in contemporary England He diagnosed the 'lack of government,' tracing the evils of the day to their true source in 'the perils that come to the King from overmighty subjects,' and he demanded a richer and stronger monarchy and poorer and less powerful nobles He foreshadowed, in some detail, the policy actually carried out by Henry VII.

The great nobles and their satellite gentry, who disturbed the England of the Fifteenth Century with their lawless brawls, had at least accepted the fact of the unity of the national State They did not aspire to govern whole provinces with feudal or princely sway, like the French nobles whom it was the task of Louis XI to subdue after the final departure of the English invaders. In England the rival King-makers did not seek to destroy or divide the royal authority, but to control and exploit it. They did not even attempt to restore the now obsolete 'franchises' or private courts which de Warenne had so noisily maintained against Edward I's *Quo Warranto* enquiry.[4] The latter-day noble knew how to get what he wanted in the King's courts, by bribing and intimidating county jurors and royal Judges and Justices of the Peace. Indeed, the law-breakers often held the King's commission in the shires. The records of the period sometimes give a curious picture of a set of country gentlemen now enforcing the King's Peace and the Statutes of Labourers, now charged with robbery, piracy and murder, now sitting on the Bench, now sent to prison

While too many of the smaller gentry acted in this fashion in the country-side, their patrons and paymasters, the great nobles, were quarrelling with each other for the

[4] See pp. 256–57, above.

control of the central government, as the fount of power, honours and wealth The battlefield was the King's Council, where the executive power was lodged The nobles regarded the Council as a body representative of the forces in the State, or at least of the higher aristocracy, a sort of Parliament in permanent session, where each of the great lords had a personal right to sit whenever he felt so disposed. The King, on the other hand, regarded the Council as personal to himself, to be filled by whom he would, not necessarily by great nobles, under a foolish King this meant the rule of favourites, under a wise King the rule of trained, professional experts.

Conflict between the King's view and the nobles' view of what the Council should be, had often led to strife, particularly in the reign of Richard II. And in a sense Henry IV's wars with the Percys, Mortimer and Scrope [1402–5] had been fought on the same issue, complicated by Welsh and northern border problems, and by the dynastic question never wholly at rest But neither the royal nor the aristocratic theory as to the proper constitution of the Council had completely extinguished the other, for each had a solid basis in the actual needs and forces of that age Only during the long minority of Henry VI [1422–37] the Council inevitably fell into the hands of the great nobles, and when Henry grew to manhood he lacked ability and character to resume authority as Richard II had in like circumstances done. The personal feuds of the great nobles with each other for supremacy at the Council board and in the bedchamber continued as before, until at length they plunged the country into the Wars of the Roses [1455]

The weakness of the saintly Henry among the rival factions in the Council was translated into lawless violence in the countryside by the privileged clients of the great families. Parliament should have supplied a remedy, and strengthened the power of the King against the nobles But it did not even attempt the task In Henry VI's reign the mediæval House of Commons reached its highest point of constitutional privilege, but failed to use it for the

benefit of the nation There was no friction between Parliament and Council, because both were controlled by the same aristocratic cliques, whose only contests were against one another.

In 1430 an Act of Parliament took away the county franchise from the general body of freemen suitors in the Shire Court, and limited the right of voting for knights of the shire to the class of forty shilling freeholders So the letter of the law remained until the Reform Bill of 1832. But in Lancastrian times a freehold worth forty shillings a year was a much higher qualification than it became after the value of money had fallen. For some generations, therefore, the disfranchising law of 1430 excluded, as it was confessedly designed to exclude, almost everyone below the small gentry, and the result of a diminished county electorate was to increase the power of the great nobles over Parliament The House of Commons, in aristocratic leading strings, was getting ever more out of touch with the people, while driving the theory of Parliamentary government to extremes in an age too soon Because the nobles could use the House of Commons for their purposes, they were not jealous of its growth Here again, we find a parallel, in certain respects, to the Eighteenth Century, when the power and prestige of the House of Commons were on the increase, at the very time that it was becoming an aristocratic assembly on the basis of a franchise tending to become rather less than more popular.

It is significant that the last of the English were driven out of France in 1453 and that the Wars of the Roses began only two years later in the streets of St. Albans. The return of the garrisons and armies from oversea filled England with knights and archers, accustomed to war, licence and plunder, and fit for any mischief. The unemployed and starving veteran was dangerous enough, but yet more dangerous was the 'company' of warriors in private employment, kept together by its paymaster when

the French war was over, to further his political ambitions or his designs upon his neighbours' estates [5]

Nor was the Hundred Years' War injurious to English society only when it came to an end. Throughout its whole course it had bred habits of lawlessness and violence at home The Parliaments of Edward III had complained of estate-jumping, carrying off of heiresses and breach of the peace by gentlemen and their retainers as a new and growing evil And to the influence of the foreign campaigns must be added the older and more permanent influence of the Welsh and Scottish Borders, where the Marcher Lords in their castles, like Mortimer in Wigmore and Percy in Alnwick, lived constantly under arms, preserving the feudal customs and spirit that had disappeared from the more civilized South and East. Wales and the North between them caused the troubles under Henry IV, and the Wars of the Roses were to a large extent a quarrel between Welsh Marcher Lords, who were also great English nobles, closely related to the English throne.[6]

A characteristic feature of this revival of anarchy in a civilized society was the combination of legal chicanery with military violence. It was an age of litigation tempered by house-breaking In Stephen's reign the barbarous Barons had had no need to be lawyers, but under Henry VI every ambitious noble, and every country gentleman who aspired to found the fortunes of his family, was well versed in the processes of law as well as in the siegecraft of forcible entry into a moated manor-house Such a man kept in his pay not only archers but lawyers and jurymen. The correspondence of the Paston family has made us familiar with the type in reality, and Stevenson's Sir Daniel Brackley in fiction. The law-breakers were often Justices of the Peace, and some of the worst 'ambushes' were committed by royal judges and by nobles high in office. The operations of purely private war were some-

[5] See p 302, above, for the 'companies' in the Hundred Years' War, who now became the 'retainers' at home

[6] See p. 283, above.

EMERY WALKER LTD. SC

Map 16 England in the Fifteenth Century

times on a scale that matched the more regular dynastic struggle In 1469 a dispute over Sir John Fastolf's will led to a five weeks' siege of Caister Castle by the Duke of

Norfolk with 3000 men, finally ended by cannon to breach the walls—and this in East Anglia, the richest and most settled part of the island

Juries were as regularly intimidated in Fifteenth Century England as in Nineteenth Century Ireland 'Maintenance' was the recognized duty of the great man to protect his client in the King's courts from the consequences of illegal action, and since the English courts already insisted on the unanimity of the twelve jurymen, it was seldom possible to get verdicts against the friend of a great man Maitland has expressed the opinion that more injustice was done at this period by wrongful acquittals than by wrongful condemnations The subsequent Tudor practice of making jurors answer for their verdicts before the King's Council, though incompatible with the full freedom of the subject, was at one time regarded as a much needed reform At the outbreak of the Wars of the Roses the grievances of quiet people were summed up in these rude verses —

In every shire with jacks and salads[7] clean
Misrule doth rise and maketh neighbours war.
The weaker goeth beneath, as oft is seen,
The mightiest his quarrell will prefer.

They kill your men alway one by one,
And who say aught he shall be beat doubtless.
For in your realm Justice of Peace be none
That dare aught now the contesters oppress.

The law is like unto a Welshman's hose,
To each man's legs that shapen is and meet;
So maintainers subvert it and transpose
Through might it is full low laid under feet.

What are we to think of this outbreak of savage wrongdoing in the highest ranks of a society so far emerged from feudal barbarism, and artistically so much the superior of our own in the arts and crafts of daily life? But contrast is the essence of social history, and particularly of mediæval history. We think of the Fifteenth Century as the era of chivalry for did not its knights wear the

[7] Cuirasses and helmets.

plate armour in which modern artists depict Sir Galahad with his pure, schoolboy face, and was it not the century when Sir Thomas Malory produced his 'Morte Arthur'? [1470] But the actual contemporaries of Malory would, at close quarters, have seemed to us singularly deficient in 'chivalry' according to modern notions. It was not that in England 'chivalry' any longer looked with unmitigated scorn on burgher and villein, as it still did in the yet more 'chivalrous' society of France and Flanders recorded by Chastellain. Peasant emancipation, burgher wealth and the prudent mixing and intermarriage of all the well-to-do classes were in England tending to fill up the chasm that elsewhere divided the gentles from common folk. But 'chivalry' was, in England as elsewhere, compatible with brutal violence and calculating materialism, not least in the treatment of women

Wife-beating was a recognized right of man, and was practised without shame by high as well as low The woman's defence was her tongue, sometimes giving her the mastery in the household, but often leading to muscular retort. One of the Fifteenth Century English translations of the fashionable manual of the Knight of La Tour Landry thus describes the proper treatment of a scolding wife:—

> He smote her with his fist down to the earth. And then with his foot he struck her in the visage and brake her nose, and all her life after she had her nose crooked that she might not for shame show her visage it was so foul blemished. . . . Therefore the wife ought to suffer and let the husband have the word, and to be master.

Similarly, the daughter who refused to marry the gentleman of her parents' choice was liable to be locked up, beaten and flung about the room, without any shock being inflicted on public opinion [8] Marriage was not an

[8] Locking up a daughter to force her to a loathed match was not impossible in squires' families as late as the middle of the Eighteenth Century, as we know from Squire Western's proceedings in the case of a daughter to whom he was much attached. A Fifteenth Century Squire Western would have beaten Sophia into the bargain.

affair of personal affection but of family avarice, particularly in the 'chivalrous' upper classes. 'For very need,' complains a member of the noble family of Scrope, 'I was fain to sell a little daughter I have, for much less than I should have done by possibility.' Betrothal often took place while one or both of the parties was in the cradle, and marriage when they were scarcely out of the nurse's charge It was sometimes difficult to get a little fellow to say the necessary words of the ceremony, before running back to his toys.

The elaborate literature of love, French in origin, of which Chaucer's *Troilus and Cresseyde* was the finest flower, was concerned with marriage principally as a disturber thereof, though the old ruling of the Court of Love 'that no married pair can really be in love with each other' admitted in the world of reality of countless exceptions. And, indeed, Chaucer, who saw human nature not merely through the stained glass of literature, has drawn in his *Franklin's Tale* a beautiful picture of wedded faith and love alongside of the professional 'lover's' torments. And though child-marriage and forced marriage were accursed customs, there were cases of young people successfully defying the heartless plans of their elders, even in the prosaic society of the Pastons. Side by side with the violence and materialism of mediæval life, there was much also of the 'good nature and integrity of the English people' which was not a thing of yesterday.

Civilization and knowledge were all the while encroaching on the realm of ignorance. For although Oxford in the Fifteenth Century decayed in intellectual vigour prior to the blossoming of the New Learning, the end of the Middle Ages was a great period for the foundation of schools, besides William of Wykeham's Winchester and Henry VI's Eton Guilds and private persons were constantly endowing chantries with priests to say masses for souls, and schools were often attached to them Other schools were being founded on an independent basis, sometimes with lay headmasters. All this was over and above the Collegiate, Cathedral and parish church schools of earlier foundation.

Reading and writing, therefore, had quite ceased, in the days of York and Lancaster, to be the monopoly of the clergy. Not only the merchants but the bailiffs of manors kept good accounts and often wrote tolerable Latin in their business documents. Members of landed families like the Pastons corresponded with one another by letters written in their own hands, usually on legal or other business or to convey political news.

For several generations after Chaucer's death in 1400, English literature remained under Chaucer's domination. The chief poets were of his school, and in the latter part of the century Caxton made haste to print him for a public that could not get enough copies of him in manuscript.

The works of Chaucer and his numerous imitators expressed to the satisfaction of the society of that age its delicate sense of the beauty of natural sights and sounds in the orchards and artificial gardens where it passed so many hours of dalliance, or in the wild wood beyond. To-day we like our gardens and parks to appear wild, because we have so terribly tamed the land outside, but from the Fifteenth to the early Eighteenth Centuries they liked artificial gardens because they had so much of wild nature elsewhere, in which their souls rejoiced no less than in the gardens. The song of birds, the run of water, the flowers in bloom and the woods in leaf gave those country-dwellers a joy of which they were fully conscious. It is in nature that the lover seeks ease from his 'love-longing'.—

And the river that I sate upon
It made such a noise as it ron,
Accordaunt with the birdes' armony
Me thought it was the best melody
That might ben heard of any mon.

The medicine recommended for the wounds of despised love is—

Go looke on the fresh daisie!

Or again—

A wind, so small it scarcely might be less,
Made in the leaves green a noise soft,
Accordant to the fowles song aloft.

The beauty of the domestic architecture of the manor-houses, then coming to perfection in stone or the new-fangled brick, the artistic merit and originality in dress, furniture and articles of common use for farm, barn and household, enriched life with joys that have disappeared from it, both for the craftsman who created and the owner who used his creation. Altogether a marvellous place was England at the end of the Middle Ages, so full of what we have lost, so empty of what we now have, and yet, as Chaucer and the Pastons have written and shown us, so English and so like us all the while.

[1455.] When the Wars of the Roses at length broke out in form, no question of principle or even of class interest was involved in the quarrel between Lancaster and York. It was a faction fight between the families allied to the royal house, contending for power and wealth and ultimately for the possession of the Crown. On each side was ranged a group of great nobles. And each noble had his *clientèle* of knights, gentry, led captains, lawyers and clergy, some attached to his person, some living in distant manors, but all conscious that their fortunes were involved in the rise or fall of their 'good lord.' Changing of sides was more frequent in this civil war than in others, because there was no principle to desert. The mass of the people looked on with indifference, the towns and villages only bargaining that they should, as far as possible, be spared the horrors of war. Even London, for once, remained neuter in the civil strife convulsing England. In return, the armies were much less destructive than in France, because their chiefs knew well that if the neutrals were roused by ill treatment they could soon dispose of the few thousand partisan soldiers, who scoured the country in hot pursuit of one another from Plymouth to the foot of the Cheviots, making and unmaking the short-lived fortunes of Lancaster and York. So in spite of the wars, which were at the worst intermittent, the neutral majority suffered little, and trade followed its usual course along the rivers and riding tracks

with not much more than the usual amount of disturbance from highwaymen and water-thieves [9]

But the actual combatants suffered severely. The fighting nobles were savage in their treatment of one another There were many sudden turns of fortune's wheel, and each meant a fresh confiscation of great estates, and a new batch of noble heads for the block, over and above the heavy proportion of leaders killed upon the field of battle. The Crown was enriched by these confiscations and the nobles were impoverished, while their numbers, never great, were much reduced. The way was thus prepared for the Tudor policy of bridling 'overmighty subjects' The Wars of the Roses were a bleeding operation performed by the nobility upon their own body. To the nation it was a blessing in disguise.

The hosts engaged in battles like Towton, Barnet and Tewkesbury were partly professional mercenaries, partly friends and tenants hastily called out; they were serving under private paymasters, at whose behest they marched under the banner of York or Lancaster The tactics were those employed by the same leaders in the recent French war Cavalry fighting was the exception rather than the rule, the normal soldier being a mounted infantryman Cannon and the new hand-guns were sometimes used in the field, but the longbow was still the lord of weapons. The archer still fought on foot, in line beside the knight. But the battles had not the same character as Crecy or

[9] In the Middle Ages roads were little more than riding-ways, but rivers were deeper and more navigable than now. York, Lincoln, Doncaster and other inland towns depended on the water for their trade As early as the Fourteenth Century, London consumed coal as its normal fuel, because it could come by sea from Tyneside The traders of the English towns had a great interest in keeping the rivers on which they stood open to barges, by removing weirs and bridges that impeded traffic Partly for this reason fords or ferries were preferred to bridges even when, as seldom happened, money was available to build a bridge. In the Middle Ages to travel by land meant to walk or ride, and to cross a stream or river meant to splash through a ford or to hail the ferryman

Agincourt, because in England there was little to choose between the archery on the two sides, and rather than stand long under the arrow-storm, men came as soon as possible to close quarters and hacked out a decision with sword and bill.

The figure that rose victorious from the murderous mêlée of the Wars of the Roses was Edward IV, [1461–83] heir of the House of York, the best soldier produced by those rough-and-tumble campaigns. The battle of Towton, fought in a blinding Yorkshire snowstorm, placed him on the throne. He was the first English Prince of the Renaissance type, so familiar to us in Louis XI of France and the Tudor Henrys, though Edward was too lazy and self-indulgent to have served Machiavelli for a perfect model

These faults once cost him dear Warwick the King-maker, of the great House of Neville, type of the noblemen who were England's bane, had done much to set Edward on the throne of the incompetent saint of Lancaster. [1461] Ten years later, in a fit of jealousy for unrewarded service, analogous to the jealousy of the Percys against Henry IV, Warwick dragged Henry VI out of the Tower and made him King once more [1471.] But in the campaign of Barnet and Tewkesbury the luxurious Edward showed that when aroused he was still the better soldier. The deaths of Warwick and of Henry VI and his son were the results of the affair, leaving the House of York firmer than ever on the throne, whence nothing could have dislodged it but its own intestine broils and treacheries.

Edward IV's policy was a faulty and incomplete rehearsal of the policy afterwards pursued by Henry VII Edward had no desire for 'overmighty subjects' in his kingdom, least of all on the steps of the throne. His own brother, 'false, fleeting, perjured Clarence,' soon followed Warwick to the further shore of the Styx, where the shades of England's noble and royal families were collecting in troops. And since Edward had made good his claim rather by conquest than by Parliamentary title, he had not the Lancastrian respect for Parliament, nor is there any evidence

that people thought the worse of his rule for that It was, indeed, a dangerous moment for Parliamentary institutions. Edward seldom summoned the Houses, and he began to rely less on taxes voted by the Commons and more on carefully modulated 'benevolences' or forced gifts from individual subjects.

A chief instrument of aristocratic power under Henry VI had been the King's Council [10] It was, therefore, in little favour with Edward IV until in the latter part of his reign he saw reason to revive it as the instrument of the King's personal rule, a policy carried much further by the Tudors after him.

Edward had less inclination to the society of the great nobles than to that of the merchant princes of the rising plutocracy London, 'the flower of cities all' as it was now becoming in the whole world's esteem, was growing in wealth and outward beauty and inward intelligence, while the nobles were cutting each other's throats and the Church was losing its moral and intellectual leadership. The monastic scribes could no longer meet the nation's needs, and indeed the abbey chronicles were growing more meagre than of old. A new class of 'scriveners' or 'stationers' copied books in an attempt to keep level with the growing public demand for poetry of the school of Chaucer, and for chronicles, histories and other works in prose In these circumstances the setting up under Edward IV's patronage of Caxton's printing-press at Westminster was perhaps the greatest English event of the century. Edward, who wanted the money and liked the company of intellectual men and sprightly women, both from policy and choice lived much with the great citizens of London and their wives.

But with all this Princecraft of the modern order, Edward IV failed to establish the King's Peace in the counties, and to 'bridle stout noblemen and gentlemen' That great work was left to the Star Chamber of Henry VII No effective plan for strengthening the executive in the enforce-

[10] See p 337, above.

ment of order was conceived by the House of York Private war, maintenance, and estate-jumping flourished only a little less after Towton and Tewkesbury than while Henry VI still sat on the throne Moreover, Edward IV, instead of being content to govern through a professional civil service of clergy, lawyers, bourgeois and gentry, made the mistake of raising up his wife's relations, the Woodvilles and Greys, as parvenu nobles

On Edward's death [1483], the jealousy felt by the remnant of the old nobility against the upstart Woodvilles and Greys, enabled Edward's brother, Richard Duke of Gloucester, to usurp the throne. Edward V was a child, and his mother and her relations were odious to the nobles and not popular with the nation. This intestine feud was the ruin of the House of York Richard was no monster born, there is no clear evidence that he was more responsible for the deaths of Henry VI and Clarence than the rest of the Yorkist party, nor, prior to his usurpation of the throne, was his record as treacherous as that of his brother Clarence or as bloody as that of his brother Edward But the glittering bait of the crown ensnared his soul. he murdered his two nephews under trust, and the disappearance of the Princes in the Tower, following on the violence of the usurpation, lost him the loyalty of the common people. [1483] The English had not been wholly debased by the wars and murderings of their ruling class, and the revulsion of feeling against Richard was the beginning of better things

The claimants to the reversion of the throne, Yorkist and Lancastrian alike, had disappeared so fast in the battles and executions of twenty-five years that, on the death of Edward V, a Welsh gentleman named Henry Tudor, Earl of Richmond, was able to put up a very respectable case for himself on the Lancastrian side. After the custom of opposition leaders in those brisk times, he had sought refuge abroad, first in the Court of Brittany, then in France. Taking advantage of the unpopularity of the child-murderer, he landed with a slender and untrustworthy force, at Milford Haven, on the coast of his native Wales The

racial enthusiasm of the Welsh for a descendant of their ancient British Princes,—marching, as Henry was careful to march, under the red-dragon standard of Cadwallader,—broke out into prophecy and song, and enabled him to raise in little more than a week a small army of zealous supporters as he traversed that ever warlike land. They, with the help of a few French and English adventurers, won Bosworth Field [AUG 22, 1485] against a King for whom the mass of his English subjects were ashamed to fight Here, indeed, was one of fortune's freaks, on a bare Leicestershire upland, a few thousand men in close conflict foot to foot, while a few thousand more stood aside to watch the issue, sufficed to set upon the throne of England the greatest of all her royal lines, that should guide her through a century of change down new and larger streams of destiny, undreamt of by any man who plied bow and bill that day in the old-world quarrel of York and Lancaster.

BOOKS FOR FURTHER READING. C. L Kingsford, *Prejudice and Promise in 15th Century England* (Ford lectures, 1925), James Gairdner, *Richard III*, Sir James H. Ramsay, *Lancaster and York*, 2 vols, Vickers and other works already mentioned, pp. 206 and 330, above, Stubbs, *Const. Hist. of England*, Vol. III, Chrimes, *English Constitutional Ideas in the 15th Century*, 1936.

INDEX